अर्थशास्त्र
के
आधुनिक सिद्धान्त

लेखक

पी० सी० जैन, एम. ए., एम. एस-सी. (इकान०) लन्दन

अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

१९६४

चैतन्य पब्लिशिंग हाउस

५-ए, यूनीवर्सिटी रोड, इलाहाबाद-२

मेरे माता-पिता

लाला रामस्वरूप जैन

तथा

स्वर्गीय श्रीमती चमेली देवी

को समर्पित

विषय सूची

अध्याय | | पृष्ठ

मुद्रा एवं बैंकिंग

विदेशी विनिमय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

राजवित्त

रोजगार एवं व्यापार चक्र

अध्याय पृष्ठ

आर्थिक पद्धति एवं नियोजन

अध्याय १

मुद्रा का अर्थ तथा महत्व

(Meaning and Significance of Money)

मुद्रा की परिभाषा. वैसे तो सामान्यतः हम जानते हैं कि मुद्रा क्या है। परन्तु मुद्रा की एक परिग्राही (comprehensive) तथा लाभदायक परिभाषा देना अत्यन्त कठिन कार्य है क्योंकि मुद्रा की प्रकृति भ्रान्तिजनक तथा इसके कार्य जटिल होते हैं। फिर भी मुद्रा की कुछ परिभाषायें उपलब्ध हैं। शब्दकोष के अर्थ के अनुसार मुद्रा वाणिज्य में प्रयुक्त अंकित (stamped) धातुओं के टुकड़ों अथवा उसी प्रकार से प्रयुक्त कोई दूसरे चलन (currency), अर्थात धन, को कहते हैं। परन्तु शब्दकोष का अर्थ हमें यह नहीं बतलाता कि मुद्रा की प्रकृति तथा उद्देश्य क्या हैं। एक परिभाषा के अनुसार 'कोई भी वस्तु जो सामान्यतः विनिमय के माध्यम के रूप में स्वीकार की जाती है तथा जो राष्ट्र के लेखा की इकाई (unit of account) के रूप में व्यक्त की जाती है, मुद्रा कहलाती है'। एक दूसरी परिभाषा के अनुसार 'मुद्रा विनिमय तथा भुगतान के उन सभी साधनों को कहते हैं जिन्हें ऋणों के भुगतान में विधानतः स्वीकार करना होता है'। मुद्रा की परिग्राही तथा व्यापक परिभाषा देने के प्रयास करने से कोई महत्वपूर्ण परिणाम नहीं निकलेगा क्योंकि चाहे हम कितना ही प्रयत्न क्यों न करें मुद्रा की एक सर्वमान्य तथा सम्पूर्ण परिभाषा देना सम्भव नहीं है। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'मुद्रा वही है जो मुद्रा कार्य करती है'।

फिर भी मुद्रा की दो प्रमुख विशेषताओं को तो बतलाया ही जा सकता है। मुद्रा की पहली विशेषता है इसकी सामान्य स्वीकृति। सावरेन सदृश पूर्ण मुद्रा (full-bodied money) को तो लोग सामान्यतः मूल्य के भुगतान तथा ऋण शोधन करने के लिए स्वीकार कर लेते थे क्योंकि इस सिक्के का वास्तविक मूल्य उसके अंकित मूल्य के बराबर रहता था। परन्तु आधुनिक युग में मुद्रा अधिकाँशतः सांकेतिक होती है, जैसे भारतीय रुपया तथा कागजी मुद्रायें जिनका वास्तविक मूल्य उनके अंकित मूल्य से बहुत कम होता है। लोग इसे इसके वास्तविक मूल्य के कारण नहीं स्वीकार करते वरन् सरकार के आदेश के कारण। कोई भी व्यक्ति यदि सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक के द्वारा चलाये गए

कागजी मुद्राओं तथा अन्य सिक्कों को स्वीकार नहीं करता तो उसको सज़ा हो सकती है। अतः मुद्रा की सामान्य स्वीकृति राज्य की सत्ता पर आधारित है।

मुद्रा की दूसरी विशेषता यह नहीं है कि इसका मूल्य स्थिर होता है परन्तु यह है कि एक इकाई मुद्रा का मूल्य सदा एक रहता है। "लेखा की इकाई के रूप में मुद्रा को अन्य वस्तुओं से इस प्रकार पृथक् कर सकते हैं कि इसका (मुद्रा का) मूल्य परिवर्तित नहीं हो सकता, इसका मूल्य सदा एक ही होता है। इसके विपरीत, वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन स्वतन्त्र रूप में सदैव होते रहते हैं। अतः मूल्य-परिदृढ़ता (price rigidity) मुद्रा की एक प्रमुख विशेषता है।" मुद्रा की माँग मुद्रा के लिए नहीं की जाती वरन् मुद्रा की माँग इसलिए की जाती है कि इसके द्वारा वस्तुओं तथा सेवाओं को खरीदा जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि किसी व्यक्ति के पास मुद्रा है तो वह जिस प्रकार की वस्तुयें तथा सेवाएँ चाहे खरीद सकता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि मुद्रा की एक निश्चित मात्रा से वह सदा वस्तुओं और सेवाओं की एक निश्चित मात्रा ही खरीद सकता है। यदि एक घड़ी का मूल्य सौ रुपया है तब एक व्यक्ति घड़ी उसी समय खरीद सकता है जब उसके पास सौ रुपया हो तथा साथ-साथ उसकी घड़ी खरीदने की इच्छा भी हो। परन्तु यदि घड़ी का मूल्य घटकर पचास रुपया हो जाता है तब उतने ही (सौ रुपये) में वह व्यक्ति दो घड़ियों को खरीद सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में कमी होने के साथ-साथ मुद्रा के अर्घ में वृद्धि होती है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मुद्रा का अर्घ स्थिर नहीं रहता, वरन् एक रुपये का 'मूल्य' जो सदा एक रहता है, भविष्य में एक ही रहेगा। चूँकि एक मूल्य को दूसरे मूल्य के रूप में व्यक्त किया जाता है, इसलिए हम उस समय तक नहीं बतला सकते कि घड़ी का मूल्य सौ रुपया है अथवा पचास जब तक रुपये का मूल्य स्थिर न हो। यह विशेषता अन्य किसी वस्तु की नहीं होती क्योंकि मुद्रा के रूप में अन्य वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में सदा परिवर्तन होता रहता है।

भारतवर्ष में मुद्रा के अन्तर्गत रुपया, आधे रुपये, तथा अन्य सिक्के, एक रुपये का नोट, दो, पांच तथा अन्य ऊँचे नोट और बैंक जमा (bank deposits) आते हैं। बैंक जमा को हस्तान्तरित चैक, बैंक ड्राफ्ट, अथवा विनिमय पत्र (bills of exchange) इत्यादि के द्वारा किया जा सकता है। ये सब साख के उपकरण (instruments) हैं। 'बैंक जमा' भी उसी रूप में मुद्रा है जिस रूप में रुपया तथा अन्य सिक्के, क्योंकि 'बैंक जमा' का भी प्रयोग ऋणों के भुगतान तथा अन्य कार्यों के लिए किया जा सकता है। चूँकि रुपये,

नोट तथा अन्य सिक्के (एक निश्चित मात्रा तक) विधि ग्राह्य (legal tender) होते हैं अतः ये सदा मुद्रा कहे जाते हैं। परन्तु बैंक जमा को हम उसी सीमा तक मुद्रा कह सकते हैं जिस सीमा तक लोग उसे साख के उपकरण चैक तथा बैंक ड्राफ्ट के रूप में स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत रहते हैं। कुछ स्थितियों में सहकारी गोदाम तथा संघ कूपन भी प्रदान करते हैं जिससे व्यक्ति दूध या अन्य सामान खरीद सकता है। सहकारी समिति तथा ग्राहकों के सीमित क्षेत्र के अन्तर्गत ये कूपन भी मुद्रा की विशेषता ग्रहण कर लेते हैं, तथा हम इन्हें मुद्रा भी कह सकते हैं। परन्तु यदि हम पूरे समाज के दृष्टिकोण से विचार करे तब हम केवल रुपये, सिक्कों, नोटों तथा बैंक जमा (केवल सीमित अर्थ में) को ही मुद्रा कह सकते हैं।

मुद्रा का वर्गीकरण

मुद्रा का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। वर्गीकरण का प्रमुख उद्देश्य विभिन्न प्रकार की मुद्राओं को स्पष्ट रूप से बतलाना है। अतः मुद्रा के विभिन्न वर्गीकरणों पर विचार करने के स्थान पर हम इस सम्बन्ध में प्रयुक्त विभिन्न शब्दों पर विचार करेंगे क्योंकि इससे मुद्रा के सम्भावित प्रकारों के बारे में अधिक स्पष्ट तथा व्यापक जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

लेखा-मुद्रा (Money of account). "लेखा-मुद्रा विवरण या अधिकार पत्र (title) को कहते हैं तथा मुद्रा उस विवरण पत्र का वास्तविक तथा व्यवहारिक रूप है।" अतः लेखा-मुद्रा वह है जिससे सभी मूल्य व्यक्त तथा सभी ऋण भुगतान किये जाते हैं। भारतवर्ष में रुपया उसी रूप में लेखा की मुद्रा है जिस रूप में अमेरिका में डालर तथा इंग्लैंड में पौंड स्टर्लिंग। केवल सभी वस्तुओं का मूल्य तथा सभी ऋणों एवं उत्तरदायित्वों को ही लेखा की मुद्रा के रूप में व्यक्त नहीं किया जाता वरन् अन्य सभी प्रकार की मुद्राओं का मूल्य भी 'लेखा की मुद्रा' के रूप में व्यक्त किया जाता है। उदाहरण के लिये किसी व्यक्ति की बैंक जमा को भी लेखा की मुद्रा के रूप में व्यक्त किया जाता है। 'लेखा की मुद्रा' अमूर्त (abstract) होती है तथा मुद्रा, जो इसका वास्तविक रूप है, मूर्त वस्तु होती है। भारत में रुपये के अमूर्त रूप को हम लेखा की मुद्रा कहते हैं तथा एक रुपये का सिक्का इस अमूर्त विचार को मूर्त तथा सदृश्य रूप में प्रकट करता है।

वास्तविक मुद्रा, राजकीय मुद्रा या सामान्य मुद्रा (Proper Money, State Money or Common Money). भारतवर्ष में इसके अन्तर्गत रुपये तथा अन्य सिक्के और रिजर्व बैंक द्वारा निकाले गये नोट सम्मिलित

हैं। इन्हें राज्य की सहायता तथा स्वीकृति प्राप्त रहती है । इसके विपरीत बैंक मुद्रा को राज्य की सहायता तथा स्वीकृति नहीं प्राप्त होती। बैंक मुद्रा तो लोगों के विश्वास के कारण स्वीकार की जाती है। जिस सीमा तक उसे स्वीकार कर लिया जाता है उस सीमा तक उसमें तथा राजकीय मुद्रा में कोई भेद नहीं रहता।

प्रमाणिक मुद्रा (Standard Money). न केवल सभी वस्तुओं और सेवाओं को वरन् सभी अन्य प्रकार की मुद्राओं के मूल्य को प्रमाणिक मुद्रा के रूप में व्यक्त किया जाता है । भारत में प्रमाणिक मुद्रा रुपया है तथा न केवल सभी वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य को वरन् सभी अन्य प्रकार की मुद्राओं जैसे दो रुपये का नोट, पाँच रुपये का नोट इत्यादि का भी मूल्य रुपये में व्यक्त किया जाता है । इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रमाणिक मुद्रा में ही मौद्रिक प्राधिकारी को भी अपने सभी उत्तरदायित्वों—परिवर्तनशील मुद्रा को परिवर्तित करने का उत्तरदायित्व भी—का निर्वाह तथा भुगतान करना पड़ता है । इसका अर्थ यह हुआ कि भारत के रिजर्व बैंक को भी रुपये का सिक्का या इसके प्रतिरूप रुपये के नोट को दो, पांच, दस या इसके ऊँचे मूल्य के नोटों के बदले में प्रदान करना पड़ेगा। चूँकि रुपये का सिक्का प्रमाणिक मुद्रा है, अतः रिजर्व बैंक रुपये को किसी अन्य अच्छी वस्तु में परिवर्तित करने के लिए बाध्य नहीं है।

विधि ग्राह्य (Legal tender). पूर्ण या असीमित विधि ग्राह्य मुद्रा—यथा भारतीय नोट—उसे कहते हैं जिसे ऋणों के पूर्ण भुगतान तथा अन्य उत्तरदायित्वों के निर्वाह के लिए विधानतः बिना किसी संकोच के स्वीकार करना पड़ता है। दो, पाँच तथा दस रुपये के नोट सदृश परिवर्तनीय विधि ग्राह्य मुद्राएं पूर्ण विधि ग्राह्य होती हैं परन्तु यदि कोई व्यक्ति चाहे तो उन्हें एक रुपये के सिक्कों या नोट में बदल सकता है। सीमित विधि ग्राह्य अथवा सहायक मुद्रा उसे कहते हैं जो ऋणों के भुगतान तथा अन्य उत्तरदायित्वों के लिए एक निश्चित सीमा तक स्वीकार की जाती है जैसे भारत में ८ आने, ४ आने तथा अन्य सिक्के जो केवल सीमित मात्रा तक ही स्वीकार किए जाते हैं ।

धात्विक मुद्रा (Metallic money). धात्विक मुद्रा—यथा सावरेन या भारतीय रुपया—किसी धातु की बनी होती है, जब कि कागजी मुद्रा या नोट कागज पर छपी होती है। इस सम्बन्ध में हमें वस्तु मुद्रा या पूर्ण मुद्रा जिसका वास्तविक मूल्य उसके अंकित मूल्य के बराबर होता है—यथा सावरेन—तथा सांकेतिक मुद्रा (token money), जिसके अंकित मूल्य तथा वास्तविक मूल्य में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता, में भी भेद कर लेना चाहिए।

प्रतिनिधि मुद्रा. इससे तात्पर्य उन करेन्सी नोटों से होता है जिन्हें पूर्ण मुद्रा में परिर्वतित किया जा सकता है। यहाँ पर हमें व्यवस्थित मुद्रा तथा प्रादिष्ट मुद्रा (fiat money) में भी अन्तर स्पष्ट कर लेना चाहिए। व्यवस्थित मुद्रा भी सांकेतिक मुद्रा होती है तथा इसके वास्तविक और अंकित मूल्य में भी कोई सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु व्यवस्थित मुद्रा को अन्य बहुमूल्य धातुओं में परिर्वतित करने का दायित्व राज्य लेता है, अतः व्यवहारिक दृष्टिकोण से यह वस्तु मुद्रा के ही सदृश है। परन्तु प्रादिष्ट मुद्रा का अंकित मूल्य किसी अन्य बहुमूल्य पदार्थ के साथ सम्बद्ध नहीं किया जाता तथा इसमें परिवर्तन मांग और पूर्ति के अनुसार होता रहता है।

जब भारत में स्वर्ण विनिमय मान था तब भारतीय रुपया सांकेतिक मुद्रा थी परन्तु इसका मूल्य अप्रत्यक्ष रूप में स्वर्ण के साथ निश्चित था। यदि कोई व्यक्ति भारतीय रुपये को स्वर्ण में बदलना चाहता था तो वह पहिले रुपये को स्टर्लिङ्ग (एक निश्चित मात्रा) में तथा फिर स्टर्लिङ्ग को सोने में बदल सकता था। परन्तु अब भारत में स्वर्ण विनिमय मान या अन्य कोई धात्विक मान नहीं है तथा भारतीय रुपया न केवल सांकेतिक मुद्रा है वरन् प्रादिष्ट मुद्रा भी। भारतीय चलन के मूल्य का निर्धारण उसके धात्विक मात्रा (metallic contents) के आधार पर नहीं होता वरन् उसकी माँग और पूर्ति के आधार पर होता है। यदि भारत में चलन की पूर्ति माँग की अपेक्षा बढ़ जाती है (वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति) तब सामान्य मूल्य स्तर में वृद्धि हो जायेगी तथा उसी सीमा तक मुद्रा के मूल्य में कमी हो जायेगी। इसके विपरीत यदि मुद्रा की माँग (अर्थात् वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति) उसकी पूर्ति की अपेक्षा बढ़ जाती है तब सामान्य मूल्य-स्तर में कमी हो जायेगी तथा उसी सीमा तक मुद्रा के मूल्य में वृद्धि हो जायेगी।

मुद्रा के कार्य

आधुनिक आर्थिक व्यवस्था में मुद्रा के महत्व को उसके द्वारा किए गये कार्यों द्वारा ही ठीक-ठीक समझा जा सकता है।

"मुद्रा करती है कार्य चार
साधन, मापक, प्रमाप, भण्डार"

मूल्य का मान. वस्तु विनिमय आर्थिक व्यवस्था की अनेक कठिनाइयों में से एक कठिनाई मूल्य के सामान्य मापक की कमी थी। मुद्रा एक सामान्य मापक प्रदान करती है। सभी वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य तथा अन्य सभी प्रकार की

मुद्राओं का मूल्य प्रमाणिक मुद्रा के रूप में व्यक्त किया जाता है जो भारत में रुपया है। जब हम यह कहते हैं कि एक कैमरा की कीमत सौ रुपये तथा एक घड़ी की कीमत दो सौ रुपये है तब हम इन वस्तुओं के ही मूल्य को व्यक्त नहीं करते वरन् यह भी व्यक्त करते हैं कि दो कैमरों का मूल्य एक घड़ी के मूल्य के बराबर है। मूल्य के मान के रूप में मुद्रा का यही कार्य है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि वस्तुओं का मूल्य या मुद्रा का मूल्य स्थिर रहता है। जब वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन होता है तब मुद्रा के रूप में वस्तुओं का मूल्य परिवर्तित होता है। परन्तु मुद्रा के प्रयोग से हम एक वस्तु के मूल्य को अन्य वस्तुओं के रूप में नाप सकते हैं तथा अन्य वस्तुओं के मूल्य को द्रव्य के रूप में नाप सकते हैं। इसी अभिप्राय में मुद्रा मूल्य का मान समझी जाती है।

स्थगित भुगतानों का मान. मुद्रा स्थगित भुगतानों (deferred payments) के मान का भी कार्य करती है, क्योंकि आज उधार लिया गया सौ रुपया भविष्य में सौ रुपया अदा करने के लिए बाध्य करता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति उधार समान खरीदता है तो वह उतना ही रुपया भविष्य में अदा करने की प्रतिज्ञा भी करता है। इस दशा में भी इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि यदि कोई ऋण अदा कर दिया गया हो, या उधार ली गई वस्तुओं का मूल्य भविष्य में दिया जाय तो ऋणदाता को वही मूल्य वापस होगा जो तुरन्त भुगतान करने पर होता। इस बीच यदि सामान्य-मूल्य स्तर में परिवर्तन हो जाय तब वापस किये गये या भुगतान किए गए द्रव्य का मूल्य वस्तुओं और सेवाओं के रूप में भिन्न होगा। जो स्थिर रहता है वह है प्रमाप मुद्रा के रूप में दी गई मात्रा।

विनिमय का साधन. मुद्रा का सबसे महत्वपूर्ण प्रयोग विनिमय के साधन के रूप में है। वस्तु-विनिमय (barter) आर्थिक व्यवस्था में आवश्यकताओं के दोहरे संयोग का अभाव, वस्तुओं की विभाज्यता, तथा मूल्य के सामान्य मान सम्बन्धित अनेक कठिनाइयाँ थीं। इससे वस्तुओं के विनिमय में अनेक कठिनाइयाँ होती थीं। मुद्रा के प्रयोग से ये सभी कठिनाइयाँ दूर हो गईं। एक व्यक्ति जो वस्तुओं को बेचता है उसे बदले में रुपया मिल जाता है तथा जो व्यक्ति वस्तुओं को खरीदता है वह रुपया दे देता है। यह (विनिमय की) प्रक्रिया वर्तमान तक ही सीमित नहीं है वरन् भविष्य से भी सम्बन्धित है जब क्रय, विक्रय पहले ही कर लिया जाता है तथा मुद्रा एक सुविधाजनक विनिमय के साधन के रूप में कार्य करती है।

मूल्य संचय करने का साधन (Store of value). मुद्रा मूल्य संचय

करने का एक सुविधाजनक साधन है। गेहूँ, चावल तथा अन्य अनश्वर पदार्थों को संचित करने में अनेक कठिनाइयाँ थीं। (१) कीड़ों तथा अन्य कारणों से उनके गुणों तथा विशेषताओं में काफी खराबी आ सकती थी, (२) वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन होने के कारण उनके मूल्य में भी कमी हो जाने का सदा भय बना रहता था, तथा (३) भविष्य के प्रयोग के लिये पदार्थों का एकत्रित करके रखना बहुत कष्टदायी तथा असुविधाजनक कार्य था। मुद्रा के प्रयोग से ये सभी कठिनाइयाँ दूर हो गई। मुद्रा को सुविधा के साथ संचित किया जा सकता है तथा वस्तुओं के समान इसके खराब हो जाने का भय नहीं है। यह सत्य है कि (१) कीड़ों, सीलन तथा आग से नोट भी नष्ट हो सकते हैं, फिर भी इनको सुरक्षित रखने की सम्भावना भी अधिक है, तथा यदि आंशिक रूप में नष्ट हुए भी तो उन्हें केन्द्रीय बैंक से बदला भी जा सकता है; और (२) जिस प्रकार से वस्तु के मूल्य में कमी हो सकती है उसी प्रकार मुद्रा के मूल्य में भी कमी हो सकती है जब सामान्य मूल्य स्तर में वृद्धि हो जाय तथा मुद्रा की उतनी ही मात्रा से भविष्य में कम वस्तुएँ खरीदी जायें। परन्तु वस्तुओं की अपेक्षा मुद्रा के मूल्य में घट-बढ़ (fluctuation) होने की सम्भावना कम है। 'सामान्य दशाओं में वस्तु विशेष का मूल्य, वस्तु के औसत मूल्य की अपेक्षा अधिक परिवर्तित होता रहता है। इसलिये बहुत सम्भावना इस बात की है कि मुद्रा अपने मूल्य को व्यक्ति द्वारा क्रय की जाने वाली वस्तु के रूप में स्थिर रखे रहे, परन्तु यदि एक व्यक्ति की आय प्राप्त करने तथा व्यय करते समय किसी दूसरे रूप में रखी जाय तब मुद्रा के मूल्य को अपेक्षाकृत स्थिर रखने की सम्भावना कम है।'

मुद्रा की सुविधाएँ तथा जटिलताएँ

वस्तु विनिमय आर्थिक व्यवस्था की असुविधायें. जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, वस्तु विनिमय आर्थिक व्यवस्था में अनेक असुविधायें थीं। वस्तुओं का विनिमय करने के लिए आवश्यकताओं के दोहरे संयोग का होना आवश्यक था। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि एक व्यक्ति कपड़ा बेचकर गेहूँ खरीदना चाहता था तो उसी समय दूसरा एक व्यक्ति ऐसा होना चाहिए जो गेहूँ बेचकर कपड़ा खरीदना चाहता हो क्योंकि यदि एक दूसरा व्यक्ति गेहूँ बेचकर चीनी खरीदना चाहता है तो एक तीसरे व्यक्ति की तलाश करनी होगी जो चीनी बेचकर कपड़ा खरीदना चाहता हो। परन्तु मुद्रा के प्रयोग से आवश्यकताओं के दोहरे संयोगों का होना आवश्यक नहीं है। मुद्रा के प्रयोग से एक व्यक्ति जो वस्तु खरीदना चाहता है उसे खरीद सकता है तथा जो वस्तु बेचना

चाहता है उसे बेच भी सकता है बशर्ते कि पूरे समय के लिए क्रय की जाने वाली सभी वस्तुओं का कुल मूल्य बेची जाने वाली सभी वस्तुओं के कुल मूल्य के बराबर हो। साधारणत: इसका अर्थ यह हुआ कि कोई व्यक्ति अपने पास उपलब्ध संसाधनों से अधिक नहीं खरीद सकता। दूसरे, वस्तु विनिमय अर्थ व्यवस्था की एक और कठिनाई थी जो उस समय उत्पन्न होती थी जब एक व्यक्ति अपनी बेची गई वस्तु के बदले में जितनी उसे अन्य वस्तु मिलती, उससे कम मात्रा वस्तु की चाहता है। वस्तु विनिमय अर्थ व्यवस्था में यदि एक व्यक्ति एक बकरी बेचकर एक मन गेहूँ खरीदना चाहता था तो उसे उस समय बहुत जटिल कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था जब एक बकरी का मूल्य एक मन गेहूँ के बराबर नहीं होता। मुद्रा के प्रयोग से यह कठिनाई लुप्त सी हो जाती है। परन्तु सम्भवत: वस्तु विनिमय अर्थ व्यवस्था की सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि इसमें अर्घ के सामान्य मान का अभाव था यद्यपि कभी कभी कोई वस्तु सामान्य अर्घ मान का कार्य करती थी। परन्तु इस प्रकार का अर्घ मान सदा अपूर्ण होता था तथा इससे सम्बन्धित पक्षों को बड़ी असुविधा होती थी। मुद्रा लेखा की इकाई तथा मूल्य के मान के रूप में कार्य करके वस्तु विनिमय अर्थ व्यवस्था की इन कठिनाइयों को दूर करती है।

उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों के लिए महत्व. उपभोक्ताओं को अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करने के लिए खरीदी जाने वाली वस्तुओं तथा उनकी भावनाओं के बारे में इस प्रकार निर्णय करना होता है जिससे उन्हें सर्वाधिक सन्तोष की प्राप्ति उनके सीमित संसाधनों द्वारा हो। मुद्रा का प्रयोग उपभोक्ता को यह निश्चय करने में सहायता प्रदान करता है कि वह किन वस्तुओं का कितनी मात्रा में क्रय करे जिससे उसे अपने व्यय द्वारा सर्वाधिक सन्तोष की प्राप्ति हो सके। उसी प्रकार से उत्पादक को भी यह निर्णय करना पड़ता है कि वह किन उत्पादन के साधनों का कितनी मात्रा में तथा किस प्रकार प्रयोग करे। मुद्रा उत्पादक को विभिन्न उत्पादन के साधनों की सीमान्त उत्पादकताओं तथा उनके मूल्यों और उत्पादन लागत तथा मूल्य की तुलना करने में सहायता करती है। इसी प्रकार एक व्यापारी को भी क्रय मूल्य तथा विक्रय मूल्य की तुलना करके उसके लाभ को बतलाने में भी मुद्रा सहायता प्रदान करती है। मुद्रा के प्रयोग से सभी लेन-देन की क्रियायें अत्यन्त सरल तथा सुविधाजनक हो गई हैं।

मुद्रा संचय करने की प्रेरक शक्तियाँ. ऊपर हमने बतला दिया है कि मुद्रा मूल्य संचय करने का साधन है। इस कार्य के पूर्ण महत्व को समझने के

लिए हमें उन उद्देश्यों को जान लेना चाहिए जो लोगों को मुद्रा संचय करने के लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रकार के उद्देश्य तीन होते है : (१) लेन-देन प्रेरक (transaction motive), (२) पूर्वोपाय प्रेरक (precautionary motive), तथा (३) पूर्वकल्पी प्रेरक (speculative motive)। लेन-देन प्रेरक का अर्थ यह होता है कि उत्पादक मजदूरी देने, कच्चे माल और अन्य वस्तुओं के क्रय के लिए तथा उपभोक्ता क्रय की जाने वाली वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य देने के लिए मुद्रा अपने पास रखते हैं। बिना किसी सन्देह के यह माना जा सकता है कि लेन-देन सम्बन्धित उद्देश्य के लिए रखी जाने वाली मुद्रा की मात्रा व्यक्ति की आय पर आधारित है। यदि हम देश के सभी व्यक्तियों को मिलाकर एक समष्टि (aggregate) दृष्टिकोण रखें तो हम यह देखेंगे कि लेन देन सम्बन्धित उद्देश्य से रखी गई मुद्रा की कुल मात्रा राष्ट्रीय आय तथा राष्ट्रीय मुद्रा के स्तर पर आधारित है। यदि राष्ट्रीय आय तथा प्रदा अधिक होगी तो लोग मुद्रा की अधिक मात्रा नकद के रूप में रखेंगे; इसके विपरीत यदि राष्ट्रीय आय तथा प्रदा कम है तो लोग अपेक्षाकृत कम मुद्रा की मात्रा नकद के रूप में रखेंगे। यह मान लेना पूर्णतया उचित है कि लेन-देन सम्बन्धित उद्देश्य के लिए रखी गई मुद्रा की मात्रा ब्याज की दर से पूर्णतया स्वतन्त्र है अर्थात ब्याज की दर पर आधारित नहीं है।

पूर्वोपाय के उद्देश्य से प्रेरित हो कर लोग मुद्रा इसलिए संचित करके रखते हैं कि किसी अप्रत्याशित संकटकालीन स्थिति में, जैसे एकाएक बीमारी, लोगों के पास भुगतान करने के लिए रुपया हो। पूर्वोपाय के उद्देश्य से प्रेरित होकर नकद मुद्रा रखने की मात्रा लोगों के स्वभाव, पसन्दगी या नापसन्दगी तथा आय के स्तर पर आधारित है। समष्टि रूप में यह कुल राष्ट्रीय आय तथा प्रदा के स्तर पर आधारित है। निस्सन्देह यह भी ब्याज की दर से पूर्णतया स्वतन्त्र है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि ब्याज की दर कम होगी तो लोग पूर्वोपाय सम्बन्धित उद्देश्य की पूर्ति के लिए अधिक रुपया नहीं रखेंगे तथा ब्याज की दर अधिक होने पर कम रुपया नहीं रखेंगे।

पूर्वकल्पी उद्देश्य से प्रेरित होकर लोग मुद्रा इसलिए रखते हैं कि ब्याज की दर में हुए परिवर्तनों से उत्पन्न होने वाले लाभों को उठा सकें। यहाँ पर व्यक्ति के सम्मुख यह समस्या होती है कि वह अपने पास नकद मुद्रा रखे अथवा बाँड। यदि बाँडों का मूल्य अधिक है तथा इन बाँडों पर प्राप्त सम्भावित लाभ कम है तब व्यक्ति बाँडों को नहीं खरीदेगा बल्कि उनके बदले अपने पास नकद रुपया

रखेगा ताकि उस रुपये से वह उस समय बाँडों को खरीद सके जब उनके मूल्यों में कमी हो जाय जिससे उसे सम्भावित लाभ मिल सके।

मुद्रा के दोष. मुद्रा केवल विनिमय का माध्यम, मूल्य संचय करने का साधन तथा स्थगित भुगतानों का मान ही नहीं है, बल्कि मुद्रा की कुछ अपनी मौलिक शक्ति तथा सामर्थ्य भी होती हैं जो कभी-कभी भयंकर दोष के रूप में भी प्रगट होती हैं। यदि किसी व्यक्ति के पास मुद्रा नहीं होती तो उसका वस्तुओं और सेवाओं पर अधिकार नहीं होता तथा उसे अनेक महान कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ता है। यदि किसी व्यक्ति के पास अत्यधिक मुद्रा है तब उसके अधिक फिजूल खर्च हो जाने की सम्भावना है तथा वह अनेक सामाजिक क्रियाओं में संलग्न हो सकता है। इसलिए न तो व्यक्ति के पास अत्यन्त अल्प मुद्रा का होना और न उसके पास अत्यधिक मुद्रा का होना वाँछनीय है। परन्तु केवल इतना ही नहीं है। यदि समाज में वस्तुओं और सेवाओं की अपेक्षा मुद्रा को मात्रा में अधिक वृद्धि हो जाय तो मुद्रास्फीति हो सकती है तथा वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में वृद्धि भी। यदि मुद्रास्फीति की स्थिति जारी रहती है तो उससे समाज के निर्धन व्यक्तियों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इसके विपरीत यदि समाज में वस्तुओं और सेवाओं की अपेक्षा मुद्रा की मात्रा कम होती है तब अस्फीति (deflation) हो जाती है। यदि इस प्रकार की अस्फीति कुछ काल तक जारी रहे तो व्यवसाय करने वाले व्यक्तियों को क्रय तथा विक्रय सम्बन्धित लेन-देन करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कभी कभी तो मुद्रा अस्फीति व्यवसायिक मन्दी, राष्ट्रीय आय तथा प्रदा में कमी, तथा वृत्ति हीनता में वृद्धि करने में भी सहायक होती है।

उत्पादन पर भी मुद्रा महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है। यदि समाज में मुद्रा की पूर्ति उसकी माँग की अपेक्षा बढ़ जाती है, और साथ-साथ ब्याज की दर में भी कमी हो जाती है तब दी हुई पूँजी की सीमान्त क्षमता की स्थिति में साहसोद्यमी अनुकूल परिस्थितियों से प्रेरित होकर अपने विनियोग में वृद्धि कर अपना व्यवसाय बढ़ा सकते हैं। इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय प्रदा, आय तथा वृत्ति (employment) में वृद्धि हो सकती है। इसके अतिरिक्त उपभोक्ताओं के स्वभाव तथा अभिरुचि की दी हुई स्थिति में कुल मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप वस्तुओं और सेवाओं की माँग में भी वृद्धि अवश्य होगी क्योंकि बढ़ी हुई क्रय शक्ति से उपभोक्ता गेहूँ, कपड़े, किताब इत्यादि की अधिक मात्रा को खरीद सकता है। यदि इन वस्तुओं की माँग में वृद्धि हो जाय तब साहसोद्यमी और अधिक उत्पादन करने के लिए प्रेरित हो सकते हैं। इस प्रकार की प्रक्रिया

उस समय तक जारी रह सकती है जब तक पूर्ण-वृत्ति (full employment) की स्थिति न हो जाय। यदि मुद्रा की पूर्ति में वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा की अपेक्षा कमी हो जाय और ब्याज की दर में वृद्धि हो जाय तब वस्तुओं और सेवाओं के गिरते हुए मूल्य के कारण उत्पादन में कमी हो जायेगी तथा ठीक विपरीत प्रक्रिया जारी हो जायगी। वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति की अपेक्षा मुद्रा की पूर्ति में अधिक कमी हो जाने के कारण लोगों की आय, तदनुसार उनकी क्रय शक्ति कम हो सकती है जिससे आर्थिक मन्दी की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी जो अन्ततोगत्वा वृत्तिहीनता, राष्ट्रीय आय तथा मुद्रा में कमी, सर्वव्यापी कष्ट उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध होगी।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन उत्पादन पर गहरा प्रभाव डालती है जिसके कारण लोगों की आय, उनकी क्रय शक्ति तथा सामान्य मूल्य स्तर भी प्रभावित होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि मुद्रा की मात्रा तथा वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति में समुचित सन्तुलन उचित मौद्रिक व्यवस्था करके न स्थापित किया जाय तो लोगों को अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है क्योंकि मुद्रा के मूल्य में हुए परिवर्तनों से न केवल उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के हितों को हानि होती है वरन् ऋण देने वाले तथा ऋण लेने वाले व्यक्तियों को भी हानि होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भी मुद्रा ऊष्ण मुद्रा (hot money) का रूप ग्रहण कर अनेक जटिलताओं को उत्पन्न कर सकती है। सामान्य स्थितियों में एक देश से दूसरे देश में मुद्रा ब्याज की दर में परिवर्तन तथा विभिन्न देशों में पूँजी की अर्जन क्षमता के कारण हस्तान्तरित होती रहती है। इस प्रकार से पूँजी की गतिशीलता विभिन्न क्षेत्रों के आर्थिक विकास में सहायक होती है। परन्तु कभी-कभी पूँजी—ऐसी स्थिति में हम उसे ऊष्ण मुद्रा कहते हैं—एक देश से दूसरे देश में राजनीतिक अस्थिरता तथा पूर्वकल्पी लाभ की आशा से हस्तान्तरित होती रहती है। इस प्रकार की पूँजी की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता विभिन्न मुद्राओं के विनिमय दर में अस्थिरता उत्पन्न कर सकती है जिससे विदेशी विनिमय में अस्तव्यस्तता तथा अनियमिता उत्पन्न हो सकती है।

मानव जाति का उद्देश्य आनन्द की प्राप्ति है और यह नहीं कहा जा सकता कि मुद्रा तथा आनन्द एक साथ सम्भव हैं। यदि किसी व्यक्ति के पास प्रचुर मुद्रा नहीं है तथा वह आवश्यकता विहीन होने में भी नहीं समर्थ हो सका है तब उसे बहुत कष्ट होगा क्योंकि उसकी बहुत सी आवश्यकतायें असन्तुष्ट रह जायेंगी। यदि किसी व्यक्ति के पास मुद्रा की मात्रा अत्यधिक है तथा उसे मुद्रा का उचित

ढंग से व्यय करना नहीं आता और वह अपनी शक्ति का अपव्यय करता है तब वह मुद्रा के अबुद्धिमत्ता पूर्ण व्यय के कारण दुखी हो जायेगा। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति मुद्रा का संचय करके उसका व्यय नहीं करता तब वह भी दुखी होगा। वह उस मुद्रा का आनन्द नहीं उठा सकता या उसे सदा इस बात का भय बना रहता है कि कहीं चोर, डाकू इत्यादि उसकी संचित मुद्रा को चुरा न ले जायें। यदि कोई व्यक्ति मुद्रा का संचय नहीं करता तब तो उसे और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है क्योंकि उसे अपनी स्वयं की आवश्यकताओं की पूर्ति करने तथा अपने परिवार के प्रयोग और अन्य अप्रत्याशित घटनाओं के लिए मुद्रा उपलब्ध नहीं हो पाती। यह इस बात को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है कि चाहे मनुष्य कुछ भी करे, मुद्रा उसके लिए सदा कष्ट तथा चिन्ता का विषय है।

अध्याय २

चलन
(Currency)

चलन एक विशेष प्रकार की मुद्रा होती है। भारत में एक, दो, पाँच, दस तथा इससे ऊँचे मूल्य के नोट, रुपये, अठन्नी अथा अन्य सिक्के इसके अन्तर्गत आते हैं। परिचलित चलार्थ (currency in circulation) की मात्रा का किसी आर्थिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान होता है क्योंकि चलन तथा बैंक साख की मात्रा पर—वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा की तुलना में—मूल्य स्तर तथा व्यक्तियों की आर्थिक समृद्धि आधारित है। अतः केन्द्रीय बैंकिंग सत्ता के लिये यह आवश्यक है कि वह परिचलित चलार्थ की मात्रा पर जान-बूझ कर इस प्रकार से नियन्त्रण रखें जिससे सामान्य मूल्य-स्तर पर उसका उचित प्रभाव पड़े। इसके अतिरिक्त चलन की स्वीकार्यता, अन्ततोगत्वा, व्यक्तियों के विश्वास पर आधारित है। अतः केन्द्रीय बैंकिंग सत्ता को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जनता का विश्वास चलन में बना रहे। साथ-साथ इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि चलन सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए अधिक महंगा न सिद्ध हो।

अच्छी चलन प्रणाली की विशेषताएँ

क्योंकि चलार्थ की कुल परिचलित मात्रा सामान्य मूल्य-स्तर पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है, और चूंकि बहुधा व्यक्ति चलन को संचित करके रखते हैं, अतः यह आवश्यक है कि चलन की मात्रा पर नियन्त्रण रखने का अधिकार देश के केन्द्रीय बैंक को हो। १९ वीं शताब्दि में ब्रिटेन में बैंकिंग स्कूल के समर्थकों ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि नोट छापने का अधिकार व्यवसायिक बैंकों को मिलना चाहिये तथा इन लोगों ने इस बात को अस्वीकार किया कि बैंकों को उससे अधिक परिचलित बैंक नोटों को निकालने का अधिकार है जितनी मात्रा विस्तारशील व्यवसाय अवशोषण (absorb) करने में समर्थ हो सके। इससे बैंकिंग स्कूल के अर्थशास्त्रियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि केवल विकासशील अर्थव्यवस्था में ही मौद्रिक परिचलन (monetary circulation) में वृद्धि होगी तथा व्यवसायिक बैंकों द्वारा अधिक नोट निकालने से भी मूल्यों में वृद्धि नहीं हो सकती। यदि व्यवसायिक बैंकों को नोट निकालने का अधिकार दे दिया जाय तो इसमें कोई हानि नहीं होगी बल्कि उन्हें नोट निकालने का अधिकार दे देना आर्थिक व्यवस्था के हित में ही होगा। परन्तु शीघ्र ही यह अनुभव किया गया

कि व्यवसायिक प्रात्र (commercial paper) मुद्रा की यथार्थ माँग का सूचक नहीं है, और किसी भी दशा में मुद्रा की पूर्ण पूर्ति पर नियन्त्रण 'व्यवसाय की यथार्थ माँग' जैसे संदिग्ध संबोध (vague concept) पर नहीं आधारित किया जा सकता। व्यवसायिक बैंक सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था में मुद्रा की समष्टि माँग (aggregate demand) के सम्बन्ध में उचित निर्णय करने के लिये भली भाँति सन्नद्ध नहीं होते। ये बैंक मुद्रा की कुल माँग तथा पूर्ति मे ऐसा सामंजस्य भी स्थापित नहीं कर सकते जैसा सामंजस्य वांछित आर्थिक विकास की दर के लिए आवश्यक है। इसी लिए ब्रिटेन की सरकार ने बैंकिंग स्कूल के अर्थशास्त्रियों के मत को नहीं स्वीकार किया वरन् उन्होंने 'चलन स्कूल' के अर्थ-शास्त्रियों के विचार को स्वीकार किया जिसके अनुसार नोट निकालने का अधिकार केवल देश के केन्द्रीय बैंक को ही था। ब्रिटेन का १८४४ का बैंक चार्टर अधि-नियम इसी पर आधारित था। उसी समय से भारत में भी इसी विधि का अनुसरण किया गया है।

अधिकांश देशों में अब अधिनियम के द्वारा व्यवसायिक बैंकों को नोट निकालने के अधिकार से वंचित कर दिया गया है। व्यवसायिक बैंक केवल बैंक जमा के रूप में ही मुद्रा का सृजन कर सकते हैं; और केवल केन्द्रीय बैंक को ही नोट निकालने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। इस कारण से भी सरकार सिक्कों तथा नोटों के कपट मुद्राकरण (counterfeiting) तथा चौर्यपणन (smuggling) को रोकने के लिए सभी सम्भव प्रयास करती है जिससे केन्द्रीय बैंकिंग सत्ता परिचलित चलार्थ की कुल मात्रा पर पूर्ण नियन्त्रण रख सके।

एक अच्छी चलन प्रणाली के अन्तर्गत कोई ऐसा विवर (loophole) नहीं होना चाहिए जिससे केन्द्रीय बैंकिंग सत्ता की इच्छा के विरुद्ध चलन की मात्रा में वृद्धि अथवा कमी हो सके। दुर्भाग्यवश इस प्रकार का विवर सन् १९३४ के रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के अधिनियम में था जिसके अनुसार रिजर्व बैंक किसी व्यक्ति से स्टर्लिंग शीघ्र लन्दन भेजने के लिए क्रय तथा विक्रय के लिए बाध्य था। क्रय तथा विक्रय की दर कम से कम १ रुपया = १ शिलिंग ५ ४९/६४ पेंस तथा अधिक से अधिक से शिलिंग ६ ३/१६ पेंस थी बशर्ते कि १० हजार पौंड स्टर्लिङ्ग से कम न खरीदा या बेचा जाय। द्वितीय विश्व-युद्ध में अपने युद्ध व्यय की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में ब्रिटिश सरकार ने इस अधिनियम से लाभ उठाया तथा रिजर्व बैंक आफ इण्डिया को स्टर्लिंग देकर बदले में रुपया प्राप्त कर लिया। इसके परिणामस्वरूप भारत के नाम से लन्दन में अत्यधिक पौण्ड

पावना संचित हो गया जो कि एक समय १७३३ करोड़ रुपये के मूल्य के बराबर हो गया था। इसके फलस्वरूप भारत में चलन की मात्रा में भी काफी वृद्धि हो गई। भारत में चलन की मात्रा में १९४२-४३ में ६४४ करोड़ रुपये से बढ़कर १९४४-४५ में १०८५ करोड़ तथा १९४७-४८ में १३०४ करोड़ रुपये हो गई जबकि इस अवधि में कुल मुद्रा की पूर्ति ११९८ करोड़ रुपये से १९२२ करोड़ तथा १९२२ करोड़ रुपये से बढ़कर २३०३ करोड़ रुपये हो गई। इसके फलस्वरूप भारत में अत्यधिक मुद्रा स्फीति (inflation) हो गई तथा थोक मूल्य का सामान्य निर्देशांक, अगस्त १९३९ को आधार मानकर, १९४०-४१ में ११४·८ से बढ़कर १९४३-४४ में २३६·५ तथा ११४७-४८ में ३०७·० हो गया। रिजर्व बैंक आफ इण्डिया इस विध्वंसकारी स्थिति को असहायपूर्ण दृष्टि से देखता रहा। भारतीय चलन प्रणाली का यह दोष उस समय दूर हुआ जब १९४७ में भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) का सदस्य हुआ और रिजर्व बैंक आफ इण्डिया के अधिनियम में सुधार हुआ जिसके अनुसार बैंक विदेशी विनिमय को ऐसी दरों पर बेंच और खरीद सकता था जो केन्द्रीय सरकार समय समय पर निर्धारित किया करती थी।

लोच (Elasticity)

अच्छी चलन प्रणाली की एक महत्वपूर्ण विशेषता है उसकी लोच जिसका अर्थ होता है कि व्यापृत समय (busy season) में शीघ्रता पूर्वक सुचारु ढंग से चलन की मात्रा में वृद्धि तथा मन्दी के समय (slack season) में कमी किया जाना सम्भव हो सके। इसका अर्थ यह भी होता है कि एक विकासशील अर्थ व्यवस्था में जब राष्ट्रीय प्रदा (output) तथा आय में वृद्धि हो रही हो उस समय केन्द्रीय बैंक के लिए यह सम्भव होना चाहिए कि वह मुद्रा के परिचलन में वृद्धि कर विकसित आर्थिक क्रियाओं के साथ साम्य स्थापित कर सके, तथा ह्रासोन्मुख अर्थ व्यवस्था (declining economy) जिसमें राष्ट्रीय प्रदा तथा आय घट रहे हों उस समय केन्द्रीय बैंक चलन की मात्रा में कमी कर सकने में समर्थ हो सके। १९१४ के पूर्व स्वर्ण मान के अन्तर्गत उन स्थितियों में जिनमें स्वर्णमान के नियमों का पालन किया जाता था चलन की मात्रा, देश में स्वर्ण की मात्रा में हुए परिवर्तनों के साथ साथ स्वतः परिवर्तित होती रहती थी। यदि देश में स्वर्ण आता था तो चलन की मात्रा में वृद्धि हो जाती थी तथा जब स्वर्ण देश से बाहर जाता था तब चलन की मात्रा में कमी हो जाती थी। इससे चलन विधि

अत्यधिक लोचपूर्ण हो गई थी। पत्र चलार्थ व्यवस्था (paper currency system) के अन्तर्गत, जिसमें धातु आँशिक रूप में रखी जाती हैं अथवा कभी कभी कुछ भी नहीं रखी जातीं, केन्द्रीय बैंक को जानबूझ कर देश के वाणिज्य तथा उद्योग की आवश्यकताओं के अनुसार चलन प्रणाली को लोचपूर्ण रखना होता है। यह इस बात की पूर्वकल्पना पर आधारित है कि केन्द्रीय बैंक का संगठन तथा कार्य पद्धति दोषपूर्ण नहीं है तथा चलन की मात्रा में प्रसार तथा संकुचन करने के उसके अधिकार पर कोई वैधानिक नियन्त्रण नहीं है।

रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व भारत में चलन की मात्रा पर नियन्त्रण तथा निरीक्षण इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया (जिसे आजकल स्टेट बैंक आफ इण्डिया कहते हैं) करता था। व्यापृत समय में बैंक चलन सम्बन्धित आकस्मिक माँगों की पूर्ति पेपर करेन्सी विभाग से उधार लेकर करता था। यह प्रणाली सुचारु रूप से कार्य न कर सकी क्योंकि इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया की चलन तथा साख की मात्रा पर नियन्त्रण सम्बन्धित नीति एकरूप नहीं थी। भारतीय चलन प्रणाली में यह एक भयंकर दोष था परन्तु रिजर्व बैंक आफ इण्डिया की स्थापना से यह दोष दूर हो गया। चूँकि रिजर्व बैंक का चलन तथा साख दोनों पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है अतः यह व्यापृत समय (नवम्बर से मई) में चलन की मात्रा में वृद्धि तथा मन्दी के समय (जून से अक्टूबर) में चलन की मात्रा में कमी बड़ी सफलता पूर्वक कर सकता है। चूँकि व्यापृत काल में नकद की माँग में वृद्धि हो जाती है तथा व्यवसायिक बैंकों द्वारा नकद की निकासी (withdrawal) भी अधिक होती है और सरकार तथा अन्य लेखों से चैक द्वारा भुगतान भी अधिक होता है इसलिए रिजर्व बैंक के बैंकिग विभाग में रखे गए नकद की मात्रा में उस निम्नतर स्तर से भी अधिक कमी हो जाती है जितने की आवश्यकता सामान्य काल में रहती है। अपने नकद साधनों की पूर्ति करने के लिए बैंकिग विभाग, निर्गम विभाग (issues department) को (नकद की समान मात्रा के बदले में) उचित परिसंपत्ति (assets) जैसे पौण्ड या रुपये के ऋण-पत्र (securities) को हस्तान्तरित कर देता है। बैंकिग विभाग में इनकी मात्रा में वृद्धि तो बैंक तथा अन्य सरकारी संस्थाओं के अधिक नकद की माँग की पूर्ति करने की प्रक्रिया में ही हो जाती है। अतः जनता द्वारा नकद की अधिक माँग के फलस्वरूप सर्व-प्रथम व्यवसायिक बैंकों के नकद शेष (cash balances) की मात्रा में कमी हो जाती है; उसके उपरान्त रिजर्व बैंक के बैंकिग विभाग के नकद शेष की मात्रा में कमी हो जाती है। बैंकिग विभाग से निर्गम विभाग में उचित ऋणपत्रो

के हस्तान्तरण से चलन में प्रसार हो जाता है। इस प्रकार व्यापृत काल में चलन की मात्रा में वृद्धि तथा मन्दी के समय चलन की मात्रा में कमी हो जाती है।

जहाँ तक भारत में चलार्थ के परिचलन में हुई वृद्धि का सम्बन्ध है, अतीत काल में इस प्रणाली में कुछ दोष थे। १९३४ के रिजर्व बैंक आफ इंडिया के अधिनियम के अनुसार 'अनुपातिक निधि प्रणाली' (proportional reserve system) का अनुसरण किया गया तथा स्वर्ण और स्वर्ण की मुद्राओं की न्यूनतम मात्रा रक्षित निधि के रूप में रखने के लिए कुछ आवश्यक नियन्त्रण लगाये गए। इससे रिजर्व बैंक निर्धारित सीमा से अधिक चलन की कुल मात्रा में वृद्धि नहीं कर सकता था जिससे यहाँ की नोट निर्गम प्रणाली अनावश्यक रूप में अत्यधिक परिदृढ़ हो गई। जैसा कि अभी बतलाया जायेगा, अनुपातिक निधि प्रणाली १९५६ में बदल दी गई तथा इसके स्थान पर 'न्यूनतम निधि प्रणाली' (minimum reserve system) को अपनाया गया। भारतीय चलन कोष में से स्वर्ण तथा विदेशी ऋण-पत्रों की मात्रा में विधानतः कमी कर दी गई तथा रिजर्व बैंक को चलन प्रसार सम्बन्धित और अधिक अधिकार प्रदान किए गये। साथ ही साथ रिजर्व बैंक को बैंक-साख (व्यवसायिक बैंकों द्वारा सृजन की गई जमा) सम्बन्धित और अधिकार प्रदान किये गए। यदि रिजर्व बैंक को बैंक साख पर नियंत्रण सम्बन्धित और अतिरिक्त अधिकार न प्रदान किए गए होते तथा केवल भारतीय चलन की रक्षित आवश्यकताओं में परिवर्तन किया जाता तब उस समय एक ऐसी स्थिति के उत्पन्न हो जाने की सम्भावना थी जिसमें बैंक साख में अत्यधिक तीव्र गति से वृद्धि हो जाती जिससे मौद्रिक व्यवस्था नियन्त्रण के बाहर हो जाती। अब भारतीय चलन प्रणाली लोच की विशेषता को सन्तुष्ट करती है क्योंकि रिजर्व बैंक का चलन तथा साख पर सक्रिय नियंत्रण है।

जनता का विश्वास

इन सब के अतिरिक्त एक अच्छी चलन प्रणाली वह है जिसमें जनता का विश्वास हो। अतीत में चलन को पूर्ण परिवर्तनशील बनाकर जनता के विश्वास को सुनिश्चित रखने का प्रयास किया गया था। परन्तु आधुनिक युग में जब कि विश्व के सभी देशों में व्यवस्थित चलन (managed currency) प्रचलित है तब पूर्ण परिवर्तन-शीलता का कोई अर्थ नहीं रहता। उदाहरणार्थ, भारत में पांच रुपये के नोट पर यह अंकित रहता है कि 'I promise to pay the bearer on demand the sum of Rupees five', परन्तु इसका वास्तविक अर्थ कुछ भी नही होता। यदि कोई आदमी पांच रुपये का नोट लेकर रिजर्व बैंक आफ इण्डिया में

जाय और उसे बदलने के लिए कहे तो रिजर्व बैंक उस व्यक्ति को एक एक के पांच नोट अथवा पांच रुपये या पांच रुपये के बराबर अन्य छोटे सिक्के दे देगा । परन्तु ये सब उतने ही बुरे या अच्छे हैं जितना कि पांच रुपये का नोट । इन सिक्कों अथवा नोटों का वास्तविक मूल्य भी पांच रुपये से बहुत कम होता है । अतः आधुनिक युग में जनता के विश्वास का आधार चलन की परिवर्तनशीलता नहीं होती वरन् सरकार की मौद्रिक तथा अन्य नीतियों की सुस्थिरता (soundness) होती है । किसी भी चलन में उसी समय तक जनता का विश्वास रहता है जब तक उसका मूल्य स्थिर रहता है । अतः हमें चलन के मूल्य की स्थिरता के अर्थ को स्पष्ट तथा व्यापक रूप में जान लेना चाहिए ।

स्थिरता (Stability)

"आर्थिक अनिश्चितता के वातावरण में, जबकि द्राव्यिक मूल्यों में शीघ्र परिवर्तन होते रहते हैं, मानवीय मस्तिष्क अधिकतम विकास करने के लिए व्यग्र रहता है, वाणिज्य तथा संस्कृति दोनों के लिए एक स्थिर चलन की आवश्यकता है" । स्थिर चलन की आवश्यकता केवल आर्थिक विकास सुनिश्चित करने के लिए ही नहीं वरन् सांस्कृतिक उत्थान के लिए भी होती है क्योंकि बौद्धिक तथा कलात्मक क्रियाओं के लिए भी धन का एक निश्चित भौतिक आधार चाहिए । अतीत में वाणिज्य ने इस प्रकार का भौतिक आधार प्रदान किया है । वाणिज्य ने मनुष्य की जिज्ञासा की प्रवृत्ति को भी अधिक सुदृढ़ बनाया है क्योंकि व्यवसायियों के फैशन तथा माँग में हुए परिवर्तनों, विदेशी बाजारों तथा उनकी पूर्ति में हुए परिवर्तनों को भी जानना होता है । इसके अतिरिक्त उन्हें सुदूर के अद्भुत स्थानों में भी जाना होता है । नवीन विचारों के प्रादुर्भाव के लिए जिज्ञासा की नितान्त आवश्यकता होती है । परन्तु चलन के मूल्य की स्थिरता का अर्थ यह नहीं होता कि मूल्य, स्तर, राष्ट्रीय प्रदा, राष्ट्रीय आय तथा वृत्ति भी पूर्ण वृत्ति (full employment) अथवा अन्य किसी स्तर पर अपरिवर्तित हों । यदि हम स्थिरता पर प्रवैगिक (dynamic) दृष्टिकोण से विचार करें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुसार मुद्रा के मूल्य तथा सामान्य मूल्य स्तर में कुछ सीमा तक परिवर्तन भी हो सकता है । यदि आर्थिक व्यवस्था विकासशील है तब मूल्य स्तर में कुछ वृद्धि होना (मुद्रा के मूल्य में कमी) स्वाभाविक तथा आवश्यक है, परन्तु यदि आर्थिक व्यवस्था ह्रासशील है तब सामान्य मूल्य स्तर में कमी होने (मुद्रा के मूल्य में वृद्धि होना) की उतनी ही सम्भावना है । यदि इस प्रकार की वृद्धि तथा कमी अल्प मात्रा में है तब वह

चलन की स्थिरता के पूर्णतः अनुरूप है। केवल उसी स्थिति में चलन की स्थिरता खतरे में पड़ जाती है जब मुद्रा के मूल्य (मूल्यस्तर) में परिवर्तन निरन्तर तथा अधिक मात्रा में होने लगता है।

'मूल्य स्थिरता' तथा 'विनिमय स्थिरता' में अन्तर. इस सम्बन्ध में मूल्य स्थिरता तथा विनिमय स्थिरता में अन्तर का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है। मूल्य स्थिरता से तात्पर्य उस स्थिति से होता है जब देश में सामान्य मूल्य स्तर स्थिर हो तथा विनिमय स्थिरता (exchange stability) से तात्पर्य उस स्थिति से होता है जब एक चलन का विनिमय मूल्य अन्य चलनों के रूप में अपरिवर्तित रहे। केवल विशेष परिस्थितियों को छोड़कर ये एक तरह नहीं रहते। बहुधा मौद्रिक सत्ता को यह निर्णय करना पड़ता है कि इन दोनों मे से किसको अधिक पसन्द करे। स्वर्ण मान के अन्तर्गत विनिमय स्थिरता स्वतः सुनिश्चित हो जाती थी क्योंकि किसी चलन का विनिमय मूल्य स्वर्ण बिन्दुओं (specie points) के बाहर नहीं बदल सकता था। स्वर्णमान के अन्तर्गत मूल्य स्थिरता तभी सुनिश्चित की जा सकती है जबकि विभिन्न देशों की आर्थिक स्थिति में परिवर्तन न हो तथा किसी भी देश के मूल्य स्तर में वृद्धि या कमी न हो। परन्तु यदि किसी भी एक देश में मूल्य स्तर बदल गया तब कालान्तर में स्वर्ण मान के सभी देशों में इस प्रकार का परिवर्तन अवश्य उत्पन्न हो जायेगा। इस प्रकार स्वर्ण मान केवल विनिमय स्थिरता सुनिश्चित करता है, मूल्य स्थिरता नहीं।

विशेषतः राष्ट्रीय भावना के फैल जाने से लोग विनिमय स्थिरता की अपेक्षा मूल्य स्थिरता को अधिक पसन्द करने लगे हैं क्योंकि मूल्य स्थिरता से देश का शीघ्र आर्थिक विकास सम्भव है। इसके अतिरिक्त लॉर्ड कीन्स (१९३०-४० में) ने विनिमय स्थिरता से मूल्य स्थिरता पर अधिक बल दिया। व्यवस्थित चलन—जो आजकल प्रायः सभी देशों में प्रचलित है—के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक मूल्य स्थिरता की ओर सतत प्रयास करते हैं और जहाँ तक सम्भव हो सके विनिमय समानीकरण लेखा (Exchange Equalisation Accounts) के माध्यम से विनिमय स्थिरता भी लाने की चेष्टा करते हैं। विनिमय समानीकरण लेखा के अन्तर्गत विदेशी चलनों की प्राप्ति को एक विशेष लेखा में आकलित (credited) किया जाता है। जब विदेशी चलनों की माँग की जाती है तब उसी लेखा से भुगतान किया जाता है। इस प्रकार चलन के विनिमय मूल्य में हुए अत्यधिक परिवर्तनों को रोका जा सकता है। १९४७ में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना के पश्चात सदस्य देश अपने स्वयं के रक्षित विदेशी चलनों के रखने के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से अपनी चलन के बदले में विदेशी चलनों का उधार लेकर

दूसरे देशों को भुगतान कर सकते हैं। इस प्रकार वह विनिमय स्थिरता स्थापित कर सकते हैं।

विनिमय-स्थिरता से लाभ. (१) विनिमय स्थिरता वाणिज्य तथा व्यवसाय में अधिकतम सीमा तक वृद्धि करती है, क्योंकि विनिमय दर की स्थिरता निर्यात तथा आयात में वृद्धि के लिए अधिक उपयुक्त होती है। यह व्यवसायिक समुदाय को भविष्य के प्रसंविदाओं (contracts) को करने में सहायता प्रदान करती है क्योंकि व्यवसायियों को विनिमय दर के विषय में पूर्ण निश्चित ज्ञान होता है, जो वाणिज्य तथा व्यवसाय की वृद्धि के लिए आवश्यक होता है। (२) विनिमय स्थिरता विदेशी विनिमय सम्बन्धित परिकल्पी क्रियाओं (speculative activity) को रोकती है। इससे इस प्रकार की बुराइयों जैसे एक देश से दूसरे देश में पूँजी का अल्पकालीन परिकल्पी गमनागमन—जिसे उष्ण मुद्रा (hot money) कहते हैं—भी उत्पन्न नहीं होती। और (३) विनिमय स्थिरता एक देश की मुद्रा की साख अन्य विदेशी देशों में अधिक बना देती है क्योंकि चलन के बाह्य मूल्य में आकस्मिक तथा असम्भावित परिवर्तनों से विदेशियों का विश्वास चलन की स्थिरता में कम हो जाता है।

मूल्य स्थिरता से लाभ. (१) मूल्य स्थिरता देश का अधिक आर्थिक विकास सुनिश्चित कर देश के आर्थिक संसाधनों का पूर्णतः प्रयोग करने में सहायक सिद्ध होती है। मूल्य स्थिरता के अभाव में देश के उद्योग, व्यवसाय तथा वाणिज्य का विकास पूर्ण रूप से सम्भव नहीं हो सकता। (२) यदि मूल्य स्थिर नहीं रहता तो मूल्य तथा मजदूरी का सन्तुलन नष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो रही है और मजदूरी तथा वेतन में अनुपातिक वृद्धि नहीं हो रही है तब इससे श्रम सम्बन्धित कठिनाइयाँ तथा सामाजिक संघर्ष उत्पन्न होंगे जिससे लोगों को, विशेषतया स्थिर आय के व्यक्तियों को, अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। (३) यदि मूल्य स्थिर नहीं रहता तब सरकार के व्यय तथा उसके कारण करों की मात्रा में वृद्धि होगी। यदि मूल्य में वृद्धि हो रही है तब सरकारी व्यय में भी वृद्धि होगी जिससे सरकार को बाध्य होकर अधिक कर लगाना पड़ेगा। इसका व्यक्ति तथा उद्योग दोनों पर गम्भीर आर्थिक प्रभाव पड़ता है। और (४) चलन के मूल्य तथा इसके फलस्वरूप सामान्य मूल्य स्तर में हुए परिवर्तन देश में ऋणदाता तथा ऋणी के सम्बन्ध को भी परिवर्तित कर देते हैं। यदि मूल्य स्तर में वृद्धि हो रही है तब यदि ऋणी उस समय के लिए गये ऋण को अदा करता है जब मूल्य स्तर में वृद्धि नहीं हुई थी तो ऋणदाता को वास्तविक रूप में कम मुद्रा वापिस मिलेगी क्योंकि अब वापिस की गई मुद्रा के द्वारा पहले से कम वस्तुयें और सेवाएँ खरीदी जा सकती हैं।

इसके अतिरिक्त दूसरी समस्या जिस पर हमें विचार करना है वह यह है कि क्या चलन स्थिरता के साथ चलन का मूल्य ह्रास (depreciation) अवमूल्यन (devaluation), अधिकुप्यन (debasement), तथा विमुद्रीकरण (demonetisation) इत्यादि भी हो सकता है। इसलिए इन शब्दों के वास्तविक अर्थ को जान लेना अत्यन्त आवश्यक है।

चलन का मूल्यह्रास (currency depreciation). चलन के मूल्य ह्रास का यह अर्थ होता है कि चलन की क्रय शक्ति वस्तुओं और सेवाओं तथा विदेशी चलन के सम्बन्ध में घट गई है। यदि किसी देश में चलन की मात्रा में वस्तुओ और सेवाओं की अपेक्षा अधिक वृद्धि हो जाती है तब उस स्थिति में भी चलन का मूल्य ह्रास हो जायेगा क्योंकि वस्तुओं और सेवाओं के रूप में चलन की क्रय शक्ति कम हो गई है। इसी प्रकार यदि उदाहरण के लिए भारत में निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक होने के कारण विदेशी विनिमय बाजार में रुपये की पूर्ति पौण्ड, डालर तथा फ्रैंक की अपेक्षा अधिक हो जाती है तब रुपये का मूल्य ह्रास हो जायेगा क्योंकि अब प्रत्येक सौ रुपये के बदले में पहले की अपेक्षा कम पौण्ड, डालर तथा फ्रैंक मिलेंगे। चलन की आन्तरिक क्रय शक्ति अथवा विदेशी चलन के रूप में विनिमय मूल्य में होने वाले ठीक इसके विपरीत परिवर्तनों को चलन अधिमूल्यन (appreciation) कहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में चलन का मूल्य ह्रास तथा अधिमूल्यन समय-समय पर बराबर होते रहते हैं।

अवमूल्यन (devaluation). चलन के अतिमूल्यन (overvalue) के दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि चलन का विनिमय दर संस्थिति के विनिमय दर से अधिक है और दूसरा यह कि मुक्त बाजार (free market) में प्रचलित विनिमय दर से चलन का विनिमय दर अधिक है। जब तक हम यह मान नहीं लेते, जैसा कि नहीं माना जा सकता, कि मुक्त बाजार सदैव संस्थिति की स्थिति में अपने आप पहुँच जायेगा तब तक इन दोनों अर्थों का आशय भिन्न-भिन्न है। अधिकांशतः अतिमूल्यन का प्रयोग पहले अर्थ में होता है। इस प्रकार अवमूल्यन का अर्थ उस स्थिति से होता है जिसमें चलन का विनिमय मूल्य घटकर उस स्तर तक आ जाता है जो संस्थिति की दशाओं के अनुकूल हो। भारतीय रुपये का अवमूल्यन सितम्बर १९४९ में किया गया था। इसका मूल्य अमेरिका की चलन के रूप में ३०·२२५ सेण्ट से घटकर २१ सेण्ट प्रति रुपया हो गया (तथा स्वर्ण के रूप में ०·२६८६०१ ग्राम शुद्ध सोने से घटकर ०·१८६६२१ ग्राम शुद्ध सोने के हो गया)। परन्तु पौण्ड के रूप में रुपये का मूल्य वही रहा जो पहले था (एक रुपया = १ शिलिंग ६ पैंस)। इसका अर्थ यह हुआ कि रुपये का अवमूल्यन पौण्ड के रूप में नहीं किया गया। रूपये

का अवमूल्यन इस लिए किया गया कि पौण्ड की अपेक्षा अन्य चलनों के सम्बन्ध में रुपये का अतिमूल्यन हो गया था जिसके परिणामस्वरूप इन देशों के साथ भारत का व्यापार प्रतिकूल होता जा रहा था।

कुछ लोगों का यह मत है कि अवमूल्यन तथा मूल्यह्रास (depreciation) दोनों एक होते हैं क्योंकि दोनों का प्रभाव एक सा होता है। फिर भी इनमें कुछ महत्वपूर्ण अन्तर होते हैं जैसे (१) चलन का मूल्य ह्रास चलन की माँग और पूर्ति में होने वाले उन परिवर्तनों के कारण होता है जो बाजार की शक्तियों के स्वतन्त्र रूप से कार्य करने के कारण उत्पन्न होते हैं परन्तु अन्य चलनों अथवा स्वर्ण के रूप में अवमूल्यन सरकार (अथवा केन्द्रीय बैंक) द्वारा जान बूझ कर किया जाता है, (२) चलन का मूल्य ह्रास आन्तरिक भी हो सकता है तथा बाह्य भी। आन्तरिक मूल्यह्रास उस समय होता है जब देश के भीतर चलन की क्रय शक्ति (वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने की) कम हो जाती है तथा बाह्य मूल्य ह्रास उस समय होता है जब विदेशी चलनों के रूप में एक चलन का मूल्य घट जाता है। परन्तु चलन का अवमूल्यन बहुधा चलन के विदेशी विनिमय मूल्य में कमी होने तक ही सीमित रहता है।

चलन-अधिकुप्यन (Currency debasement). चलन के अधिकुप्यन का अर्थ उस स्थिति से होता है जब चलन की धात्विक मात्रा में कमी या तो निकृष्ट धातु के मिलाने से अथवा केवल धात्विक अंश घटा देने से हो जाती है। सर टामस ग्रेशम के समय में (१५१९-१५७९) इंगलैण्ड में तीव्र अधिकुप्यन हुआ था जिसके परिणाम स्वरूप निकृष्ट चलन (अधिकुप्यित चलन) ने उत्कृष्ट चलनों को प्रचार के बाहर कर दिया। सर टामस ग्रेशम ने इस पर आधारित एक सिद्धान्त बनाया जो **ग्रेशम के नियम** (Gresham's Law) के नाम से विख्यात है। इस नियम के अनुसार निकृष्ट मुद्रायें (bad money) उत्कृष्ट मुद्राओं (good money) को चलन से बाहर कर देती हैं क्योंकि लोग अपने पास उत्कृष्ट मुद्रा रखना (संचय करना) अधिक पसन्द करते हैं तथा लेन-देन सम्बन्धित सभी क्रियाओं को निकृष्ट मुद्राओं के द्वारा करते हैं। यही परिणाम उस समय भी होगा जब चलन का अपघर्षण (abrasion) या तो उसके घिसने या काट छांटकर कम करने के कारण होता है जिससे उसका (चलन का) धात्विक अंश कम हो जाता है। इस प्रकार के निकृष्ट सिक्के उत्कृष्ट सिक्कों को चलन से बाहर कर देते हैं। यदि किसी कारण एक प्रकार की चलन के दुष्प्राप्य हो जाने के कारण (जैसे द्वितीय विश्व युद्ध के उत्तरार्द्ध में भारत में छोटे सिक्कों की कमी) लोग उसी को लेना पसन्द करने लगते हैं तब अन्य चलन (भारत में उस समय रुपये के सिक्के तथा नोट) उसे प्रचलन से बाहर कर देते हैं क्योंकि लोगों की अधिकाधिक प्रवृत्ति

अब उस दुष्प्राप्य चलन को रखने की होती जाती है तथा अन्य प्रकार के सिक्कों द्वारा भुगतान किये जाते हैं। इसी प्रकार यदि एक व्यक्ति के पास कुछ मटमैले तथा खराब नोट हैं और कुछ नये तथा अच्छे नोट हैं तब उसकी सामान्य प्रवृत्ति निकृष्ट प्रकार के नोटों को पहले देने की होती है। वह अन्त तक उत्तम तथा श्रेष्ठ नोटों को अपने पास रखना चाहता है। यह प्रवृत्ति भी एक प्रकार से ग्रेशम के नियम की कार्य पद्धति को समझाती है। इस प्रकार की सभी स्थितियों में खराब चलन अच्छी चलन को प्रचार से बाहर कर देगी। परन्तु आधुनिक युग की मौद्रिक व्यवस्था (monetary system) में इन स्थितियों का कोई महत्व नहीं है। व्यक्ति का एक प्रकार के नोट या सिक्के को रखकर दूसरे प्रकार के नोट या सिक्के से भुगतान करना किसी भी प्रकार से न तो व्यक्ति के लिए और न आर्थिक व्यवस्था में कोई अन्तर उपस्थित करता है। ग्रेशम के नियम का महत्व उस समय था जब स्वर्ण या चाँदी के पूर्ण काय (full-bodied) सिक्के प्रचलित थे तथा अच्छे सिक्कों का वास्तविक मूल्य खराब सिक्कों के वास्तविक मूल्य से कम होता था। आधुनिक युग में सभी नोटों तथा सिक्कों का एक ही मूल्य होता है चाहे वे नये हों अथवा पुराने, चाहे वे मटमैले हों अथवा चमकीले।

चलन का विमुद्रीकरण (Demonetization of currency). चलन का विमुद्रीकरण उस स्थिति में होता है जब सरकार परिचलित चलार्थ की कुछ इकाइयों पर से विधि ग्राह्य (legal tender) अधिकार उठा लेती है। भारत में १९४६ के हाई डिनामिनेशन बैंक नोट आर्डिनेन्स के अनुसार पांच सौ या पाँच सौ रुपये से ऊपर के सभी नोटों की विधि ग्राह्यता समाप्त कर दी गई। यह इसलिए किया गया था जिससे यह पता चल जाय कि किसने कितना चलन संचित करके रखा है तथा किसके पास अवैध तथा अनुचित ढंग से एकत्रित धन कितना है। परन्तु ऊँचे मूल्य के नोटों के विमुद्रीकरण के परिणामस्वरूप जनता का विश्वास भारतीय चलन की सुस्थिरता में कम हो गया जिससे व्यवसायियों को गम्भीर असुविधाओं का सामना करना पड़ा। वे बाध्य होकर ऊँचे मूल्यों के नोटों के बजाय सौ सौ रुपये के नोटों की गड्डी लेकर व्यवसायिक क्रियाओं को करने के लिये जाते थे।

चलन का अधिकुप्यन तथा विमुद्रीकरण दोनों पूर्णतः चलन की स्थिरता के लिए घातक होते हैं। इनका औचित्य किसी भी प्रकार से प्रमाणित नहीं किया जा सकता। कोई भी सरकार (केन्द्रीय बैंक) जो देश में चलन की स्थिरता रखना चाहती है वह इन्हें (अधिकुप्यन तथा विमुद्रीकरण) रोकने की सतत चेष्टा किया करती है, क्योंकि इससे जनता का विश्वास देश की चलन में डिग जाता है और

उसे गम्भीर असुविधाओं का सामना करना होता है। चलन का अवमूल्यन तो एक विशेष परिस्थिति में बाध्य होकर किया जाता है। यह उस समय करना चाहिए जब किसी चलन के वास्तविक विनिमय मूल्य तथा संस्थिति विनिमय मूल्य में भयंकर विषमता आ जाती है या अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के नियम की शब्दावली में जब 'मौलिक असन्तुलन' (fundamental disequilibrium) हो जाता है। अवमूल्यन का उद्देश्य चलन के विनिमय मूल्य को सामान्य स्तर पर लाना होता है। परन्तु मुद्रा का अवमूल्यन यदि केवल कृत्रिम ढंग से निर्यात को बढ़ाने के लिए अथवा आयात को कम करने के लिए किया जाता है—जैसा कुछ देशों ने किया है—तब यह चलन की स्थिरता के अनुरूप नहीं होता। प्रवैगिक अर्थ-व्यवस्था में चलन का मूल्य-ह्रास (depreciation) तथा अधिमूल्यन (appreciation) तो बराबर होता रहता है परन्तु इस प्रकार का केवल सूक्ष्म ही परिवर्तन होना चाहिए क्योंकि किसी भी दिशा में केवल सूक्ष्म परिवर्तन ही चलन की स्थिरता के अनुकूल होता है। चलन की आन्तरिक क्रय शक्ति में तथा बाह्य विनिमय दर में किसी भी प्रकार का अत्यधिक परिवर्तन सरकार द्वारा रोका जाना चाहिए यदि सरकार चलन की स्थिरता सुनिश्चित करना चाहती है।

नोट निर्गम की पद्धतियाँ

चलन की एक महत्वपूर्ण समस्या नोट निर्गम (note issue) की भी है अर्थात देश की केन्द्रीय बैंकिंग सत्ता नोट निर्गम की कौन सी पद्धति का अनुसरण करती है। नोट निर्गम की पद्धति पर ही जनता का चलन में विश्वास अवलम्बित है तथा केन्द्रीय बैंक की वस्तुओं और सेवाओं के अनुपात में नोट की पूर्ति को नियन्त्रित करने की शक्ति भी इसी पर आधारित है। केन्द्रीय बैंक को नोट की पूर्ति इस प्रकार से नियन्त्रित करनी चाहिए जिससे चलन की स्थिरता स्थापित रह सके। यदि नोट निर्गम पद्धति दूषित है तब केन्द्रीय बैंकिंग सत्ता अपने उद्देश्यों के बावजूद भी चलन स्थिरता स्थापित करने में समर्थ नहीं हो सकती। नोट निर्गम की अनेक पद्धतियाँ हैं:

(१) **शत प्रतिशत सुरक्षित पद्धति** (cent percent reserve system). इस पद्धति में नोट के बदले में शत-प्रतिशत स्वर्ण अथवा अन्य धातु सुरक्षित रखे जाते हैं। यदि एक इकाई नोट निकाला जायेगा तब उतने ही मूल्य का स्वर्ण या अन्य धातु सुरक्षित रखना पड़ेगी। आधुनिक युग में इस पद्धति का अनुसरण कोई भी केन्द्रीय बैंक नहीं करता। स्वर्णमान के अन्तर्गत भी या तो निश्चित विश्वासाश्रित प्रणाली (fixed fiduciary system) या अनुपातिक सुरक्षित प्रणाली (propor-

tional reserve system)का अनुसरण किया जाता था। इनकी व्याख्या हम अभी करेंगे । आधुनिक मुद्रण के विकास के पूर्व यूरोप के वैत्तिक केन्द्रों में मौद्रिक परिचलन का स्वरूप भ्रामक था। चूंकि उस समय अनेक क्षेत्रीय सत्तायें भी थीं जो मुद्राओं का निर्गम करती थीं, इसलिए मुद्रा का वास्तविक अथवा स्वर्ण मूल्य निश्चय करना कठिन हो जाता था । इसलिये व्यवसायियों ने विशेषज्ञों (सुनारों) को अपने पास काम पर लगा रखा था जिनका काम प्रचलित सिक्कों की शुद्धता की जांच करना होता था। इस प्रकार मुद्रा संचय करने में लोगों को काफी सहायता मिलती थी। सिक्कों के निक्षेप (deposits) के आधार पर सुनार लोग जमा करने वालों को निक्षेप-प्रपत्र (certificate of deposits) दिया करते थे जिस में जमा किये गये सिक्कों का स्वर्ण के रूप में मूल्य देश की मौद्रिक इकाई के माध्यम से व्यक्त किया जाता था तथा उसे उतनी ही मात्रा में लौटाने का वचन भी दिया जाता था। इस प्रकार के निक्षेप प्रपत्रों पर शत-प्रतिशत स्वर्ण सुरक्षित रखा जाता था। इसलिये इस प्रकार के प्रपत्रों को प्रतिनिधि पूर्ण-काय (full-bodied) मुद्रा कहा जाता था।

इस प्रकार की नोट निर्गम प्रणाली में (१) चलन के अति-निर्गम (over-issue) का भय नहीं रहता क्योंकि प्रति इकाई चलन के पीछे या तो स्वर्ण अथवा अन्य धातु सुरक्षित रखे जाते हैं; (२) देश की सरकार चलन प्रणाली के साथ इधर उधर का अनुत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार नहीं कर सकती तथा चलन की मात्रा का स्वतः नियन्त्रण स्वर्ण या चांदी के आयात तथा निर्यात के साथ-साथ होता रहता है; तथा (३) देश की चलन प्रणाली में जनता का विश्वास भी स्थापित रहता है क्योंकि प्रतिनिधि मुद्रा (representative money) उतनी ही अच्छी होती है जितनी धात्विक मुद्रा।

परन्तु यह प्रणाली दूषित भी है क्योंकि (१) इसमें अधिक लोच नहीं पाया जाता तथा देश का केन्द्रीय बैंक उस समय भी चलन की मात्रा में वृद्धि नहीं कर सकता जब देश के द्रुत आर्थिक विकास के लिए अधिक चलन की आवश्यकता हो; (२) यह प्रणाली अमितव्ययी होती है क्योंकि सोने और चांदी की अधिक मात्रा बेकार सुरक्षित करके रखी जाती है जिसमे राष्ट्रीय आय की हानि होती है; तथा (३) आधुनिक युग में यह प्रणाली अव्यवहारिक है क्योंकि यदि सभी देश इसी प्रणाली का अनुसरण करने लगेंगे तो स्वर्ण तथा अन्य धातुओं की पर्याप्त मात्रा नहीं प्राप्त हो सकेगी ।

(२) निश्चित विश्वासाश्रित निर्गम प्रणाली (Fixed Fiduciary Issue System). इस प्रणाली के अन्तर्गत परिचलित चलार्थ का एक निश्चित अनुपात

ऋणपत्रों (securities) के आधार पर, बिना स्वर्ण या अन्य धातु को रक्षित किये, निर्गम किया जाता है। परन्तु इस निश्चित मात्रा के ऊपर यदि किसी भी प्रकार की वृद्धि परिचलित चलार्थ में की जाती है तब उसके पीछे शत प्रतिशत स्वर्ण अथवा अन्य धातु निधि रखी जाती है। ऋणपत्रों के आधार पर निर्गमित नोटों को विश्वासाश्रित निर्गम कहते है।

निश्चित विश्वासाश्रित प्रणाली (१) स्वर्ण की बचत (economise) करती है और इस सीमा तक यह शत प्रतिशत निधि प्रणाली से श्रेष्ठ है; (२) यह अधिक लोचपूर्ण भी है क्योंकि केवल एक निश्चित मात्रा के बाद ही केन्द्रीय बैंक को शत प्रतिशत स्वर्ण अथवा धातु निधि रखनी होती है, सदा नहीं; तथा (३) यह केन्द्रीय बैंक की प्रचलित चलार्थ को बढ़ाने की शक्ति को नियन्त्रित रखती है जिससे मुद्रा स्फीति की सम्भावना भी कम हो जाती है और साथ साथ जनता का विश्वास भी देश की चलन में बना रहता है। यह बात अधिक महत्व-पूर्ण नहीं है क्योंकि, आवश्यकता पड़ने पर विश्वासाश्रित निधि को बढ़ाया भी जा सकता है तथा केन्द्रीय बैंक बिना स्वर्ण निधि रखे ही परिचलित चलार्थ की मात्रा में वृद्धि कर सकता है।

(३) अनुपातिक निधि प्रणाली (proportional reserve system). अनुपातिक निधि प्रणाली के अन्तर्गत स्वर्ण तथा अन्य धातु निर्गमित चलन के कुल मूल्य के २५ से ४० प्रतिशत अथवा इससे भी अधिक अनुपात में सुरक्षित रखी जाती है। केन्द्रीय बैंक इस अनुपात को सदा बनाए रखता है। अतीत में इस प्रणाली का अनुसरण संयुक्त राज्य अमेरिका में किया गया था। भारत में न्यूनतम निधि प्रणाली (minimum reserve system) के पूर्व अनुपातिक निधि प्रणाली ही थी। १९३४ के रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ऐक्ट के अनुसार निर्गमित नोटों के पीछे ४० प्रतिशत स्वर्ण सिक्के, शुद्ध स्वर्ण तथा पौण्ड ऋणपत्र रखने आवश्यक थे। स्वर्ण मूल्य के रूप में २१·२४ रुपये प्रति तोला (८ तोला बराबर ३ औंस) के भाव से ४० करोड़ रुपये से कम का सोना नहीं होना चाहिए था। शेष ६० प्रतिशत रुपये के ऋणपत्र, रुपये के सिक्कों तथा निर्दिष्ट (prescribed) विनिमय बिलों के रूप में होना चाहिए था बशर्ते कि भारतीय सरकार की प्रतिभूतियाँ ५० करोड़ रुपये अथवा कुल के चौथाई भाग (जो भी अधिक हो) से अधिक नहीं होना चाहिए थीं।

इस प्रणाली में (१) पूर्व दो प्रणालियों की अपेक्षा स्वर्ण की मितव्ययिता अधिक है; (२) यह प्रणाली अधिक लोचपूर्ण भी है क्योंकि निश्चित विश्वा-

साश्रित प्रणाली में ४० करोड़ रुपये के स्वर्ण से केवल ४० करोड़ रुपये का ही अतिरिक्त चलन निकाला जा सकता है, परन्तु अनुपातिक निधि प्रणाली के अन्तर्गत इतने स्वर्ण से १०० करोड़ रुपये का चलन निकाला जा सकता है। इसी प्रकार जब स्वर्ण निधि में कमी कर दी जाती है तब पिछली दो प्रणालियों की अपेक्षा अनुपातिक निधि प्रणाली के अन्तर्गत परिचलित चलन की मात्रा में अधिक कमी हो जाती है; तथा (३) चलन की आंशिक परिवर्तनशीलता भी सुनिश्चित रहती है क्योंकि १०० करोड़ रुपये के चलन के पीछे ४० करोड़ रुपये की स्वर्ण तथा अन्य धातु निधि रखी जाती है। परन्तु व्यवहार में आंशिक परिवर्तनशीलता का वही प्रभाव होता है जो पूर्ण परिवर्तनशीलता का। इसके साथ साथ जनता का विश्वास भी देश की चलन में अच्छी तरह बना रहता है।

(४) **अति-परिसीमन प्रणाली** (Ceiling Limitation System). इसे अधिकतम विश्वासाश्रित निर्गम प्रणाली (Fixed Maximum Fiduciary System) भी कहते हैं। इस प्रणाली के अन्तर्गत देश में नोट निर्गम की एक अधिकतम सीमा सरकार द्वारा निर्धारित कर दी जाती है। इस निर्धारित सीमा से अधिक नोट बिल्कुल नहीं निकाले जा सकते हैं। इग्लैण्ड में प्रचलित निश्चित विश्वासाश्रित प्रणाली से यह भिन्न है क्योंकि उस प्रणाली मे विश्वासाश्रित सीमा का अर्थ चलन की उस न्यूनतम सीमा से होता है जिसका केवल सरकार द्वारा तथा अन्य रक्षित ऋणपत्रों के आधार पर ही निर्गमन किया जा सकता है, परन्तु उस न्यूनतम सीमा से अधिक नोट निर्गम केवल शत प्रतिशत धातु निधि रखकर ही किया जा सकता है। परन्तु अति परिसीमन प्रणाली के अन्तर्गत परिचलित चलार्थ की सर्वाधिक सीमा निश्चित कर दी जाती है तथा उससे अधिक चलन की मात्रा में वृद्धि सरकार के आदेश के बिना बिल्कुल ही नहीं की जा सकती।

नोट निर्गम की इस प्रणाली में (१) स्वर्ण की पूर्ण मितव्ययिता होती है। स्वर्ण निधि का कोई प्रश्न ही नहीं रहता, चाहे केन्द्रीय बैंक भले ही अपनी इच्छानुसार कुछ निधि सुरक्षित रख ले; (२) यह प्रणाली अधिक लोच पूर्ण है। जब चाहें तब नियम में परिवर्तन करके नोट निर्गम की मात्रा में वृद्धि तथा कमी देश की आर्थिक आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर की जा सकती है; तथा (३) प्रगतिशील विधियों का प्रयोग होता है तथा जनता का विश्वास बना रहता है। यह विश्वास किसी स्वर्ण अथवा धात्विक निधि के कारण नहीं वरन् सरकार और केन्द्रीय बैंक द्वारा अनुसरित आर्थिक तथा वैत्तिक नीतियों की सुस्थिरता के कारण होता है।

(५) **न्यूनतम निधि प्रणाली** (Minimum Reserve System). इस प्रणाली के अन्तर्गत स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा सुरक्षित रखी जाती है तथा चलन की मात्रा मे वृद्धि आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकताओं को ध्यान मे रखकर किसी भी सीमा तक की जा सकती है। भारत में द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में यह अनुभव किया गया कि वर्धित आर्थिक क्रियाओं को पूरा करने के लिए अधिक चलन की आवश्यकता होगी और सम्भवतः अनुपातिक निधि प्रणाली के अन्तर्गत यह सम्भव नहीं हो पायेगा क्योंकि सरकार के पास सोने की प्रचुर मात्रा उपलब्ध न थी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के वित्त प्रबन्धन में सुविधा प्रदान करने के लिए १९५६ के रिजर्व बैंक आफ इण्डिया (संशोधित) अधिनियम के अनुसार अनुपातिक निधि प्रणाली के स्थान पर न्यूनतम निधि प्रणाली अपनाई गई। इसमें यह आवश्यक कर दिया गया कि ५१५ करोड़ रुपये के बराबर न्यूनतम चलन सुरक्षित रखी जाय जिसमें वैदेशिक प्रतिभूतियाँ (securities) ४०० करोड रुपये के बराबर (जो विशेष परिस्थितियों में सरकार की पूर्व अनुमति से घटाकर ३०० करोड रुपया किया जा सकता है और साथ साथ न्यूनतम चलन निधि भी ४१५ करोड़ रुपये की जा सकती है), तथा स्वर्ण सिक्के और शुद्ध सोना ११५ करोड़ रुपये के बराबर होना चाहिए। सोने की दर ६२·५० रुपये प्रति तोले अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की दर की समानता के आधार पर निश्चित की गई। परन्तु जब देश में विदेशी विनिमय संकट अधिक गम्भीर हो गया तथा स्वर्ण और वैदेशिक प्रतिभूतियों की कमी हो गई तब अक्टूबर ३१, १९५७ के अध्यादेश (ordinance) और बाद में १९५७ में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट के संशोधन के द्वारा स्वर्ण मुद्राओं, शुद्ध स्वर्ण तथा वैदेशिक प्रतिभूतियों का संयुक्त मूल्य बैंक के निर्गम विभाग के लिए घटाकर २०० करोड़ रुपये के बराबर कर दिया गया जिसमें स्वर्ण सिक्कों तथा शुद्ध स्वर्ण का मूल्य किसी भी समय ११५ करोड़ रुपये से कम नहीं हो सकता। इस प्रकार ११५ करोड रुपये के बराबर स्वर्ण सिक्कों और शुद्ध स्वर्ण, तथा ८५ करोड़ रुपये के बराबर पौंण्ड, रुपये एवं अन्य प्रतिभूतियों की व्यवस्था की जा सकी।

न्यूनतम निधि प्रणाली के दो मुख्य लाभ हैं: (१) स्वर्ण की मितव्ययिता, और (२) चलन की लोचपूर्णता। ये विकासशील आर्थिक व्यवस्था के लिए बहुत लाभप्रद होते हैं क्योंकि इन अर्थव्यवस्थाओं में पूर्ण विकास के लिए चलन की अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है। आधुनिक युग में जनता का विश्वास स्वर्ण तथा अन्य धात्विक निधियों पर नहीं आधारित रहता और न इस बात पर ही आधारित रहता है कि लोग चलन के बदले में सरकार से क्या प्राप्त कर

सकते हैं; वरन् इस बात पर आधारित है कि देश की सरकार तथा केन्द्रीय बैंकिंग सत्ता किस प्रकार की नीति का अनुसरण कर रही है। अतः न्यूनतम निधि प्रणाली के द्वारा जनता का विश्वास उस समय तक पूर्णतः सुनिश्चित रहता है जब तक सरकार तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा अनुसरित मौद्रिक तथा वैत्तिक नीतियाँ सुस्थिर रहती हैं।

(६) **व्यवस्थित चलन** (Managed Currency). प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त संयुक्त राज्य अमेरिका में स्वर्ण अधिक मात्रा में संचित हो गई। यदि अमेरिका की सरकार स्वर्णमान व्यवस्था के नियमों का अनुसरण करती तब अमेरिका में परिचलित चलार्थ की मात्रा मे अत्यधिक वृद्धि हो जाती जिससे वहां मुद्रा स्फीति उत्पन्न हो जाती। अतः अमेरिका की सरकार ने देश की चलन को स्वर्ण निधि से विच्छिन्न रखा। इस प्रकार एक नवीन नीति का जन्म हुआ। "अमरीकियों ने अपनी इस नवीन नीति का—जिसमें चलन का स्वर्ण निधि से कोई सम्बन्ध नहीं था—विस्मरण नहीं किया। इस नीति के अनुसार देश की साख के प्रसार एवं संकुचन करने का निर्णय देश की आर्थिक आवश्यकताओं पर आधारित था। १९२२ में इन लोगों ने 'व्यवस्थित चलन' का आविष्कार किया जिसका अनुसरण वे आज तक करते चले आ रहे हैं। यह ब्रिटेन तथा स्वर्णमान के अन्य देशों में अपनाई गई स्वर्णमान प्रणाली से पूर्णतः भिन्न है। इस नवीन अमरीकी नीति का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि इस नीति ने अन्य देशों के लिए उदाहरण का कार्य किया तथा उनकी आर्थिक चिन्तन प्रणाली को प्रभावित भी किया"।

निहितार्थ (Implications). 'व्यवस्थित चलन' के निम्नलिखित निहितार्थ हैं:—(१) वास्तविक व्यवहार में केन्द्रीय बैंक स्वर्ण या अन्य धातुओं अथवा विदेशी प्रतिभूतियों को अपनी चलन निधि में रख सकता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं है। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि न्यूनतम चलन आरक्षण (reserve) अथवा अन्य आरक्षणों का रखना विधानतः आवश्यक नहीं होता।

(२) इसमें स्वर्ण अथवा अन्य किसी धातुमान से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। चलन के आन्तरिक तथा बाह्य मूल्य नियन्त्रित करने के निर्देशक सिद्धान्त उसकी स्थिरता तथा देश का सुचारु आर्थिक विकास होते हैं। जहाँ तक विदेशी विनिमय की कमी की पूर्ति करने का सम्बन्ध है उसके लिये स्वर्ण तथा अन्य धातु के निर्यात का कोई प्रश्न नहीं है। इस प्रकार के भुगतान या तो 'विनिमय समानीकरण लेखा' अथवा अन्य लेखाओं में रखे गए आरक्षितों (reserves) या अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से विदेशी विनिमय ऋण लेकर किया जा सकता है।

(३) चलन में जनता के विश्वास का प्रश्न तो पूर्णतया छोड़ दिया गया है। वास्तव में जब तक लोगों का विश्वास देश की सरकार में है तब तक तो सब ठीक ही है। चलन को तो लोग अपने आप स्वीकार करते हैं। कोई इस बात के बारे में सोचता भी नहीं कि वह उन नोटों के बदले में कोई अन्य प्रकार की मुद्रा को प्राप्त कर सकता है या नही।

(४) प्रबन्धित चलन के सम्बन्ध में उस प्रकार के पुराने भय तो उत्पन्न ही नही होते कि यदि केन्द्रीय बैंक अज्ञानवश अथवा विमर्शित कुचेष्टा (mischievous) मे असीमित नोट निर्गम करने के अधिकार का दुरुपयोग करे तो बड़ा अनिष्ट हो जायेगा। वास्तव में आधुनिक युग में यह बिल्कुल सारहीन है। चलन की उचित व्यवस्था पर सरकार की भी स्थिरता आधारित है। इसके अतिरिक्त बहुत से नियन्त्रण तथा समतोलन (balances) भी होते हैं जिससे इस प्रकार का अहित-कर तथा अविवेकपूर्ण व्यवहार सम्भव नहीं है। आज के युग में मौद्रिक नियन्त्रण की अधिक उत्कृष्ट प्रणालियाँ भी हैं। इन सबसे केन्द्रीय बैंक अब इस बात से पूर्ण सजग हो गए हैं कि उनकी चलन नीति का उद्देश्य राष्ट्रीय हित की सर्वोत्तम प्रकार से रक्षा करना है।

अन्य प्रणालियों की अपेक्षा व्यवस्थित चलन प्रणाली से निम्नलिखित लाभ होते हैं:—(१) इसमें स्वर्ण की मितव्ययिता होती है। चलन प्रणाली के लिये यह बात महत्वपूर्ण नहीं है कि स्वर्ण का उत्पादन घट रहा है या बढ़ रहा है, अथवा उप-लब्ध स्वर्ण विश्व के किसी एक देश में केन्द्रित है। संक्षेप में, व्यवस्थित चलन के अन्तर्गत विभिन्न देशों की चलन नीति तथा स्वर्ण की उत्पादन पूर्ति और गमना-गमन में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहता। (२) केन्द्रीय बैंक का विवेक चलन आरक्षणों की आवश्यकताओं द्वारा सीमित नहीं रहता। बिना किसी हिचक या रुकावट के या तो आर्थिक विकास के लिये अथवा चलन की सामयिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये परिचलित चलार्थ की मात्रा में प्रसार तथा अवसाद या मन्दी के समय में संकुचन किया जा सकता है। (३) व्यवस्थित चलन प्रणाली सरकार तथा केन्द्रीय बैंक को न केवल चलन के आन्तरिक मूल्य में वरन् बाह्य मूल्य में भी स्थिरता लाने में सहायता प्रदान करती है। इस प्रणाली को आदर्श प्रणाली कहा जा सकता है क्योंकि इससे सर्वाधिक राष्ट्रीय हित के साथ साथ पूर्ण अन्त-र्राष्ट्रीय सहयोग भी सुनिश्चित होता है।

अध्याय ३

बैंक साख

(Bank Credit)

बैंक साख मुद्रा का एक दूसरा महत्वपूर्ण रूप होता है। सामान्य बोलचाल की भाषा में साख से तात्पर्य सम्मान, ख्याति तथा प्रतिष्ठा से होता है जो यह बतलाते हैं कि एक व्यक्ति की स्थिति तथा उसकी ऋण भुगतान करने की क्षमता तथा इच्छा में लोगों का कितना विश्वास है। परन्तु हम लोगों के लिए साख का एक विशेष महत्व है तथा इससे तात्पर्य 'एक व्यक्ति के विवेक पर रखी गई बैंक में धन राशि से है जिस पर वह रुपया निकाल सकता है'।

महत्व. बैंक साख का सबसे बड़ा महत्व यह होता है कि कुल परिचलित मुद्रा की मात्रा में चलन तथा साख सम्मिलित होते हैं। साख भुगतान करने के लिए उतना ही अच्छा होता है जितना कि चलन। यदि केन्द्रीय बैंक द्वारा निकाली गई चलन की मात्रा अपरिवर्तित रहती है परन्तु बैंक साख में वृद्धि हो जाती है, तब इसका वही प्रभाव होगा जो चलन में वृद्धि का होता। बैंक साख के द्वारा उत्पादक पूँजी पदार्थों (capital goods) जैसे मशीन, संयंत्र, कच्चे माल तथा उत्पादन प्रक्रिया में वांछित अन्य पदार्थों को ठीक उसी प्रकार खरीद सकते हैं जिस प्रकार राज्य मुद्रा (परिचलित चलार्थ) के द्वारा। उपभोक्ता बैंक साख द्वारा अपनी जरूरत की वस्तुयें खरीद कर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं। ऋणी भी अपने ऋण का भुगतान इसके द्वारा कर सकते हैं। यदि चलन के साथ साथ बैंक साख की पूर्ति में भी अत्यधिक वृद्धि हो जाती है तब इससे मुद्रा स्फीति उत्पन्न हो सकती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक युग में बैंक साख उतना ही अच्छा होता है जितना कि राज्य मुद्रा।

यदि हम संयुक्त स्थिति लें तब राष्ट्रीय आय पर विचार या तो हम मुद्रा के रूप में अथवा सम्पूर्ण वस्तुओं और सेवाओं के रूप में कर सकते हैं। भारत की कुल राष्ट्रीय आय मान लीजिए १०,००० करोड़ रुपये है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक वर्ष में १०,००० करोड़ रुपये मूल्य के बराबर वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन हुआ तथा जिसके परिणामस्वरूप लोगों को मजदूरी, वेतन, कच्चे मालों के मूल्य, इत्यादि में १०,००० करोड़ रुपये नकद मिले। उत्पादित वस्तुयें और सेवायें दो प्रकार की होती हैं। एक तो उपभोग पदार्थ (consumer goods) जैसे

गेहूँ मक्खन, अंडे और दूसरी पूँजी पदार्थ (capital goods) जो उपभोग नहीं की जा सकतीं तथा काफी समय तक चलती हैं। मान लीजिए १०,००० करोड़ रुपये कुल राष्ट्रीय आय में से ८,००० करोड़ रुपये का लोग उपभोग करते हैं तथा २,००० करोड़ रुपये की बचत करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि एक वर्ष में ८ हजार करोड़ रुपये के मूल्य की वस्तुओं का उपभोग किया जाता है तथा २ हजार करोड़ रुपये के मूल्य के बराबर वस्तुएँ (जिसे पूँजी पदार्थ या विनियोग पदार्थ कहते हैं) अनुपभुक्त (unconsumed) रह जाती हैं। जो लोग इन पूँजी पदार्थों अथवा विनियोग पदार्थों का प्रयोग और अधिक उत्पादन के लिए करना चाहते हैं उन्हें उन व्यक्तियों से उधार लेना पड़ता है जिन लोगों ने बचा कर रखा है, क्योंकि संयुक्त चित्र लेने पर ये पूँजी तथा विनियोग पदार्थ लोगों की बचाई हुई मुद्रा के प्रतिरूप (counterpart) होते हैं। यदि उत्पादक इन बचाई हुई मुद्राओं को उधार ले लेता है तब उसका इन पूँजी तथा विनियोग पदार्थों पर पूर्ण अधिकार हो जाता है।

मान लीजिए जिन व्यक्तियों ने मुद्रा बचा कर रखी है वे ऋण देने से इनकार कर देते हैं या वे इतनी ऊँची ब्याज की दर मांगते हैं जो उत्पादक देना स्वीकार नहीं करता। उत्पादक अथवा अन्य कोई भी व्यक्ति जो मुद्रा चाहता है, बैंक से ऋण ले सकता है। यहाँ महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उत्पादक उन पूँजी पदार्थों को, जो अर्थ व्यवस्था में व्यर्थ पड़ी हुई हैं बैंक साख के सहारे खरीद सकता है। यह बात बिल्कुल सारहीन है कि उत्पादक उन व्यक्तियों से उधार लेता है जिन्होंने बचाकर रखा है अथवा बैंक से उधार लेता है। सारपूर्ण यहाँ पर केवल इतना ही है कि उसे पूँजी तथा विनियोग पदार्थ उपलब्ध हो पा रहे हैं अथवा नहीं। यहाँ पर हमें इस बात को ध्यानपूर्वक स्मरण रखना चाहिए कि साख पूँजी नहीं होती परन्तु साख पूँजी पदार्थों को प्राप्त करने में सहायता प्रदान करती है। जब उत्पादक बैंक साख लेता है तब उसका पूँजी पदार्थों पर अधिकार ठीक उसी प्रकार से हो जाता है जिस प्रकार पूँजी को लोगों की बचत से उधार लेने से हो जाता है। यहाँ पर इस बात को भी भली भाँति समझ लेना चाहिए कि साख तथा चलन एक ही नहीं होते वरन् साख चलन से भिन्न होती है। इसी कारण से बैंक साख को सृजित मुद्रा (created money) का नाम दिया गया है।

बैंक साख का सृजन. जैसा कि व्यावसायिक बैंक व्यवस्था के अध्याय में विस्तार के साथ समझाया गया है, व्यावसायिक बैंकों को साख निक्षेप (credit deposits) सृजन करने का अधिकार रहता है। ये निक्षेप बैंक साख कहलाते

हैं तथा ये उतने ही अच्छे होते हैं जितनी मुद्रा। इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात यह है कि इस प्रकार की बैंक साख कुल परिचलित मुद्रा की मात्रा के अतिरिक्त होती है तथा यह वही कार्य करती है जो मुद्रा करती है। कुल मुद्रा पूर्ति में इसका अनुपात अधिक होता है—कभी-कभी तो कुल का ⅘ भाग होता है। अधिक अनुपात पश्चिम के अधिक विकसित देशों में होता है तथा भारत जैसे आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों में इसका अनुपात अपेक्षाकृत कम रहता है।

चूँकि इस प्रकार की सृजित मुद्रा का सामान्य मूल्य पर ठीक वही प्रभाव पड़ता है जो केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित चलनों तथा सिक्कों का, अतः केन्द्रीय बैंक के लिए बैंक साख पर नियन्त्रण रखना अत्यन्त आवश्यक हो गया है। केन्द्रीय बैंक सत्ता कई प्रकार से नियन्त्रण रखती है—(१) व्यावसायिक बैंकों के लिए यह आवश्यक कर दिया जाय कि वे अपनी अवधि तथा मांग देयता (time and demand liabilities) का एक निश्चित भाग केन्द्रीय बैंक के पास नकद के रूप में रखें; (२) केन्द्रीय बैंक को यह शक्ति दी जाय कि यदि वह बैंक साख का संकुचन करना चाहे तो नकदी अनुपात (cash ratio) को बढ़ा सके; (३) वरणात्मक साख नियन्त्रण (selective credit control) सदृश अन्य युक्तियों द्वारा। वरणात्मक साख नियन्त्रण के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक व्यावसायिक बैंकों पर साख निर्गम करने के सम्बन्ध में नियन्त्रण लगा देता है; (४) केन्द्रीय बैंक व्यावसायिक बैंकों को मैत्रीपूर्ण ढंग से समझा बुझाकर अर्थ-व्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुसार साख में प्रसार अथवा संकुचन करने के लिए प्रेरित कर सकता है।

साख-पत्र

साख-पत्रों (instruments of credit) से अभिप्राय चैकों, ड्राफ्टों तथा विनिमय बिलों इत्यादि से होता है जिनके प्रयोग से बैंक में अपने निक्षेपों से रुपया निकाला जा सकता है। ये साख-पत्र मुद्रा नहीं होते। मुद्रा उस बैंक निक्षेप को कहते हैं जिसका प्रयोग देय (dues) भुगतान करने के लिए किया जाता है। ये साख पत्र तो केवल साधन होते हैं जिनके द्वारा मुद्रा (बैंक निक्षेपों) का हस्तान्तरण एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को किया जाता है। साख पत्र निम्न-लिखित प्रकार के होते हैं :—

चैक. चैक बैंक में रुपया जमा करने वाले का अपने बैंक के लिये ही एक लिखित आदेश है जिसके द्वारा उसके खाते में से आदेश प्राप्त करने वाले को, अथवा अन्य व्यक्ति जिसका नाम लिखा रहता है, आदेशानुसार अंकित रुपया दिया जाता है।

यदि चैक वाहक को भुगतान करने के लिये रहता है तब उसे वाहक चैक (bearer cheque) कहते हैं, तथा यदि वह आदेशित व्यक्ति के भुगतान के लिये होता है तब उसे आदेशित चैक (order cheque) कहते है। चैक को दो समानान्तर रेखायें खींचकर तथा रेखाओं के भीतर & Co. शब्द लिख कर रेखांकित चैक (crossed cheque) भी बनाया जा सकता है। चैक का उद्देश्य बैंक निक्षेप को एक व्यक्ति के नाम से दूसरे व्यक्ति के पास हस्तान्तरित करना होता है। यदि दोनों व्यक्तियों का हिसाब उसी बैंक में है तब हस्तान्तरण का कार्य बैंक स्वयं कर लेता है। परन्तु यदि उनका हिसाब भिन्न-भिन्न बैंकों में है तब हस्तान्तरण का कार्य निकासी गृहों (clearing houses) द्वारा किया जाता है। यदि चैक रेखांकित है तब उस पर अंकित रकम आदाता (payee) के खाते में ही हस्तान्तरित की जा सकती है। परन्तु यदि चैक रेखांकित नहीं है तब आदाता उसे बैंक में प्रस्तुत कर उसके बदले में उतना ही नक़द रुपया ले सकता है।

ड्राफ्ट. ड्राफ्ट एक प्रकार का चैक होता है जो एक बैक दूसरे बैंक को लिखता है। बैंक ड्राफ्ट द्वारा भुगतान वाहक को नहीं किया जा सकता अन्यथा उसका उद्देश्य वही हो जायेगा जो बैंक नोट का होता है। अतः ड्राफ्ट पर भुगतान व्यक्ति के नाम में किया जाता है अथवा उसके द्वारा आदेशित व्यक्ति को। इसको स्वतन्त्र रूप से उस प्रकार से नहीं परिचालित किया जा सकता जिस प्रकार से बैंक नोट को किया जाता है। ड्राफ्ट का प्रयोग उस समय किया जाता है जब मुद्रा को या तो देश के भीतर एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाना होता है अथवा एक देश से दूसरे देश में भेजना होता है। यह बैंक निक्षेपों को एक नाम से दूसरे नाम में चैक की अपेक्षा सस्ते तथा शीघ्रतापूर्वक हस्तान्तरित करने का एक साधन है।

हुण्डी. हुण्डी के दो स्वरूप हो सकते हैं। एक तो दर्शनी हुण्डी जिस पर तुरन्त भुगतान किया जा सकता है। यह चैक से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। दूसरी मुद्दती हुण्डी जो विनिमय बिल के सदृश होती है तथा जिस पर भुगतान एक निश्चित अवधि के पश्चात किया जाता है। यह एक नाम से दूसरे नाम अथवा एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को निक्षेप हस्तान्तरित करने की प्राचीनतम विधियों में से एक है। इसका प्रयोग भारतीय देशीय बैंक बहुत समय से करते चले आ रहे हैं। उदाहरणार्थ, यदि इलाहाबाद का एक व्यक्ति बम्बई के दूसरे व्यक्ति को भुगतान करना चाहता है तब वह श्राफ (देशीय बैंकर) के लिये एक हुण्डी भेज सकता है और मुद्रा का हस्तान्तरण इस व्यक्ति के नाम से उस व्यक्ति को हो जायेगा।

विनिमय बिल. विनिमय बिल एक लिखित पत्र होता है जिसमें लिखने वाले की ओर से किसी व्यक्ति को ऐसा आदेश दिया जाता है कि वह किसी व्यक्ति को अथवा उसके आदेशानुसार या इस पत्र को प्रस्तुत करने वाले को, उसी समय अथवा भविष्य में एक निश्चित राशि का भुगतान कर दे। ऋणदाता (creditor) विनिमय बिल देता है तथा ऋणी उसे स्वीकार करता है अथवा अपनी ओर से स्वीकार करने वाले गृहों (accepting houses) से स्वीकार करवाता है, जिसमें इस बात का वचन दिया जाता है कि बिल में अंकित राशि का भुगतान एक निश्चित भावी तिथि पर करेंगे। इस प्रकार विनिमय बिल एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के नाम में बैंक निक्षेपों का हस्तान्तरण भी करता है। विनिमय बिलों से सबसे बड़ा लाभ यह है कि इनसे विक्रेता (ऋणदाता) को अपनी वस्तुओं के बदले में क्रेता (ऋणी) के भुगतान करने के पूर्व ही प्राप्त हो जाता है। यह लाभ पूर्वप्रापण (discounting) की प्रक्रिया द्वारा ही सम्भव हो सका है। विनिमय बिल को प्राप्त करने वाले अथवा उसके बैंक द्वारा स्वीकृत हो जाने पर ही मुद्रा बाजार में पूर्वप्रापित (discounted) किया जा सकता है। मान लीजिए कि विनिमय बिल १००० रुपया का है तथा इसकी अवधि ३ महीने की है। यदि बैंक अग्रिम प्रदान की गई मुद्रा पर ६ प्रतिशत ब्याज लेते हैं तो इस बिल पर ३ माह का ब्याज १५ रुपये होगा। बैंक अथवा बट्टाघर गृह (discounting house) इस बिल को ९८५ रुपये देकर ही ले लेगा क्योंकि वह १५ रुपये ब्याज के कम कर देगा। यदि बैंक आवश्यक समझेगा तो वह इसी विनिमय बिल को किसी दूसरे बैंक अथवा केन्द्रीय बैंक को पुनः पूर्वप्रापित (discount) कर देगा। अवधि पूरी हो जाने पर यह बिल जिसके पास भी हो वह लिखने वाले (drawee) को इसे देकर रुपया ले सकता है। विनमय बिल न केवल देश के भीतर ही वस्तुओं के क्रय-विक्रय में सहायता पहुँचाता है वरन् एक देश से दूसरे देश के लेन-देनों को भी सम्पन्न करने में काफी सहायक होता है। यह नियमित करने वालों को निश्चित समय के बहुत पहले ही भुगतान प्राप्त करने में समर्थ बनाता है। पूर्वप्रापण की प्रक्रिया के द्वारा वह विनिमय बिल को या तो आयात करने वाले देश के बाजार में अथवा अन्य किसी मुद्रा बाजार में भुना सकता है। बैंकिंग व्यवस्था के लिये भी विनिमय बिल बहुत लाभप्रद होता है क्योंकि इसके द्वारा बैंक के तरल संसाधनों का प्रयोग उचित ढंग से सम्भव हो पाता है।

निकासी गृह. निकासी गृह (clearing house) उस स्थान को कहते हैं जहाँ विभिन्न बैंकों के प्रतिनिधि एक दूसरे बैंक को चैक देने से सम्बन्धित हिसाबों

को मिला करके एक दूसरे के नाम में जमा कर लेते हैं। मान लीजिए दो बैंक अ और ब हैं। यह सम्भव हो सकता है कि अ ने ब के नाम उतने ही रुपये के चैक दिये हैं जितने कि ब ने अ के नाम दिये थे। ऐसी स्थिति में केवल वही में ही हिसाब को चढ़ाकर हिसाब ठीक कर लिया जायेगा; मुद्रा के वास्तविक हस्तान्तरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु यदि अ बैंक को ब बैंक से अधिक रुपया प्राप्त करना है तब ब बैंक अ को नकद मुद्रा नहीं प्रदान करेगा वरन् ब बैंक अ बैंक को अपनी केन्द्रीय बैंक में जमा के आधार पर एक चैक दे देगा। इसी प्रकार 'सृजित मुद्रा' की वास्तविक कार्य प्रणाली में चलन के प्रयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती।

अध्याय ४

मुद्रा का मूल्य

(Value of Money)

वस्तुओं और सेवाओं तथा मुद्रा के मूल्य से आशय विनिमय-मूल्य (value-in-exchange) से होता है। एक वस्तु के विनिमय मूल्य को अन्य वस्तुओं के रूप में व्यक्त किया जा सकता है तथा हम यह कह सकते हैं कि एक मीटर कपड़े का विनिमय मूल्य चार किलो गेहूँ के बराबर है। परन्तु मुद्रा अर्थव्यवस्था (money economy) में वस्तुओं के मूल्य को मुद्रा के रूप में व्यक्त किया जाता है तथा हम यह कह सकते हैं कि एक मीटर कपड़े का मूल्य दो रुपया है और चार किलो गेहूँ का मूल्य दो रुपया है। इस प्रकार मूल्य (value) और कीमत (price) दोनों का अर्थ प्रायः एक ही होता है।

मुद्रा के मूल्य[1] से तात्पर्य मुद्रा की क्रय शक्ति से होता है। अतः इसको वस्तुओं और सेवाओं के रूप में अभिव्यक्ति किया जाता है। इस कथन से कि एक रुपये का मूल्य एक रुपये के बराबर है, तथा पाँच रुपये का मूल्य एक रुपये के पाँच गुने के बराबर है कोई लाभप्रद उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती। अतः जहाँ तक मुद्रा का सम्बन्ध है इसके लिए मूल्य और कीमत का एक अर्थ नहीं होता। वास्तव में मुद्रा की कीमत जैसी कोई सार्थक चीज नहीं होती; केवल मुद्रा के मूल्य का ही सारपूर्ण अर्थ होता है।

---

१. 'मुद्रा के मूल्य' का प्रयोग इन दो आशयों में भी किया जाता हैं: (१) वास्तविक मूल्य (intrinsic value) तथा (२) विनिमय मूल्य (value-in-exchange)। वास्तविक मूल्य का अर्थ मुद्रा के अंतरवस्तु अंश के मूल्य से होता है। सॉवरेन का वास्तविक मूल्य उसमें निहित स्वर्ण की मात्रा के मूल्य के बराबर होता था तथा भारतीय रुपये का वास्तविक मूल्य रुपये के धात्विक अंश के मूल्य के बराबर (जो लगभग २० नये पैसे के है) होता है।

मुद्रा के विनिमय मूल्य से तात्पर्य एक देश में प्रयुक्त मुद्रा का मूल्य अन्य देश में प्रचलित मुद्रा के रूप में होता है, जैसे एक रुपये का विनिमय मूल्य १ शिलिंग ६ पैंस के बराबर होता है। परन्तु इस अध्याय में मुद्रा के मूल्य से तात्पर्य न तो उसके वास्तविक मूल्य से है और न उसके विनिमय मूल्य से ही। यहाँ मुद्रा के मूल्य से आशय केवल देश की वस्तुओं और सेवाओं को क्रय करने की शक्ति से है।

मूल्य के सामान्य सिद्धान्त से सम्बन्ध. यद्यपि मूलतः मूल्य का सामान्य सिद्धान्त (general theory of value) तथा मुद्रा का सिद्धान्त एक ही होता है, परन्तु मूल्य का सामान्य सिद्धान्त अपने सामान्य रूप में मुद्रा के मूल्य को निर्धारित करने के लिये पर्याप्त नहीं है। मूल्य के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार संस्थिति में एक वस्तु की कीमत (मूल्य) एक ओर तो उसकी उत्पादन लागत के तथा दूसरी ओर उसकी सीमान्त उपयोगिता के बराबर होती है। परन्तु इस विधि का प्रयोग हम मुद्रा के मूल्य निर्धारण करने में नहीं कर सकते क्योंकि (१) मुद्रा की कोई उत्पादन लागत नहीं होती, या यदि उत्पादन लागत होती भी है तो उसका मुद्रा के मूल्य निर्धारण करने में कोई विशेष स्थान नहीं होता; (२) मुद्रा की मांग द्रव्य के लिए नहीं की जाती वरन् इसलिए की जाती है कि इससे वस्तुएँ ओर सेवायें खरीदी जा सकती हैं, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता भी होती है; तथा (३) सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि मूल्य के सामान्य सिद्धान्त का सम्बन्ध स्वभावतः व्यष्टिभावी (micro economic) अर्थशास्त्र से होता है तथा किसी वस्तु (जैसे पेंसिल) का मूल्य निर्धारित करने के लिए केवल पेंसिल की माँग और पूर्ति पर ही विचार करना पर्याप्त होगा। हम पेंसिल की उत्पादन लागत तथा उसकी उपयोगिता को ज्ञात करके यह कह सकते हैं कि संस्थिति में पेंसिल की कीमत ३० नये पैसे है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक पेंसिल को बनाने में औसत लागत तथा संस्थिति में सीमान्त (margin) पर उपभोक्ताओं के लिए उसकी उपयोगिता ३० नये पैसे के बराबर है। यदि पेंसिल की पूर्ति अथवा माँग किसी में भी परिवर्तन होता है तब हम पेंसिल की उत्पादन लागत में हुए परिवर्तनों का परिकलन करके पेंसिल की दी हुई उपयोगिता सारणी के सहारे यह पता लगा सकते हैं कि पेंसिल के मूल्य में कितना परिवर्तन होगा। परन्तु मुद्रा का मूल्य तो समष्टिभावी अर्थशास्त्र (macro economics) की श्रेणी के अन्तर्गत आता है। इसका अर्थ यह हुआ कि मुद्रा के मूल्य (मुद्रा की क्रय शक्ति) की जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें सभी वस्तुओं और सेवाओं की संयुक्त मांग (aggregate demand) पर विचार करना चाहिए क्योंकि इसी के (संयुक्त मांग के) द्वारा ही हम मुद्रा की कुल माँग तथा कुल पूर्ति को जान कर उसके मूल्य का निर्धारण कर सकते हैं। इसी कारण मूल्य का सामान्य सिद्धान्त अपने सामान्य रूप में मुद्रा के मूल्य निर्धारण की व्याख्या व्यापक रूप में नहीं कर सकता। परन्तु सौभाग्यवश हम लोगों के लिए संयुक्त रूप में मांग और पूर्ति की प्रणाली भी उपलब्ध है जिसका प्रयोग समष्टिभावी अर्थशास्त्र में भी किया जा सकता है यद्यपि इसमें मांग और

पूर्ति का अर्थ कुछ बदल जाता है। अतः मुद्रा के मूल्य का निर्धारण हम संयुक्त मांग तथा संयुक्त पूर्ति वक्र अथवा संयुक्त मांग और पूर्ति की सारणी (schedule) द्वारा कर सकते हैं।

यदि हम किसी प्रकार व्यष्टिभावी आर्थिक विधि का प्रयोग कर सकें और यदि एक पेंसिल का मूल्य एक रुपये हो तो हम यह कह सकते हैं कि एक रुपये का मूल्य १ पेंसिल है। यदि एक के स्थान पर दो पेंसिलें एक रुपये में खरीदी जा सकें तो मुद्रा का मूल्य दुगुना हो जायेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि जब पेंसिल की कीमत आधी हो जाती है तब मुद्रा का मूल्य दुगुना हो जाता है। इसी प्रकार यदि पेंसिल की कीमत घट कर एक रुपये की एक तिहाई (३३$\frac{1}{3}$ नये पैसे) हो जाती है तब मुद्रा का मूल्य तिगुना हो जायेगा। इस प्रकार मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन सामान्य मूल्य में परिवर्तन के विपरीत होता है। जिस सीमा तक पेंसिल की कीमत घटती है उसी सीमा तक मुद्रा के मूल्य में वृद्धि हो जाती है। परन्तु केवल पेंसिल ही एक वस्तु नहीं है जो रुपये के द्वारा खरीदी जा सकती है। अतः हम केवल पेंसिल के रूप में ही मुद्रा के मूल्य पर विचार नहीं कर सकते। मुद्रा के मूल्य का पता लगाने के लिये हमें उन सभी वस्तुओं पर विचार करना होगा जो रुपये द्वारा खरीदी जा सकती हैं। यदि देश के व्यक्तियों द्वारा सभी वस्तुओं पर किये गये मुद्रा के व्यय को जोड़ लें तब हमें मुद्रा की सम्पूर्ण मांग (aggregate demand) का पता लग जायेगा जो मुद्रा की सम्पूर्ण पूर्ति (केन्द्रीय बैंक निर्गमित मुद्रा तथा बैंक साख) के साथ मुद्रा के मूल्य का निर्धारण करेगी। परन्तु चूंकि कोई ऐसी विधि नहीं है जिससे एक रुपये के मूल्य के बराबर वस्तुओं और सेवाओं के रूप में 'सम्पूर्ण मांग' व्यक्त की जा सके, इसलिये एक रुपये का मूल्य (क्रय शक्ति) का पता उसी प्रकार से नहीं लगा सकते जिस प्रकार से हम उस समय लगा लेते जब केवल पेंसिल ही खरीदी जा रही हो। इस स्थिति में तो हम सरलता पूर्वक रुपये का मूल्य एक पेंसिल, आधी पेंसिल या एक-तिहाई पेंसिल के रूप में व्यक्त कर सकते हैं।

सम्पूर्ण (aggregates) के बारे में केवल इतना ही सम्भव है कि हम एक ऐसे औसत मूल्य की कल्पना करें जिस पर विभिन्न वस्तुओं की सम्पूर्ण मांग तथा सम्पूर्ण पूर्ति समान हो। जैसा कि हमने ऊपर देखा है, मूल्य (price) में परिवर्तन के साथ-साथ मुद्रा के मूल्य (value) में विपरीत परिवर्तन होता है। इस लिये हम यह कह सकते हैं कि सामान्य मूल्य स्तर में वृद्धि होने के साथ-साथ मुद्रा के मूल्य में अनुपातिक कमी होगी। अन्य शब्दों में, यदि सामान्य मूल्य स्तर में २०% वृद्धि हो तो, अन्य बातों के स्थिर रहने पर, मुद्रा के मूल्य में २०%

कमी हो जायेगी तथा यदि सामान्य मूल्य स्तर में २०% कमी हो जाये तो मुद्रा के मूल्य में २०% वृद्धि हो जायेगी। इस प्रकार; मांग और पूर्ति की विधि (सम्पूर्ण के रूप में) का प्रयोग यदि मुद्रा के सिद्धान्त में किया जाय तब हमें एक विधि मालूम हो जाती है जिससे हम मुद्रा के मूल्य में हुये परिवर्तनों को जान सकें। परन्तु किसी निश्चित समय मुद्रा का मूल्य क्या है, यह हम ठीक-ठीक नहीं बतला सकते क्योंकि एक रुपये के मूल्य के बराबर सम्पूर्ण वस्तुओं को और सेवाओं को नहीं बतला सकते जिनका सम्बन्ध सामान्य मूल्य स्तर से होता है। मांग और पूर्ति की प्रणाली औसत मूल्य स्तर में हुये परिवर्तनों की सीमा को दिखलाती है, जिससे मांग और पूर्ति में परिवर्तनों के साथ-साथ मुद्रा के मूल्य में हुये परिवर्तनों का भी पता चल जाता है क्योंकि मुद्रा का मूल्य सामान्य मूल्य स्तर का तदनुरूप (reciprocal) होता है। मुद्रा के मूल्य निर्धारण में मांग और पूर्ति प्रक्रिया का प्रयोग करना मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त तथा अन्य सिद्धान्तों का है।

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त

मुद्रा का परिमाण सिद्धांत (Quantity Theory of Money), जो अपरिष्कृत रूप में १६वीं शताब्दी में तथा बाद में इर्विंग फिशर तथा अन्य अर्थशास्त्रियों द्वारा संशोधित करके प्रस्तुत किया गया, मुद्रा की मात्रा (quantity) तथा उसके मूल्य में एक प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करता है। इर्विंग फिशर ने अपना ध्यान उन सभी लेन-देनों (transactions) पर केन्द्रित किया जो मुद्रा के द्वारा किये जाते हैं। इसीलिए उनके सिद्धांत को परिमाण सिद्धांत का लेन-देन वाला रूप (transactions version) कहा जाता है। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को भिन्न रूप में मार्शल तथा अन्य कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने प्रस्तुत किया। इन लोगों ने लेन-देन की संख्या पर विचार नहीं किया वरन् कुल राष्ट्रीय आय को दृष्टि में रख कर अपना ध्यान उन नकद शेषों (cash balances) पर केन्द्रित किया जिन्हें लोग अपने पास रखना चाहते हैं। इसलिये उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये परिमाण सिद्धान्त के रूप को नक़द शेष उपगमन (cash balance approach) कहा जाता है तथा उनके द्वारा प्रयुक्त किये गए समीकरण को मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का कैम्ब्रिज समीकरण कहते हैं।

जैसा कि ऊपर समझाया जा चुका है, मुद्रा की सम्पूर्ण पूर्ति तथा सम्पूर्ण मांग के द्वारा मुद्रा के मूल्य का निर्धारण किया जा सकता है। लेन-देन तथा नक़द शेष उपगमन दोनों ऐसा करते हैं। अन्तर केवल उनके सम्पूर्ण मांग तथा सम्पूर्ण पूर्ति

के विचार में है। इसके अतिरिक्त वे अर्थ-व्यवस्था में सन्तुलन स्थापित करने वाले विभिन्न तत्वों पर अलग-अलग ढंग से जोर देते हैं।

लेन-देन उपगमन (transactions approach)

किसी समय उपलब्ध मुद्रा की कुल पूर्ति के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित मुद्रा जिसे हम **म** कह सकते हैं, तथा बैंक साख जिसे **म'** कह सकते हैं सम्मिलित हैं। आइए अब हम केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गम की गई कुल मुद्रा में से दस रुपये के नोट पर विचार करें। एक व्यक्ति दुकानदार को २० किलो गेहूँ के बदले में दस रुपया दे सकता है, तथा दुकानदार उसी दस रुपये को थोक विक्रेता को चीनी के बदले में दे सकता है, तथा थोक विक्रेता उसी दस रुपये को किसी वस्तु के उत्पादक को दे सकता है। इस प्रकार एक दस रुपये का नोट तीन दस-रुपये के नोट अर्थात तीस रुपये का कार्य सम्पादन करता है। इसी बात को यह कह कर व्यक्त किया जा सकता है कि मुद्रा का परिचलन प्रवेग (velocity of circulation) ३ है। अत: सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था में कुल मुद्रा की पूर्ति का पता लगाने के लिए हमें न केवल मुद्रा की मात्रा पर वरन् उसके परिचलन प्रवेग पर भी ध्यान देना होगा। मान लीजिए **म** = १००० करोड़ रुपये है तथा मुद्रा की प्रति इकाई चलन की औसत संख्या, अर्थात परिचलन प्रवेग **व** = ३ है। ऐसी स्थिति में एक दिये हुए समय में मुद्रा की कुल पूर्ति अर्थात **म व** = १००० करोड़ रुपये × ३ = ३००० करोड़ रुपये होगी। इसी प्रकार यदि बैंक मुद्रा **म'** ५०० करोड़ रुपये है, तथा उसका परिचलन प्रवेग **व'** भी ३ है, तब कुल बैंक मुद्रा की पूर्ति **म'व'** = ५०० करोड़ रुपये × ३ = १५०० करोड़ रुपये होगी। इससे हमें दिये हुये समय में मुद्रा की कुल पूर्ति ज्ञात हो जाती है अर्थात **म व** + **म' व'** = ३,००० करोड़ रुपये + १,५०० करोड़ रुपये = ४,५०० करोड़ रुपये।

मांग पक्ष पर जो व्यक्ति मान लीजिए पेंसिल खरीदना चाहता है उसे मुद्रा की आवश्यकता होगी। मान लीजिए एक पेंसिल की कीमत दो रुपये है तथा वह व्यक्ति दस पेंसिलें खरीदना चाहता है, तो उसे कुल २० रुपयों की आवश्यकता होगी।

मुद्रा की वांछित मात्रा		क्रय की गई पेंसिलों की संख्या		प्रति पेंसिल मूल्य (रुपयों में)
२० रुपये	=	१०	×	२ रुपये

यह तो केवल एक लेन-देन है। सम्पूर्ण चित्र प्राप्त करने के लिये हमें उन सभी लेन-देनों पर विचार करना होगा जो अर्थव्यवस्था में एक निश्चित समय में

किये जाते हैं। मान लीजिए सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में एक दिये हुए समय में कुल किये गए लेन-देनों की संख्या **ट** (३०० करोड़ रुपये) है तथा औसत मूल्य जिस पर ये लेन-देन किये जाते हैं, **प** (१५ रुपये) है, तब लोगों द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये मुद्रा की कुल मांग **प ट** (१५ रुपये × ३०० करोड़ रुपये) होगी। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में मुद्रा की कुल पूर्ति उसकी कुल मांग के बराबर अवश्य होगी।

मुद्रा की कुल पूर्ति मुद्रा की कुल मांग

म व + म′ व′ = प ट

रु० ३००० करोड़ + रु० १५०० करोड़ = रु० १५ × रु० ३०० करोड़

रु० ४,५०० करोड़ = रु० ४५०० करोड़

परन्तु सुविधा के लिये तथा व्यर्थ की जटिलताओं को दूर करने के लिये, मुद्रा की कुल पूर्ति के लिये हम केवल **म व** का ही प्रयोग करेंगे तथा हम यह मान लेंगे कि **म** में न केवल सरकारी मुद्रा बल्कि बैंक की मुद्रा भी सम्मिलित है। इसीलिए फिशर ने अपने विनिमय के समीकरण को **म व=प ट** के द्वारा व्यक्त किया।

अपने सरलतम रूप में मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त केवल **म व** और **प ट** की समानता तथा एकरूपता ही व्यक्त करता है जिसका अर्थ होता है कि एक दिये हुए समय में सम्पूर्ण चित्र लेने पर किसी अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा की पूर्ति (अर्थात ४,५०० करोड़ रुपये) मुद्रा की मांग (जो ४,५०० करोड़ रुपये ही है) के बराबर अवश्य होगी।

फिशर का विनिमय-समीकरण. मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का इससे अधिक लाभप्रद रूप विनिमय-समीकरण (equation of exchange) के रूप में है। इसमें मुद्रा के परिमाण तथा मुद्रा के मूल्य में हेतुक (causal) सम्बन्ध स्थापित किया गया है। इस रूप में मुद्रा के परिमाण सिद्धांत के तीन प्रमुख प्रस्थापन (propositions) हैं:

(१) मुद्रा का मूल्य मुद्रा के परिमाण पर आधारित है। यदि मुद्रा के परिमाण में वृद्धि होती है तब मुद्रा के मूल्य में कमी हो जायेगी और यदि मुद्रा के परिमाण में कमी हो जाती है तब मुद्रा के मूल्य में वृद्धि हो जायेगी।

(२) मूल्य स्तर अथवा मुद्रा के मूल्य (value) में परिवर्तन उस समय तक नहीं हो सकता जब तक मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन नहीं होता। इसका अर्थ यह हुआ कि **व** तथा **ट** में होने वाले स्वतंत्र परिवर्तनों को छोड़

दिया गया है। इसलिये **व** और **ट** में होने वाले परिवर्तन मूल्य स्तर को नहीं प्रभावित कर सकते। केवल **म** के परिवर्तन के द्वारा ही मूल्य स्तर और मुद्रा का मूल्य परिवर्तित हो सकता है।

(३) यदि मुद्रा के परिमाण में या तो वृद्धि हो अथवा कमी तब अन्य बातों के समान रहने पर सामान्य मूल्य स्तर में समान अनुपातिक वृद्धि अथवा कमी होगी तथा मुद्रा के मूल्य में उसी अनुपात में कमी अथवा वृद्धि होगी।

मान लीजिए किसी समय:

म व = प ट

रु० १५०० करोड़ × ३ = रु० १५ × रु० ३०० करोड़

यदि **व** ३ तथा **ट** ३०० करोड़ रुपये पर स्थिर रहता है और मुद्रा की मात्रा १५०० करोड़ रुपये (१००० करोड़ सरकारी मुद्रा तथा ५०० करोड़ रुपया बैंक मुद्रा) से बढ़कर ३,००० करोड़ रुपये हो जाती है तब सामान्य मूल्य स्तर (औसत मूल्य जिस पर लेन-देन की क्रिया होती है) १५ रुपये से बढ़कर ३० रुपये हो जायेगा तथा विनिमय समीकरण बदल कर अब इस प्रकार हो जायेगा :

म व = प ट

रु० ३००० करोड़ × ३ = रु० ३० × ३०० करोड़

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्य बातों के स्थिर रहने पर मुद्रा के परिमाण में दुगुनी वृद्धि हो जाने से सामान्य मूल्य स्तर भी दुगुना हो जायेगा और मुद्रा का मूल्य घट कर आधा हो जायेगा।

आलोचना. इस संबंध में जो सबसे महत्वपूर्ण बात है वह है 'अन्य बातों के स्थिर रहने' के सन्निहितार्थ (implications) की। अपने विनिमय समीकरण में फिशर तथा अन्य अर्थशास्त्री जिन्होंने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की इस रूप में व्याख्या की उन लोगों ने व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में निम्नलिखित बातें मान लीं:

(१) जब **म** में परिवर्तन होता है उस समय **व** नहीं बदलता। इसका अर्थ यह हुआ कि जब मुद्रा के परिमाण में वृद्धि होती है तब लोगों के तरलता अधिमान (liquidity preference) में परिवर्तन नहीं होता तथा लोग पहले की अपेक्षा अधिक मुद्रा अपने पास तरल रूप में रखना पसन्द नहीं करते। अतः मुद्रा का औसत परिचलन प्रवेग नहीं बदलता।

(२) देश में पूर्ण वृत्ति (full employment) की स्थिति है। इसलिये मुद्रा के परिमाण में वृद्धि होने से कुल प्रदा में वृद्धि होने की संभावना नहीं रहती तथा **ट** अपरिवर्तित रहता है।

(३) **व** और **ट** की ओर से किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। इसलिये सामान्य मूल्य स्तर तथा मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन केवल मुद्रा के परिमाण के परिवर्तन पर ही आधारित है।

इन परिकल्पनाओं के अन्तर्गत मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का फिशर का रूप, कि मुद्रा के परिमाण की प्रत्येक वृद्धि मूल्य स्तर को ठीक उसी अनुपात में बढ़ा देती है तथा मुद्रा के मूल्य को ठीक उसी अनुपात में कम कर देती है, पूर्णतया सत्य है। परिमाण सिद्धांत के इस रूप के विरुद्ध लगाई गई आलोचना इस बात पर आधारित है कि ये परिकल्पनायें अवास्तविक हैं जिससे परिमाण सिद्धान्त का लेन-देन वाला रूप (transaction version) ठीक नहीं होता। यदि **म** में वृद्धि होती है तब **व** में निस्सन्देह परिवर्तन होगा। सम्भावना इस बात की है कि मुद्रा के परिमाण **म** में वृद्धि तथा इसके फलस्वरूप व्यक्तियों की आय में वृद्धि के साथ सम्पूर्ण मुद्रा पूर्ति का अधिक अंश एक निश्चित समय में बचा (unspent) रह जायेगा। इससे मुद्रा पहले की अपेक्षा कम बार लोगों के हाथ से गुजरेगी; फलतः मुद्रा का औसत परिचलन प्रवेग घट जायेगा और सामान्य मूल्य स्तर में ठीक उसी अनुपात में परिवर्तन नहीं होगा जिस अनुपात में मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन हुआ है।

फिशर के मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की दूसरी महान आलोचना यह है कि यह अर्थव्यवस्था में क्रियाशील जटिलताओं को प्रगट नहीं करता तथा वास्तविक कार्य प्रणालियों का अत्यन्त सरल और प्रारम्भिक रूप ही प्रस्तुत करता है। व्यवहार में मुद्रा के परिमाण **म** में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन राष्ट्रीय आय तथा प्रदा के स्तर में अवश्य ही परिवर्तन उपस्थित करेगा, फलतः लेन-देन की मात्रा **ट** में भी परिवर्तन होगा जिससे सामान्य मूल्य स्तर भी भली भांति प्रभावित होगा। सम्भावना तो इस बात की है कि यदि **म** में वृद्धि होती है तब व्याज की दर में कमी हो जायेगी जिससे साहसोद्यमी या तो अपने प्रवर्तमान कारखानों में प्रसार अथवा नये कारखाने स्थापित करने के लिये अधिक मुद्रा उधार लेने के लिये प्रेरित होंगे। इससे राष्ट्रीय आय तथा प्रदा में वृद्धि होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि मुद्रा की मात्रा की प्रत्येक वृद्धि अथवा कमी के कारण **ट** स्थिर कभी भी नहीं रह सकता; इसमें अवश्य ही परिवर्तन होगा।

यदि, जैसा कि फिशर ने मान लिया, पूर्ण वृत्ति की स्थिति है तब मुद्रा के परिमाण में प्रत्येक प्रगतिशील वृद्धि के फलस्वरूप सामान्य मूल्य स्तर में केवल अनुपातिक वृद्धि ही नहीं होगी वरन् अधि-अनुपातिक वृद्धि होगी। ऐसा इसलिये होगा क्योंकि पूर्ण वृत्ति के अन्तर्गत **ट** में वृद्धि सम्भव नहीं है तथा **म व** में

हुई प्रत्येक वृद्धि के फलस्वरूप सामान्य मूल्य स्तर में अधिक तेजी से परिवर्तन होगा। इस स्थिति में फिशर का सिद्धांत सही नहीं उतरता। यदि पूर्ण वृत्ति की स्थिति नहीं है तब **म व** में हुई प्रत्येक वृद्धि के फलस्वरूप कुल प्रदा और **ट** में भी वृद्धि होगी, तथा इस स्थिति में सामान्य मूल्य स्तर में वृद्धि **म व** में हुई वृद्धि के अनुपात से कम होगी। इस स्थिति में भी फिशर का सिद्धांत सही नहीं उतरता।

फिशर के परिमाण सिद्धान्त के विरुद्ध की गई तीसरी आलोचना यह है कि इसमें **म** के स्वतन्त्र **व** और **ट** में होने वाले परिवर्तन की सम्भावनाओं को बिल्कुल छोड़ दिया गया है। "अल्पकाल में **व** और **ट** में स्वतन्त्र परिवर्तनों की सम्भावना नहीं है परन्तु दीर्घ काल में आर्थिक लेन-देनों तथा लोगों के स्वभाव में परिवर्तन के कारण दोनों बदल सकते हैं। फिर भी, अल्पकाल में मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन तो सरलतापूर्वक **ट** और विशेष रूप में **व** में अधिक परिवर्तन उपस्थित कर सकते हैं। ऐसे परिवर्तनों को भुला नहीं देना चाहिए। आर्थिक तेजी (boom) के समय में मुद्रा के परिचलन प्रवेग में अल्पकालीन वृद्धि तथा आर्थिक मन्दी (slump) के समय में इसमें कमी आर्थिक क्रियाओं, वृत्ति तथा मूल्यों में विकट तथा हानिपूर्ण उच्चावचनों (fluctuations) का कारण होती है।" इस लिये यह पूर्णतया सम्भव है कि **म** में परिवर्तन के साथ-साथ **व** और **ट** में स्वतंत्र रूप से परिवर्तन हो जो **प** को प्रभावित करे। इसलिये हम यह नहीं कह सकते कि मुद्रा के परिमाण की प्रत्येक वृद्धि अथवा कमी सामान्य मूल्य स्तर को ठीक उसी अनुपात में परिवर्तित करेगी।

यद्यपि मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन तथा सामान्य मूल्य स्तर में अनुपातिक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता, फिर भी फिशर का विनिमय समीकरण हमको इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि मुद्रा के परिमाण की प्रत्येक वृद्धि के साथ मूल्य स्तर भी बढ़ेगा तथा मुद्रा के मूल्य में कमी होगी परन्तु ठीक उसी अनुपात में नहीं। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का चाहे कोई भी रूप हो—केवल यही सम्भावित अपवाद हो सकता है जब मुद्रा को मात्रा में वृद्धि होने से सामान्य मूल्य स्तर कम हो जाये (अथवा स्थिर रहे)। यह उस स्थिति में हो सकता है जब वृत्तिहीनता (unemployment) अत्यधिक हो और जब **म** की अपेक्षा **ट** में अधिक तेजी से वृद्धि हो अथवा **व** में कमी हो। परन्तु **व** में उस समय अत्यधिक कमी नहीं हो सकती जब **ट** में वृद्धि हो रही हो। यदि आर्थिक क्रियाओं में वृद्धि हो रही हो तब यह असम्भव प्रतीत होता है कि मुद्रा कम बार लोगों के हाथों से गुजरेगी। इसके विपरीत यह सम्भव हो सकता है कि आर्थिक मन्दी से पुनरादान (recovery) की

स्थिति में **ट** में वृद्धि **म** और **व** दोनों की वृद्धि से अधिक हो। परन्तु इस प्रकार की स्थिति सदा सम्भव नहीं है क्योंकि जब प्रदा में वृद्धि होगी तब उद्योग में बहुधा ह्लासमान प्रतिफल होने लगेगा। मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का सामान्य कथन कि **म** में वृद्धि से **प** में कमी नहीं होगी अधिकांश परिस्थितियों में सही उतरता है।

नकद शेष उपगमन (Cash Balances Approach)

कैम्ब्रिज का विनिमय समीकरण इस समस्या पर सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय तथा नक़द शेष (जो लोग अपनी आय में से अपने पास रखना पसन्द करते हैं) के दृष्टिकोण से विचार कर एक अधिक वास्तविक चित्र प्रस्तुत करता है। परिमाण सिद्धान्त के कैम्ब्रिज रूप ने "प्राचीन सिद्धान्त की कमजोरियों को दूर किया क्योंकि इसमें मुद्रा के परिचलन प्रवेग की व्याख्या नहीं है। इसमें दूसरे ही प्रश्न तथा उसके उत्तर पर भिन्न प्रकार से विचार किये गए हैं। परिचलन प्रवेग (अर्थात जिस गति से मुद्रा की एक औसत इकाई विभिन्न हाथों से गुज़रती है) पर विचार करने के स्थान पर यह प्रश्न पूछा गया कि प्रयोग करने के पूर्व लेन-देन करने वालों के हाथ में मुद्रा एक निश्चित समय तक क्यों रखी रहती है ? वास्तव में इन दोनों प्रश्नों के उत्तर में कोई वास्तविक अन्तर नहीं होना चाहिए। यदि मुद्रा की एक इकाई प्रतिवर्ष चार बार विभिन्न हाथों से गुजरती है तब प्रत्येक इकाई किसी के हाथ में औसतन ३ महीने तक रहती है। फिर भी, प्रश्न के रूप में इस परिवर्तन से बल (emphasis) में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो जाता है। प्रथमत: इसमें निहित उद्देश्यों की व्याख्या करने का प्रयास किया गया; कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने यह प्रश्न पूछा कि लोग क्यों अपने पास नक़द शेष के रूप में मुद्रा रखना पसन्द करते हैं। दूसरे, इस परिवर्तन करने में मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन के कारणों की प्रमुखता में भी परिवर्तन हुआ तथा साथ साथ मुद्रा की मांग में हुए परिवर्तन के कारणों की प्रमुखता की ओर विशेष ध्यान दिया गया। इस सिद्धान्त के कैम्ब्रिज रूप में एक दूसरा महत्वपूर्ण अंश भी सन्निहित है। लेन-देन की कुल संख्या के स्थान पर यह आय के स्तर से सम्बन्धित है।"

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का नक़द शेष रूप लेन-देन रूप से भिन्न ढंग से मुद्रा की संपूर्ण पूर्ति तथा संपूर्ण माँग पर विचार करता है। जहाँ तक मुद्रा की संपूर्ण पूर्ति का सम्बन्ध है इसमें तो बहुत कुछ दोनों रूपों में समानता है। अन्तर केवल इतना ही है कि फिशर के सिद्धान्त में मुद्रा की कुल मात्रा को **म व** के द्वारा व्यक्त किया गया है और इसमें न केवल म पर विचार किया गया है वरन् **व** को भी दृष्टि में रखा गया है। कैम्ब्रिज समीकरण में **म** मुद्रा की कुल मात्रा है तथा

पूर्ति पक्ष पर उसके परिचलन प्रवेग को नहीं रखा गया है। मुद्रा के परिचलन प्रवेग के स्थान पर कैम्ब्रिज समीकरण में नक़द शेष के रूप में रखी गई राष्ट्रीय आय के अनुपात पर विचार किया गया है।

कैम्ब्रिज समीकरण में मुद्रा के माँग पक्ष पर विचार लेन-देन के लिए चाही गई मुद्रा के रूप में नहीं वरन् नकद शेष के रूप में अपने पास मुद्रा रखने के दृष्टिकोण से किया गया है। लोग अपने पास अपनी वार्षिक आय का एक अंश नक़द शेष के रूप में इसलिए रखना चाहते हैं कि जब वे चाहें तब वस्तुओं और सेवाओं को अपनी इच्छानुसार खरीद सकें।

नक़द शेष के रूप में कुल राष्ट्रीय आय का कितना अंश रखना पसन्द करेंगे यह लोगों की आदतों, आवश्यकताओं तथा राष्ट्रीय आय के स्तर पर आधारित है। मान लीजिए एक व्यक्ति की वार्षिक आय १,००० रुपये है और वह १०० रुपया नक़द शेष के रूप में रखना चाहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसकी वार्षिक आय का १/१० भाग नक़द शेष के रूप में रखा गया। यदि सभी व्यक्ति अपनी वार्षिक आय का १/१० भाग नक़द शेष के रूप में रखना चाहें और कुल राष्ट्रीय आय १०,००० करोड़ रुपये है तब लोगों की नक़द शेष के रूप में रखने के लिए १,००० करोड़ रुपये की माँग होगी।

कैम्ब्रिज समीकरण. मान लीजिए कुल वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा, जो वास्तविक रूप में वार्षिक राष्ट्रीय आय है, उसको **र** द्वारा व्यक्त किया जाता है, और **प** औसत मूल्य स्तर है, तब मुद्रा के रूप में कुल राष्ट्रीय आय **प र** हुई। यदि **क** समाज की उस वार्षिक आय का अनुपात है जिसे लोग औसत रूप में अपने पास नक़द शेष के रूप में रखना चाहते हैं, तब एक वर्ष के लिए मुद्रा की कुल सम्पूर्ण मांग **क प र** होगी। यदि मुद्रा की संपूर्ण पूर्ति **म** है तब कैम्ब्रिज समीकरण का सरलीकृत रूप निम्नलिखित प्रकार से होगा।

मुद्रा की कुल पूर्ति		मुद्रा की कुल माँग
म	=	**क प र**
या रु० १००० करोड़	=	$\frac{१}{१०}$ × रु० १०,००० करोड़
चूँकि **प र**	=	रु० १०,००० करोड़
क	=	राष्ट्रीय आय का $\frac{१}{१०}$ भाग
म	=	रु० १००० करोड़

अब हमें इस बात का अध्ययन करना चाहिए कि मुद्रा के परिमाण में परि-

वर्तन के फलस्वरूप कैम्ब्रिज विनिमय समीकरण में किस प्रकार से सामान्य मूल्य स्तर तथा मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होगा।

आइए पहले एक अवास्तविक तथा चरम स्थिति पर विचार करें। मान-लीजिए **म** १,००० करोड़ से बढ़कर १,५०० करोड़ रुपये हो जाती है परन्तु **क** (जो लोगों की नक़द तथा आय का अनुपात है) तथा **र** (जो वस्तुओं और सेवाओं की वास्तविक रूप में कुल मात्रा है); अपरिवर्तित रहते हैं। इस कृत्रिम स्थिति में मुद्रा के परिमाण में ५०% वृद्धि के फलस्वरूप ठीक ५०% वृद्धि सामान्य मूल्य स्तर में भी होगी तथा कैम्ब्रिज समीकरण निम्न बातें दिखायेगा :

म = क प र

रु० १५,०० करोड़ = $\frac{१}{१०}$ × रु० १५,००० करोड़

इसे किस प्रकार से दिखलाया जा सकता है कि इस कृत्रिम स्थिति में मुद्रा की पूर्ति तथा सामान्य मूल्य स्तर ठीक एक अनुपात में परिवर्तित होंगे? हम लोगों के उदाहरण में **प र** की प्राप्ति वास्तविक रूप में वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा को औसत मूल्य से गुणा करके होती है। यद्यपि सभी वस्तुओं और सेवाओं को जोड़ कर उन्हें किलो या मीटर में व्यक्त करना सम्भव नहीं है, फिर भी सुविधा-त्मक व्याख्या के लिये यह मान लेना चाहिए कि वस्तुओं और सेवाओं की कुल मात्रा १,००० करोड़ इकाइयाँ हैं। पहले उदाहरण में जब **म** = १,००० करोड़ रुपये तथा **क** राष्ट्रीय आय का $\frac{१}{१०}$ भाग, तो **प र** = १०,००० करोड़ रुपये है। परन्तु **प र** १५,००० करोड़ होगी जब, अन्य बातें स्थिर होने पर, **म** की मात्रा १,००० करोड़ रुपये से बढ़कर १,५०० करोड़ रुपये हो जाय, जैसा कि नीचे दिखलाया गया है :

	प × **र**	= **प र**
प्रथम स्थिति	रु० १० × १,००० करोड़ इकाइयां	= १०,००० करोड़ रुपये
दूसरी स्थिति	रु० १५ × १,००० करोड़ इकाइयां	= १५,००० करोड़ रुपये

ऐसा इसलिये होता है क्योंकि मुद्रा की पूर्ति **म** में वृद्धि होने के फलस्वरूप लोगों की कुल क्रय शक्ति में वृद्धि हो जाती है तथा उसी अनुपात में नकद शेष में वृद्धि नहीं होती क्योंकि **क** को अपरिवर्तित मान लिया गया है। दी हुई वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति से उपभोक्ताओं की प्रतियोगिता के कारण मूल्य स्तर बढ़ जाता है। यह प्रक्रिया उस समय तक चलती रहेगी (हम लोगों के सरलीकृत तथा अवास्तविक परिकल्पनाओं के अन्तर्गत) जब तक कि औसत मूल्य भी उसी स्तर तक

नहीं बढ़ जाता, अर्थात ५०% जितनी मुद्रा की पूर्ति में कुल वृद्धि हुई थी। इस चरम स्थिति में फिशर के समीकरण तथा कैम्ब्रिज विनिमय समीकरण के निष्कर्ष एक प्रकार के ही होंगे।

अब हमें उन अवास्तविक तथा कृत्रिम परिकल्पनाओं को हटा देना चाहिए जिनके अन्तर्गत मुद्रा की पूर्ति (म) में परिवर्तन होने से आय और नकद का अनुपात (क) जो लोग अपने पास रखना पसन्द करते हैं तथा वास्तविक रूप में वस्तुओं और सेवाओं की प्रदा (र) अपरिवर्तित रहती हैं। कैम्ब्रिज विनिमय समीकरण का प्रमुख उद्देश्य ही यही है कि मुद्रा के परिमाण में वृद्धि के साथ-साथ ये स्थिर नहीं रह सकते। सम्भावना इस बात की है कि मुद्रा के परिमाण में १,००० करोड़ रुपये से १,५०० करोड़ रुपये वृद्धि हो जाने पर ब्याज की दर में कमी हो जायेगी तथा साहसोद्यमिक विनियोग की क्रियाओं में वृद्धि होगी जिसके परिणामस्वरूप वस्तुओं और सेवाओं की प्रदा (र) में भी वृद्धि होगी और वास्तविक राष्ट्रीय आय भी बढ़ जायेगी। यह बहुत सम्भव है कि ऐसी स्थिति में लोग आय का कम अनुपात नकद के रूप में रखना पसन्द करें। स्थिति बहुत कुछ निम्नलिखित प्रकार की हो जायेगी :—

म = क प र

रु० १,५०० करोड़ = १/१२ × रु० १८,००० करोड़

इसका अर्थ यह हुआ कि मुद्रा की पूर्ति मे ५०% वृद्धि होने के फलस्वरूप मूल्य स्तर ५०% नहीं बढ़ेगा क्योंकि वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति में वृद्धि हो जाने के कारण राष्ट्रीय आय के नक़द शेष का अनुपात कम हो जाता है। मूल्य स्तर में परिवर्तन कितना होगा यह इस बात पर आधारित है कि वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति तथा लोगों के नक़द शेष में किस प्रकार के परिवर्तन हो रहे हैं। यदि हम यह मान लेते हैं कि तीसरी स्थिति में जब मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि के साथ **क** और **र** भी बदलते हैं तब लोग औसतन अपनी आय का १/१२ वां भाग नक़द के रूप में रखते हैं तथा वस्तुओं और सेवाओं की प्रदा बढ़कर १,५०० करोड़ इकाइयाँ हो जाती हैं। इस स्थिति में मूल्य **प** बढ़कर १२ रुपये हो जायेगा जैसा नीचे दिखलाया गया है :—

	प × र	=	**प र**
तीसरी स्थिति	रु० १२ × १,५०० करोड़ इकाइयां	=	१८,००० करोड़ रुपये

पहले से ही यह ठीक-ठीक नहीं बतलाया जा सकता कि मूल्य स्तर में कितनी वृद्धि होगी क्योंकि यह उन अनेक परिवर्तनशील तत्वों पर आधारित है जो वस्तुओं

और सेवाओं की कुल प्रदा तथा नक़द शेष के प्रति लोगों की रुचि को निर्धारित करते हैं। फिर भी इतना तो निश्चित प्रतीत होता है कि सामान्य परिस्थितियों में मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि के साथ मूल्य स्तर बढ़ेगा तथा मुद्रा की पूर्ति में कमी के साथ सामान्य मूल्य स्तर में कमी होगी। इस प्रकार मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का मौलिक निष्कर्ष कि मुद्रा के परिमाण तथा मुद्रा के मूल्य में विलोमानुपातिक सम्बन्ध है सिद्धान्त के कैम्ब्रिज रूप में भी सही उतरता है :

आलोचना. मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का कैम्ब्रिज रूप फिशर के सिद्धान्त से निम्न कारणों से श्रेष्ठ है :

(१) यह सन्निहित प्रयोजनों (motivations) के विश्लेषण करने का प्रयास करता है. यह उन कारणों को भी जानने की चेष्टा करता है जिनसे लोग अपने पास नक़द शेष रखना पसन्द करते हैं। इस प्रकार यह हमारा ध्यान सामान्य मूल्य स्तर तथा मुद्रा के मूल्य के महत्वपूर्ण निर्धारक तत्वों की ओर आकृष्ट करता है।

(२) यह आय तथा प्रदा में हुए परिवर्तनों को भी चित्रित करता है. केवल लेन-देन की संख्या ही नहीं वरन् आय तथा प्रदा का स्तर भी आर्थिक विकास, वृत्ति तथा मूल्य स्तर को निर्धारित करता है। वास्तव में मूल्य परिवर्तन की समस्या पर विचार बिना आय, प्रदा तथा वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति में हुए परिवर्तनों पर विचार किये पूर्णतः नहीं किया जा सकता।

(३) यह मुद्रा के आय प्रवेग के मौलिक सम्बोध पर जोर देता है. केवल मुद्रा का परिचलन प्रवेग ही महत्वपूर्ण नहीं है वरन् आय के परिणाम स्वरूप मुद्रा के परिचलन प्रवेग में हुआ परिवर्तन अधिक महत्वपूर्ण है। मुद्रा के इस आय प्रवेग के द्वारा ही, अन्ततः, दिये हुए मूल्य पर वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति मुद्रा के रूप में सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय के बराबर हो जाती है।

यद्यपि सिद्धान्त का कैम्ब्रिज रूप फिशर के दिये हुए रूप से अधिक सुधरा हुआ है फिर भी कैम्ब्रिज रूप में कुछ कमियाँ हैं। (१) इसमें उन प्रयोजनों की विस्मित व्याख्या नहीं की गई है जो लोगों को नक़द शेष रखने के लिये प्रेरित करते हैं। इस कमी को बाद में जे० एम० केन्स ने अपनी पुस्तक 'जनरल थियोरी' में तरलताधिमान (liquidity preference) के प्रयोजनों की व्याख्या करते समय किया है। कैम्ब्रिज रूप को इतना सरल बना दिया गया है कि वह मुद्रा रखने की पूर्वकल्पी मांग पर विचार नहीं करता। इसका अर्थ यह हुआ कि यह उस महत्वपूर्ण कारण पर विचार नहीं करता जिससे मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन बिना मौद्रिक आय के स्तर में हुए परिवर्तन के होता है, अथवा बिना मुद्रा के परिमाण में परि-

वर्तन हुए मौद्रिक आय क्यों बदल जाती है। दूसरे, पूर्वकल्पी मांग (speculative demand) पर विचार न करने का यह भी अर्थ हो सकता है कि ब्याज दर के सिद्धान्तों तथा आय के स्तर में सम्बन्ध मुद्रा की मांग द्वारा स्थापित नहीं किया गया था। (२) यद्यपि राष्ट्रीय आय के स्तर को ध्यान में रखा गया परन्तु कैम्ब्रिज समीकरण में सम्पूर्ण स्थिति पर विचार नहीं किया गया। इस समीकरण में इस बात पर भी विचार नहीं किया गया है कि उत्पादकता, मितव्यय (thrift), तरलता अधिमान, तथा मुद्रा की पूर्ति में भी मुद्रा के सर्वग्राही मूल्य-सिद्धान्त के आवश्यक तत्व होते हैं।

तुलना. इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि यद्यपि नक़द शेष उपगमन, लेन-देन उपगमन से अधिक परिष्कृत तथा सुधरा हुआ है, फिर भी इन दोनों उपगमनों में मौलिक अन्तर नहीं है जैसा कि प्रथम दृष्टि पर आभासित होता है। "फिशर का समीकरण सरलतापूर्वक मुद्रा आय के स्तर के रूप मे नवीन प्रकार से व्यक्त, लेन-देन की संख्या के स्थान पर कुल प्रदा में मूल्य से गुणा करके भी किया जा सकता है। इस नवीनीकरण पर शुद्धतः औपचारिक ढंग से विचार करना गलत होगा।" आय के स्तर पर विचार करके कैम्ब्रिज समीकरण हम लोगों का ध्यान एक ऐसे सम्बोध पर आकृष्ट करता है जो सम्पूर्ण आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

मुद्रा के मूल्य में हुए परिवर्तनों के प्रभाव

मुद्रा के मूल्य में हुए परिवर्तन आय, प्रदा, तथा वृत्ति के वितरण में महान परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। यदि सभी मूल्यों में परिवर्तन ठीक एक ही अनुपात में होता है तब सभी व्यक्तियों के लिए मुद्रा के मूल्य में समान रूप से कमी होगी और जहाँ तक वर्तमान विवरण का सम्बन्ध है, इससे एक वर्ग के लोगों तथा दूसरे वर्ग के लोगों के लिए कोई विशेष अन्तर नहीं होगा। अन्तर तो वास्तव में उस समय उत्पन्न होता है जब कुछ मूल्यों में अधिक परिवर्तन तथा कुछ में कम परिवर्तन होता है जिससे कुछ वर्ग के लोगों को अधिक कठिनाई होती है और कुछ लोगों को कम। उदाहरणार्थ, यदि मजदूरी तथा वेतन (ये भी मूल्य ही होते हैं) स्थिर हों तथा वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में वृद्धि हो तब कुछ लोगों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा क्योंकि उनके लिए वस्तुओं और सेवाओं के रूप में मुद्रा का मूल्य घट गया है। परन्तु व्यावसायिक वर्ग के व्यक्तियों तथा विनियोगियों के लिए वस्तुओं और सेवाओं का यही वृद्धिमान मूल्य उनके लाभ तथा लाभांशों में वृद्धि करने में सहायक होगा। ऐसी स्थिति में औद्योगिक झगड़ों का
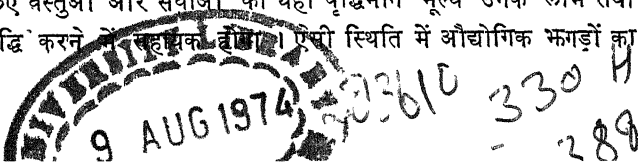
एक कारण बन जाती है क्योंकि वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में तो वृद्धि हो जाती है, परन्तु श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि नहीं होती।

वस्तुओं और सेवाओं का वृद्धिमान मूल्य पूरे समाज के लिये लाभप्रद हो सकता है यदि उत्पादन लागत (जो कच्चे मालों का मूल्य, श्रम तथा अन्य उत्पादन के साधनों को किया गया भुगतान है) में उतनी वृद्धि नहीं होती जितनी वृद्धि वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में होती है। ऐसा होने से व्यावसायिक व्यक्तियों के लाभ में वृद्धि होगी। यदि व्यावसायिक व्यक्ति अपनी विनियोग क्रियायें बढ़ाकर वृत्ति, प्रदा तथा आर्थिक क्रियाओं के स्तर में वृद्धि करें तो मूल्य वृद्धि सामाजिक कल्याण में सहायक होगी। इसके विपरीत, यदि वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में कमी हो रही है ओर उत्पादन लागत में परिवर्तन नहीं हो रहा है तब इससे आर्थिक क्रियाओं में संकुचन होगा तथा राष्ट्रीय प्रदा और वृत्ति के स्तर में कमी हो जायेगी। वस्तुओं ओर सेवाओं के वृद्धिमान मूल्य का प्रतिकूल परिणाम यह हो सकता है कि धनी और भी धनी हो जायेंगे तथा निर्धन व्यक्ति और अधिक निर्धन हो जायेंगे, जिसके फलस्वरूप धन का और अधिक असमान वितरण हो जाता है। वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में कमी का परिणाम इसके प्रतिकूल होगा।

इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात ध्यान में रखने योग्य यह है कि यदि सभी वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में ठीक एक ही अनुपात में वृद्धि हो रही है तब लोगों पर मुद्रा के मूल्य में हुये परिवर्तनों का प्रभाव अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न होगा। उदाहरणार्थ, यदि किसी व्यक्ति ने द्वितीय विश्व-युद्ध के पहले एक हजार रुपये ऋण लिया जबकि सामान्य मूल्य स्तर आज की अपेक्षा कम था। उस व्यक्ति ने युद्ध काल के बाद ऋण अदा किया। इस स्थिति में ऋणदाता को हानि होगी तथा ऋणी को लाभ होगा क्योंकि १९३८ में एक हजार रुपये के द्वारा १९४५ की अपेक्षा अधिक वस्तुएँ तथा सेवायें खरीदी जा सकती थीं। यद्यपि ऋणदाता को अपना रुपया वापस मिल गया फिर भी उसे वास्तविक रूप में उधार देने की अपेक्षा कम मिला। ऐसा न केवल ऋण के भुगतान में ही होता है वरन् उन सभी साख सम्बन्धित लेन-देनों में भी होता है जिनमें अतीत तथा वर्तमान के क्रयों का भुगतान भविष्य में करना होता है। इससे यह भली भांति प्रगट हो जाता है कि मुद्रा के मूल्य में हुये परिवर्तनों का सभी वर्ग के लोगों पर बड़ा गम्भीर तथा व्यापक प्रभाव पड़ता है।

अध्याय ५

निर्देशांक

(Index Numbers)

सामान्य मूल्य स्तर में हुए परिवर्तनों के द्वारा ही हम मुद्रा के मूल्य में हुए परिवर्तनों को नाप सकते हैं। अतः सामान्य मूल्य स्तर में हुए परिवर्तनों को नापना आवश्यक है। इस कार्य के लिये किसी एक मूल्य अथवा कुछ मूल्यों पर ही ध्यान देना पर्याप्त नहीं है। हमें बहुत अधिक संख्या में प्रतिनिधि पदार्थों के मूल्यों पर विचार करना होगा जिससे हम व्यय के प्रतिनिधि संयुक्त पदार्थों (composite commodities representative of expenditure) के मूल्यों को जान सकें। इसके अतिरिक्त दो अवधि के बीच में—जिसमें हम मुद्रा के मूल्य में हुए परिवर्तनों को जानना चाहते हैं—कुछ वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि तथा कुछ वस्तुओं के मूल्य में कमी हुई होगी। कुछ वस्तुओं के मूल्यों की अपेक्षा अन्य वस्तुओं के मूल्यों में महान परिवर्तन हुये होंगे। इसलिये व्यक्तिगत मूल्यों की अधिक मात्रा के अध्ययन से ही हम सामान्य मूल्य स्तर तथा मुद्रा के मूल्य में हुये परिवर्तनों को ठीक-ठीक नहीं जान सकते। अतः परिणामित परिवर्तनों का स्पष्ट चित्र प्राप्त करने के लिये निर्देशांकों का बनाना आवश्यक है।

निर्देशांक वे युक्तियाँ हैं जो मूल्यों, रहन-सहन के स्तर तथा इसी प्रकार की अन्य स्थितियों के दो समय में हुए परिवर्तनों को दिखलाती हैं। निर्देशांकों के अभाव में हम सामान्य मूल्य स्तर में हुए परिवर्तनों की सम्पूर्ण कल्पना नहीं कर सकते। आइए पहले एक सरल उदाहरण लें। मान लीजिए १९३८ में गेहूँ की कीमत २०·२० रुपये प्रति मन थी तथा १९६३ में कीमत बढ़कर ३०·६० रुपये प्रति मन हो गई। निर्देशांक का निहित विचार यह है कि १९३८ की कीमत को १०० द्वारा व्यक्त करते हैं। जब १९६३ में मूल्य ३०·६० रु० प्रति मन हो जाता है तब इस वर्ष का निर्देशांक १५१ हो जायेगा। इस स्थिति में १९३८ के मूल्य का निर्देशांक १०० था तथा १९६३ के मूल्य का निर्देशांक १५१ है। २०·२० रुपये से मूल्य बढ़कर ३०·६० रुपये हो जाना इस बात को तुरन्त नहीं बतलाता कि कीमतों में किस स्तर तक परिवर्तन हुआ, परन्तु यदि हम निर्देशांक बना लें तब यह शीघ्र ही स्पष्ट हो जायेगा कि इन दो अवधि के बीच में कीमतों में वृद्धि ५१% हुई। उपरोक्त उदाहरण में १९३८ को आधार वर्ष (base year) कहा जाता है तथा भावी वर्षों की कीमतों की तुलना आधार वर्ष के मूल्यों से की जाती है।

इसलिये निर्देशांकों के निर्माण में हमें इन बातों का ठीक चुनाव करना चाहिए: (१) आधार वर्ष; (२) वस्तुओं; तथा (३) वह कीमतें जिन पर ये वस्तुयें बेची जा रही हैं।

(१) आधार वर्ष का चुनाव. चूँकि सब भावी कीमतों की तुलना आधार वर्ष की कीमतों से की जाती है, अतः आधार वर्ष का सतर्कता से चुनाव करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि हम मुद्रा के मूल्य में हुये परिवर्तनों को जानना चाहते हैं तो हमें एक ऐसे आधार वर्ष को चुनना चाहिये जिसमें मूल्य न तो विशेष अधिक हो और न विशेष कम ही तथा सभी स्थितियाँ सामान्य होनी चाहिए। मान लीजिए हम यह कहते हैं कि द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व १९३८ में वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य साधारणतः सामान्य थे। हम इसी वर्ष (१९३८) को आधार वर्ष चुन लेते हैं। इस वर्ष तथा बाद के अन्य किसी वर्ष के बीच में हुई कीमतों में वृद्धि (अथवा कमी) मुद्रा के मूल्य में हुई कमी (अथवा वृद्धि) को बतलायेगी। परन्तु यदि उद्देश्य दो समयों में हुए किसी भी स्थिति के परिवर्तनों को जानना है, तब आधार वर्ष का चुनाव तथा यह विचार कि उस वर्ष में सामान्य स्थितियाँ थीं अथवा नहीं निरर्थक हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, यदि हम यह जानना चाहते हैं कि भारत में स्वतन्त्रता के पश्चात कितनी आर्थिक प्रगति हुई तब १९४७ का चुनाव आधार वर्ष के रूप में अपने आप करना पड़ता है। यदि हम प्रथम तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के फलस्वरूप हुये परिवर्तनों को जानना चाहते हैं तब हमें १९५१ को ही आधार वर्ष चुनना पड़ेगा।

(२) वस्तुओं का चुनाव. मुद्रा के मूल्य में हुये परिवर्तनों की ठीक जानकारी प्राप्त करने के लिये हमें अधिक वस्तुयें चुननी होंगी जो लोगों की व्यय की प्रकृति को दिखलाती हैं। यद्यपि वास्तविकता में कोई ऐसी वस्तु नहीं होती जिसे हम 'संयुक्त पदार्थ' कह सकें तथा जो लोगों की व्यय की प्रकृति को ठीक ठीक बतला सके, फिर भी उद्देश्य केवल इतना ही है कि ऐसी वस्तुओं की अधिक मात्रा ली जाय जो वह दिखला सकें जो 'संयुक्त पदार्थ' दिखलाती। निर्देशांकों के सम्बन्ध में वास्तविक कठिनाई यह है कि जिन वस्तुओं पर लोग व्यय करते हैं उनमें समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। यदि आधार वर्ष में कोई वस्तु निर्देशांकों में सम्मिलित की गई है तो यह आवश्यक नहीं हैं कि वही वस्तुएँ आगामी वर्षों में भी लोगों के व्यय की प्रकृति को दिखलायें।

(३) कीमतों का चुनाव. चूँकि प्रत्येक बाजार में प्रत्येक वस्तु के अलग-अलग मूल्य होते हैं, तथा अलग-अलग बाजारों में भिन्न भिन्न कीमतें रहती हैं, इसलिये उस समय कीमतों के चुनाव करने में बहुत बड़ी कठिनाइयों का सामना करना

पड़ता है जब हम सम्पूर्ण देश के सामान्य मूल्य स्तर (या मुद्रा के मूल्य) में हुये परिवर्तनों के विषय में जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में प्रायिक विधि तो यह है कि बहुत से प्रतिनिधि बाजारों में चुने हुए पदार्थों की थोक कीमतों को लेकर उनका औसत निकाल लिया जाये।

निर्देशांकों का निर्माण

जब ये सभी सूचनायें एकत्रित कर ली जाती हैं तब निर्देशांकों का निर्माण करना सम्भव हो जाता है जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण में दिखलाया गया है :[1]

वस्तुयें	आधार वर्ष १९३८ में कीमतें (प्रति मन रुपयों में)	आधार वर्ष १९३८ के निर्देशांक	१९६३ में कीमतें (प्रति मन रुपयों में)	१९६३ के निर्देशांक
गेहूँ	२०·२०	१००	३०·६०	१५१
चावल	१५·६०	१००	१२·३०	७९
जूता	१२·२०	१००	१८·३०	१५०
पेंसिल	२·२०	१००	२·२०	१००
कपड़ा	१५·४०	१००	१७·९०	११०
		५०० ÷ ५ = १००		५९० ÷ ५ = ११८

सुविधा के लिये हमने केवल पांच ही वस्तुओं को चुना है। परन्तु सामान्य मूल्य स्तर में हुये परिवर्तनों की अधिक सही जानकारी प्राप्त करने के लिये बहुत सी वस्तुओं को लेना चाहिये। आधार वर्ष १९३८ की सभी कीमतों को १०० मानना चाहिए। तब प्रवर्तमान मूल्यों की सहायता से १९६३ के निर्देशांकों का परिकलन करना चाहिये। उदाहरणार्थ, यदि १९३८ में चावल की कीमत (१५·६० रुपये) को १०० के बराबर किया जाता है तब १९६३ में १२·३० रुपये प्रति मन चावल की कीमत ७९ के बराबर होगी। इसके पश्चात हम औसत निर्देशांक का पता लगाते हैं। आधार वर्ष के लिये तो औसत १०० है क्योंकि १०० × ५ ÷ ५ = १०० के। १९६३ में पांचों निर्देशांकों का योग ५९० है, इसलिये इसमें पांच से भाग देने से ११८ हुआ। यही १९६३ का निर्देशांक है। यह इस बात को दिखलाता है कि १९३८ तथा १९६३ के बीच में कीमतों में १८% वृद्धि तथा मुद्रा के मूल्य में १८% कमी हुई।

१. यहाँ यह बतला देना चाहिये कि ये क़ीमतें काल्पनिक है। इन्हें केवल समझाने की सुविधा के लिये ले लिया गया है।

भारित निर्देशांक (Weighted Index Numbers). ऊपर जो हमने बनाया था उसे साधारण निर्देशांक कहते हैं जिसमें सभी पदार्थों को समान महत्व प्रदान किया गया था। परन्तु लोग कुछ वस्तुओं की अधिक तथा कुछ वस्तुओं की कम मात्रा का उपभोग करते हैं। इस तथ्य को भी निर्देशांकों के बनाने में स्थान देना चाहिये। यह विचार विशेषकर उस समय और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है जब हम जीवन स्तर के निर्देशांक का निर्माण श्रमिकों अथवा अन्य वर्ग के व्यक्तियों के जीवन स्तर में हुये परिवर्तनों को जानने के लिये करते हैं। अतः विभिन्न वस्तुओं को अलग-अलग महत्व प्रदान करने के लिये भारित निर्देशांकों की विधि आविष्कार की गई है तथा प्रत्येक वस्तु को उसके महत्व के अनुसार अलग-अलग भार प्रदान किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि किसी वर्ग के व्यक्तियों के जीवन स्तर में औसतन कपड़ा तथा पेंसिल की अपेक्षा गेहूँ तिगुना महत्वपूर्ण है तथा कपड़े ओर पेंसिल की अपेक्षा जूता और चावल दुगुने महत्वपूर्ण हैं तब भारित निर्देशाकों का निर्माण निम्नलिखित ढंग से किया जायेगा। इसमें गेहूँ को ३, चावल और जूते को २, तथा पेंसिल और कपड़े को १ भार प्रदान किया जायेगा।

तीसरे और पांचवें कालम के निर्देशांकों को भार से गुणा कर दिया गया है। तीसरे कालम का योग ९०० होता है। यद्यपि वस्तुओं की संख्या ५ है फिर भी ५ द्वारा भाग नहीं दिया जायेगा वरन् निर्देशांक प्राप्त करने के लिये ९ द्वारा भाग दिया जायेगा क्योंकि भारों का योग ९ है। इसी प्रकार औसत प्राप्त करने के लिये कालम ५ के योग में ५ से नहीं वरन् ९ से भाग दिया जायेगा। भारित निर्देशांक यह दिखलाता है कि कीमतों में वृद्धि केवल २४% हुई है जब कि उन्हीं आंकड़ों पर बनाया गया साधारण निर्देशांक यह बतलाता है कि कीमतों में वृद्धि केवल १८% ही हुई। भारित निर्देशांक संयुक्त पदार्थों के सामान्य मूल्य स्तर तथा मुद्रा के मूल्य में हुये परिवर्तनों का अधिक सही चित्र प्रस्तुत करता है।

वस्तुयें	आधार वर्ष में १९३८ कीमतें (रुपये प्रतिमन में)	आधार वर्ष का निर्देशांक	१९५३ में कीमतें (रुपये प्रतिमन में)	१९५३ का निर्देशांक
गेहूँ	२०·२०	१००×३=३००	३०·६०	१५१×३=४५३
चावल	१५·६०	१००×२=२००	१२·३०	७९×२=१५८
जूता	१२·२०	१००×२=२००	१८·३०	१५०×२=३००
पेंसिल	२·२०	१००×१=१००	२·२०	१००×१=१००
कपड़ा	१५·४०	१००×१=१००	१७·९०	११०×१=११०
		९००÷९=१००		११२१÷९=१२५

दोष. निर्देशांकों को न केवल सामान्य मूल्य स्तर तथा लोगों के जीवन स्तर में हुये परिवर्तनों को नापने के लिये बनाया जाता है वरन् उत्पादन, आयात, निर्यात, जनसंख्या तथा राष्ट्रीय लाभांश में हुये परिवर्तनों को नापने के लिये भी बनाया जाता है। निर्देशांकों का उद्देश्य अनुपातिक परिवर्तनों को बतलाना है जिससे तुलनात्मक विचार किया जा सके। परन्तु दुर्भाग्यवश निर्देशांक परिवर्तनों को बतलाने की एक दूषित युक्ति हैं। ये दोष निम्नलिखित कारणों से उत्पन्न होते हैं:

(१) व्यवहार में सभी क्षेत्रों की व्याख्या करना सम्भव नहीं है तथा निर्देशांकों का निर्माण केवल प्रतिनिधि आंकड़ों अथवा प्रतिदर्श सर्वेक्षण (sample survey) के आधार पर ही किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि कीमतों का निर्देशांक बनाया जा रहा है तब सभी कीमतों पर विचार करना सम्भव नहीं है। अतः निर्देशांक बनाने में हमें प्रतिनिधि कीमतों पर ही आधारित होना पड़ता है। निर्देशांक तो केवल अधिक से अधिक आंशिक चित्र ही प्रस्तुत करता है। अतः यह न तो सामान्य मूल्य स्तर का और न मुद्रा के मूल्य ही का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत कर सकता है, जिसकी हम सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं। इसी प्रकार उत्पादन में यह सम्भव नहीं है कि हम सभी मदों को निर्देशांकों में सम्मिलित कर सकें। इसलिये जबकि औद्योगिक उत्पादन का निर्देशांक उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि दिखलाये तब यह आवश्यक नहीं है कि अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हुई होगी। परन्तु फिर भी हम यह कह सकते हैं कि निर्देशांक सामान्य प्रवृत्तियों को बतलाता है।

(२) निर्देशांक एक औसत होता है, तथा सभी औसतों के सदृश यह बहुत से विषम परिवर्तनों को छिपा सकता है। यदि निर्देशांक कीमतों, उत्पादन, निर्यात तथा आयात में वृद्धि दिखलाता है तब यह आवश्यक नहीं है कि उत्पादन, आयात तथा निर्यात की सभी मदों में एक साथ समान रूप से वृद्धि हो रही हो। यह भी सम्भव हो सकता है कि जब कुछ वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि हो रही हो तभी कुछ दूसरी वस्तुओं के उत्पादन में कमी हो रही हो। किसी भी स्थिति में सभी मदों में वृद्धि अथवा कमी एक ही अनुपात में नहीं होती। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि निर्देशांक सही चित्र प्रस्तुत नहीं करते।

(३) निर्देशांकों को बनाते समय एक परिकल्पना कर ली जाती है जो यह है कि दो समयों की दशाओं में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं होता। मान लीजिए हम १९३८ तथा १९६३ के जीवन स्तर की तुलना करते हैं। लोगों के उपभोग में जो मदें दोनों समयों में सम्मिलित की जाती हैं उनमें आमूल परिवर्तन हो गया हो तथा विभिन्न वस्तुओं के सापेक्षिक महत्व में भी परिवर्तन हो गया हो। ऐसी

परिस्थितियों में साधारण निर्देशांक दो समयों में हुए जीवन स्तर के परिवर्तनों को ठीक-ठीक नहीं बतला सकता । कठिनाई अधिक जटिल तो उस समय हो जाती है जब हम एक ही देश की विभिन्न समयों में तुलना नहीं करते वरन् दो देशों की तुलना करते हैं क्योंकि ऐसी स्थिति में यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि दो समयों में आमूल परिवर्तन न हुये हों । निर्देशांकों की इन कठिनाइयों को कुछ सीमा तक अधिक जटिल निर्देशांकों द्वारा कम किया जा सका है, परन्तु चाहे हम कुछ भी करें तब भी कुछ कठिनाइयाँ रहती हैं ।

(४) निर्देशांकों के बनाने में मदों, मूल्य, तथा भार का चुनाव आवश्यक है परन्तु इससे अधिक आवश्यक उन आंकड़ों की माननीयता है जिनके आधार पर निर्देशांकों को बनाया जायेगा । यदि आकड़ों के एकत्रित, संकलित, तथा वर्गीकरण करने में सावधानी से कार्य नहीं किया गया तब निर्देशांकों में महान त्रुटियाँ हो सकती हैं जिससे वे प्रवर्तमान दशाओं का सही ज्ञान कराने में पूर्णतया असमर्थ हो सकते हैं । परन्तु निर्देशांक बनाने की यह कठिनाई मौलिक नहीं है वरन् यदि पर्याप्त सतर्कता रखी जाय तब यह कठिनाई दूर हो सकती है ।

इन सब दोषों और कठिनाइयों के होते हुए भी निर्देशांक सामान्य मूल्य स्तर तथा मुद्रा के मूल्य में हुए परिवर्तनों को नापने की एक लाभप्रद तथा महत्व-पूर्ण विधि है । जीवन स्तर, उत्पादन लागत, प्रदा, राष्ट्रीय आय तथा इस प्रकार की अन्य परिवर्तनशील दशाओं में इसकी अशुद्धता बहुत कुछ सीमा तक सांख्यिकी विज्ञान की प्रगति के साथ साथ परिष्कृत की जा सकी है । यद्यपि आंकड़ों के एकत्रित, संकलित तथा वर्गीकरण करने में कुछ स्वेच्छता रहती है, परन्तु इस प्रकार की स्वेच्छता केवल निर्देशांकों के लिये ही नहीं रहती वरन् उन सभी मापों तथा परिकलनों (calculations) में रहती है जिन्हें मनुष्य को करना होता है। यद्यपि 'औसत' एक त्रुटिपूर्ण विचार प्रदान कर सकता है तथा सदा तथ्य का वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता, फिर भी इसका व्यापक प्रयोग किया जाता है । निर्देशांकों में स्वेच्छाचारिता (arbitrariness) उसी प्रकार की होती है जैसे कि औसत में । इस सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि निर्देशांक निरपेक्ष वस्तु को नहीं व्यक्त करता वरन् उनमें हुये परिवर्तनों को इंगित करता है। यदि आंकड़ों के एकत्रित, संकलित तथा वर्गीकरण करने तथा निर्देशांकों के बनाने में दोष भी हो, तब भी निष्कर्ष में कोई विशेष अधिक त्रुटि नहीं आ सकती यदि त्रुटियों सदा एक ही प्रकार की हों । केवल जब त्रुटियों की प्रकृति तथा प्रकार परिवर्तित हो जाता है तभी निर्देशांकों के निर्माण में स्वेच्छाचारिता का कुछ प्रभाव पड़ सकता है।

अध्याय ६

स्फीति तथा अवस्फीति

(Inflation and Deflation)

स्फीति तथा अवस्फीति के अन्तर्गत प्रवर्तमान दशाओं को वर्णन कर देना सरल है परन्तु इनकी परिभाषा देना उतना सरल नहीं है। फिर भी एक प्रकार की परिभाषा देनी ही चाहिए।

स्फीति (Inflation). "केन्सीय अर्थ में वृद्धिमान प्रभावशाली मांग की तुलना में प्रदा की पूर्ण वृत्ति सम्बन्धित अलोचपूर्णता वास्तविक स्फीति की कसौटी होती है, यद्यपि केन्स ने यह स्वीकार किया कि पूर्णवृत्ति के पूर्व भी कुछ विशिष्ट अड़चनों (bottle-necks) के कारण स्फीति सम्भव है। जहाँ तक अर्धविकसित अर्थव्यवस्थाओं का सम्बन्ध है वास्तविक स्फीति की सही कसौटी प्रदा के पूर्ण सामर्थ्य की अलोचपूर्णता होती है। क्योंकि इन अर्थव्यवस्थाओं में श्रम की नहीं वरन् वास्तविक पूंजी की कमी वास्तविक प्रसार में मौद्रिक प्रसार की अपेक्षा अधिक अड़चन उत्पन्न करती है।"

अवस्फीति (Deflation). अवस्फीति गिरते हुए मूल्यों की स्थिति को कहते हैं जो मुख्यतया बाजार में उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं की अपेक्षा अपर्याप्त प्रभावशाली मांग के कारण उत्पन्न होती है। इसके परिणामस्वरूप अत्यधिक उत्पादन, अनैच्छिक वृत्ति हीनता (involuntary unemployment) तथा आर्थिक क्रियाओं में कमी उत्पन्न हो जाती है।

स्फीति क्या है ?

स्फीति उस स्थिति को कहते हैं जब लोगों के हाथ में क्रय शक्ति उनके लिए उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। इसका अवश्यम्भावी परिणाम वृद्धिमान मूल्य होता है। स्फीति के अन्तर्गत बढ़ते हुए मूल्य अस्थायी नहीं होते वरन् वे अनवरत विद्यमान रहते हैं। मूल्यों की स्फीतिक वृद्धि की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित होती है :—

(१) मूल्य में वृद्धि मुख्यतया मौद्रिक कारणों से होती है। विनियोग क्रियाओं में वृद्धि के परिणामस्वरूप मुद्रा के परिचलन में वृद्धि हो जाने के कारण स्फीति उत्पन्न होती है। मुद्रा की मात्रा के परिचलन में वृद्धि विभिन्न प्रकार से हो

सकती है। (अ) केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित चलन की मात्रा में प्रसार, (ब) बैंक साख में प्रसार, तथा (स) मुद्रा के परिचलन प्रवेग में वृद्धि। यह मान लिया गया है कि चूँकि विनियोग में वृद्धि हुई है तथा लोगों के पास मुद्रा की पूर्ति बढ़ गई है इसलिए उनकी क्रय शक्ति भी बढ़ जायेगी। वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा में वृद्धि की अपेक्षा क्रय शक्ति में हुई यह अधिक वृद्धि स्फीति की दशाओं को उत्पन्न करती है।

(२) स्फीति में यह सदा निहित है कि पूर्ण वृत्ति के अन्तर्गत समझी जाने वाली सामान्य अवस्था से कुछ विचलन (deviation) अवश्य हुआ है तथा स्फीति से अर्थ-व्यवस्था को कुछ हानि ही होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस प्रकार की मूल्य वृद्धि जिसका सामान्य दशाओं से विचलन नहीं हुआ है तथा जो अर्थव्यवस्था को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाती वह स्फीतिक नहीं है।

(३) स्फीति में मूल्यों की वृद्धि अनवरत (persistent) तथा सर्व-व्यापी होती है। यदि कुछ वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो रही है तथा कुछ के मूल्य में कमी और परिणाम स्वरूप औसत मूल्य स्तर में वृद्धि हो जाती है तब हम उसे स्फीति नहीं कहेंगे। यह कहना भी ठीक नहीं होगा कि स्फीति अर्थव्यवस्था के एक विशेष भाग में विद्यमान है। इस प्रकार की स्थिति का अस्थायी होना अवश्यम्भावी है तथा यह स्वयं ठीक हो जायेगी। स्फीति का अर्थ तो सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के मूल्य स्तर में सामान्य वृद्धि से होता है जो स्थायी होती है। सामान्य मूल्य स्तर में हुई अल्प वृद्धि जो अपने आप ठीक हो जाती है स्फीति नहीं कही जाती।

जैसा कि उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है, मूल्य की प्रत्येक वृद्धि स्फीतिक नहीं होती। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि विनियोग की प्रत्येक क्रिया तथा परिणामतः मुद्रा तथा लोगों की क्रय शक्ति में हुई प्रत्येक प्रकार की वृद्धि से मूल्य नहीं बढ़ता तथा उससे स्फीतिक दशाएं उत्पन्न नहीं होतीं। अतः हम यह नहीं कह सकते कि मुद्रा की पूर्ति में हुई प्रत्येक वृद्धि स्फीतिक होती है।

मान लीजिए पूर्ण वृत्ति पर राष्ट्रीय प्रदा का स्तर १५,००० करोड़ रुपये होगा परन्तु किसी समय राष्ट्रीय प्रदा १०,००० करोड़ रुपये है और उस समय परिचलित मुद्रा की कुल मात्रा, जैसा कि प्रथम अवस्था में दिखलाया गया है, २,५०० करोड़ रुपये है। यदि हम यह मान लें कि मुद्रा का परिचलन प्रवेग (**व**) ४ है तब मुद्रा की इतनी पूर्ति (**म व**=२,५०० करोड़ रु०×४=१०,००० करोड़

रुपये) सम्पूर्ण राष्ट्रीय प्रदा (जो १०,००० करोड़ रुपये के बराबर है) के लिये पर्याप्त होगी।

	राष्ट्रीय आय तथा प्रदा	राष्ट्रीय प्रदा को सहारने के लिए मुद्रा की पूर्ति
प्रथम अवस्था	रु० १०,००० करोड़	रु० २,५०० करोड़ × ४
द्वितीय अवस्था	रु० १५,००० करोड़	रु० ३,७५० करोड़ × ४
तृतीय अवस्था	रु० १५,००० करोड़	रु० ४,००० करोड़ × ४

मान लीजिए पूर्ण वृत्ति पर राष्ट्रीय आय का स्तर १५,००० करोड़ रुपये है तथा सरकार उद्योगों की स्थापना, बाँध बनाने, सड़क तथा अस्पताल के निर्माण इत्यादि करने के लिए अतिरिक्त विनियोग करती है जिसके परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय प्रदा बढ़कर १५,००० करोड़ रुपये हो जाती है और पूर्ण-वृत्ति की स्थिति भी प्राप्त हो जाती है। परिकलन की सुविधा के लिये मान लीजिये कि मुद्रा का परिचलन प्रवेग ४ पर स्थिर रहता है यद्यपि वास्तविक व्यवहार में मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि के परिणाम स्वरूप उसका परिचलन प्रवेग स्थिर नहीं रह सकता, और उसमें परिवर्तन अवश्य होगा। जैसा कि द्वितीय अवस्था में दिखलाया गया है, अब मुद्रा की मात्रा को २,५०० करोड़ रुपये से ३,७५० करोड़ रुपये बढ़ाना आवश्यक हो जाता है जिससे कि बढ़ी हुई राष्ट्रीय प्रदा संभारी (sustain) जा सके। यदि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि के साथ उसके परिचलन प्रवेग में कमी हो जाती है तब इस कार्य के लिये अधिक मुद्रा की मांग की आवश्यकता होगी।

यहाँ पर जो महत्वपूर्ण बात ध्यान देने योग्य है वह यह है कि मुद्रा की मात्रा में १,२५० करोड़ की वृद्धि (२,५०० करोड़ रुपये से ३,७५० करोड़) स्फीतिक नहीं है तथा इससे सामान्य मूल्य स्तर में वृद्धि नहीं होगी। ऐसा इसलिये है क्योंकि मुद्रा की कुल मात्रा (**म ब**) में वृद्धि हुई है तथा वस्तुओं और सेवाओं, जिन पर मुद्रा का व्यय किया जायेगा, की पूर्ति में भी वृद्धि हुई है। अतः कोई कारण नहीं है कि सामान्य मूल्य स्तर में स्फीतिक वृद्धि हो। परन्तु यदि मुद्रा की पूर्ति और बढ़ कर ४,००० करोड़ रुपये हो जाती है और परिचलन प्रवेग ४ ही रहता है, जैसा कि तृतीय अवस्था में दिखलाया गया है, तब मूल्य में स्फीतिक वृद्धि होने की सम्भावना है। ऐसा इसलिये है क्योंकि मुद्रा की कुल पूर्ति (**म ब**=४,००० करोड़ रु० × ४=१६,००० करोड़ रु०) तथा परिणाम स्वरूप लोगों की क्रय शक्ति में उससे अधिक वृद्धि हो जायेगी जितनी १५,००० करोड़ रुपये की प्रदा को सम्भारने

के लिए आवश्यक है। चूँकि हम ने पूर्ण वृत्ति की अवस्था मान ली है अत: प्रदा में और अधिक वृद्धि करने की सम्भावना नहीं है जिससे बाजार में वस्तुओं की पूर्ति भी नहीं बढ़ सकती। मुद्रा की कुल पूर्ति में इस प्रकार की वृद्धि का परिणाम मूल्यों में स्फीतिक वृद्धि ही होगा।

स्फीति वृद्धिमान मूल्यों की वह अवस्था है जो लोगों की क्रय शक्ति में वस्तुओं और सेवाओं की अपेक्षा अधिक वृद्धि के कारण उत्पन्न होती है। परन्तु यदि मूल्य वृद्धि सूक्ष्म प्रकार की है तो वह अर्थ-व्यवस्था में उतनी गड़बड़ नहीं उत्पन्न करती तथा अस्थायी होती है। यद्यपि मूल्य वृद्धि की यह प्रकृति भी स्फीतिक होती है परन्तु इसे मुद्रा स्फीति नहीं कहते। मुद्रा स्फीति के लिये तो वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति की अपेक्षा लोगों की क्रय शक्ति में अत्यधिक वृद्धि होनी चाहिए जिससे मूल्य वृद्धि अनवरत तथा सर्वव्यापी हो। तभी हम मुद्रा स्फीति कह सकते हैं। यह स्पष्ट रूप से सिद्ध करता है कि कुल मुद्रा की पूर्ति तथा सामान्य मूल्य में हुई प्रत्येक वृद्धि स्फीतिक नहीं होती।

स्फीति किस प्रकार प्रारम्भ होती है ?

स्फीतिक दशाएँ विभिन्न प्रकार से उत्पन्न हो सकती हैं परन्तु मुद्रा स्फीति के दो प्रमुख कारण (१) युद्ध व्यय तथा (२) हीनार्थ प्रबन्धन (deficit financing) होते हैं।

युद्ध व्यय. युद्ध सदृश संक्रमणकालीन परिस्थिति में सरकार का व्यय उसकी आय की अपेक्षा काफी बढ़ जाता है जिसके परिणामस्वरूप उपभोक्ताओं के हाथ में वस्तुओं की पूर्ति की अपेक्षा अधिक क्रय शक्ति आ जाती है। प्रथम तथा द्वितीय विश्व युद्ध में भारत तथा अन्य देशों में स्फीतिक दशायें उत्पन्न हुई क्योंकि लोगों की क्रय शक्ति में काफी वृद्धि हो गई थी। यह सत्य है कि युद्ध काल में औद्योगिक तथा कृषि उत्पादन में भी वृद्धि होती है परन्तु (१) प्रदा में वृद्धि उतनी अधिक नहीं होती जितनी वृद्धि लोगों की क्रय शक्ति में होती है और (२) वस्तुओं और सेवाओं का अधिक अंश युद्ध की तैयारी में चला जाता है तथा लोगों को उपलब्ध नहीं हो पाता। इसके परिणामस्वरूप मूल्यों में स्फीतिक वृद्धि होती है।

हीनार्थ-प्रबन्धन (deficit financing). हीनार्थ प्रबन्धन वह दशा है जब सरकार का कुल परिव्यय (outlay) आय तथा पूंजी बजट दोनों को मिलाकर उनके कुल संसाधनों से बहुत अधिक होता है तथा सरकार नोट छापकर एवं बैंक साख के द्वारा अपने परिव्यय का अर्थ प्रबन्धन करती है। यदि सरकार

का परिव्यय उसके कुल संसाधनों तक ही सीमित है तब मूल्य स्तर में वृद्धि नहीं हो सकती क्योंकि सरकार के परिव्यय के अनुपात में वस्तुओं और सेवाओं की उपलब्धि अर्थव्यवस्था में है । यदि सरकार कर की आय को व्यय करती है तब इसका अर्थ यह हुआ कि अब लोगों के व्यय करने के स्थान पर सरकार व्यय कर रही है । अतः इसके परिणामस्वरूप मूल्य स्तर में वृद्धि नहीं हो सकती क्योंकि व्यय किये जाने वाले रुपये के मूल्य के बराबर अर्थ-व्यवस्था में वस्तुएँ और सेवायें उपलब्ध हैं । इसी प्रकार यदि सरकार देश के भीतर लिये गए ऋण का व्यय करती है तब भी मूल्य स्तर में वृद्धि नहीं होगी क्योंकि वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य के बराबर ही मुद्रा है, तथा उसका व्यय समाज के लोग नहीं करेंगें वरन् सरकार करेगी । परन्तु आर्थिक विकास तथा प्रगति को प्रोत्साहित करने के लिये तथा पूर्ण वृत्ति लाने के लिये सरकार को बहुधा अपने कुल संसाधनों से बहुत अधिक व्यय करना पड़ता है जिससे लोगों की क्रय शक्ति उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं की अपेक्षा अधिक हो जाती है जिसके कारण स्फीतिक दशायें उत्पन्न हो जाती हैं ।

परन्तु हीनार्थ प्रबन्धन के द्वारा स्फीति होना उस समय आवश्यक नहीं है जबकि सरकार के अधिक परिव्यय के साथ-साथ वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा में भी तीव्र गति से वृद्धि हो जाती है । ऐसी स्थिति में लोगों की अतिरिक्त क्रय-शक्ति का प्रयोग बढ़ी हुए वस्तुओं तथा सेवाओं पर किया जा सकता है और अति-रिक्त आय को इन वस्तुओं पर व्यय भी किया जा सकता है । ऐसा होना उस समय बहुत सम्भव है जब कि अर्थ-व्यवस्था में अप्रयुक्त संसाधन उपलब्ध हैं तथा पूर्ण वृत्ति की अवस्था नहीं प्राप्त की जा सकी है ।

परन्तु पूर्ण वृत्ति की अवस्था के पूर्व ही (१) अवधि विलम्ब (time-lag) की भी सम्भावना है जो काफी अधिक हो सकती है जिससे विनियोग के फलस्वरूप वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति में वृद्धि होने में काफी समय लगेगा, तथा (२) विशेषतया भारत जैसे आर्थिक दृष्टि से अर्धविकसित देश के लिये सम्भारों तथा मशीनों की अल्प पूर्ति, आयात द्वारा प्राप्त कच्चे मालों तथा प्राविधिक ज्ञान की कमी इत्यादि जैसे अनेक गम्भीर गत्यवरोध उपस्थित हो सकते हैं जिनसे विनियोग के फलस्वरूप होने वाली प्रदा की वृद्धि रुक जाती है । इससे पूर्ण वृत्ति की अवस्था के पूर्व ही स्फीतिक दशाएँ उत्पन्न हो सकती हैं ।

मूल्य में वृद्धि मजदूरी, कच्चे माल की कीमत तथा अन्य उत्पादन लागतों में वृद्धि हो जाने के कारण भी हो सकती है । यह भी सम्भव है कि भुगतान सन्तुलन

तथा वाणिज्य की दशाओं में हुए परिवर्तनों के कारण भी मूल्य स्तर में वृद्धि हो गई हो। "मान लीजिए स्वतन्त्र विनिमय की दशा में पूर्ण वृत्ति स्थिति वाली एक अर्थ-व्यवस्था को अपने भुगतान सन्तुलन में घाटा हो जाता है। यह भी मान लीजिए कि वह देश प्रचुर मात्रा में खाद्य पदार्थ तथा कच्चे मालों का आयात करता है। इस घाटे के परिणामस्वरूप विनिमय दर में कमी हो जाती है जिससे आयात के मूल्य में वृद्धि हो जाती है। परिकल्पित दशाओं के अन्तर्गत इन आयातों की मांग के आलोच्यपूर्ण होने की सम्भावना है तथा मूल्य में वृद्धि हो जाने पर भी इनका आयात अधिक दामों पर होता रहेगा। कच्चे माल के मूल्यों मे वृद्धि हो जाने के परिणामस्वरूप आन्तरिक मूल्य स्तर में भी शीघ्र ही वृद्धि हो जायेगी। खाद्य सामग्री के मूल्य में वृद्धि हो जाने के कारण अन्त में मजदूरी में भी वृद्धि हो जायेगी और परिणामतः सामान्य लागत-स्फीति (cost-inflation) उत्पन्न हो जायेगी। यद्यपि इन दशाओं में आन्तरिक मूल्य स्तर में वृद्धि हो जायेगी, फिर भी उसे स्फीतिक मूल्य वृद्धि नहीं कहा जायेगा। इसको हम मूल्य में अस्थायी वृद्धि कह सकते हैं जो उद्योग के लागत स्वरूप में परिवर्तन, निर्मित वस्तुओं के अधिक आयात, अथवा वस्तुओं की आन्तरिक प्रदा में वृद्धि के द्वारा ठीक हो जायेगा। यदि ऐसा होता है तब बाजार में वस्तुओं को पूर्ति में वृद्धि हो जायेगी जो अधिक मजदूरी तथा कच्चे माल के अधिक मूल्य के द्वारा लोगों की बढ़ी हुई क्रय शक्ति को सँभारने के लिये पर्याप्त होगी। केवल उसी समय स्फीतिक दशायें उत्पन्न होती हैं जब उपभोग की वस्तुओं को आयात द्वारा मंगाना सम्भव न हो तथा देश पूर्ण वृत्ति की अवस्था को पहुँच चुका हो तथा प्रदा में अतिरिक्त वृद्धि करने की सम्भावना बिल्कुल न हो और परिणामस्वरूप वस्तुओं की आन्तरिक पूर्ति को न बढ़ाया जा सके। यहाँ इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि स्फीतिक दशाएँ मुख्यतया मौद्रिक प्रतिभास (phenomenon) होती हैं। इनका सृजन केवल उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति में वस्तुओं और सेवाओं के अनुपात में अधिक वृद्धि करके ही किया जा सकता है चाहे ये किसी प्रकार से भी क्यों न उत्पन्न हों।

स्फीति के विभिन्न प्रकार

स्फीति से सम्बन्धित अनेक परिभाषिक शब्द हैं जिनके विषय में स्पष्ट जानकारी प्राप्त कर लेना चाहिए जिससे किसी अर्थ-व्यवस्था में उत्पन्न हुए स्फीतिक प्रभावों को भली भाँति समझा जा सके।

खुली अथवा कीमत स्फीति (open inflation or price inflation). यदि उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति में वृद्धि वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति की अपेक्षा

अधिक होती है तथा "यदि इस प्रकार का स्फीतिक अन्तर (gap) बन्द नहीं किया गया है और आय द्वारा प्रोत्साहित कुल मांग कुल वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य से अधिक है तब दो में एक या दोनों बातें अवश्य होंगी। या तो वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि कुल अन्तर के बराबर होगी जिससे वस्तुओं की मांग करने वाली अतिरिक्त आय मूल्य में वृद्धि के साथ आत्मसात (absorb) हो जाये। तब इसे खुली स्फीति कहते हैं। अथवा यदि मूल्य वृद्धि अधिक तीव्र नहीं है तब सभी वस्तुओं को खरीदने तथा मूल्य दे देने के बाद भी कुछ आय शेष रह जायेगी। वस्तुओं को खरीदने के लिये आय तो उपलब्ध है परन्तु इस आय का प्रयोग वस्तुओं को खरीदने के लिये नहीं किया जाता क्योंकि वांछित वस्तुयें प्रायः उपलब्ध नहीं हैं"। खुली स्फीति सामान्य मूल्य स्फीति का दूसरा नाम है जिसमें सामान्य मूल्य स्तर में वृद्धि होती रहती है तथा जिसके विरुद्ध कोई निरोध नहीं है।

दमित स्फीति (suppressed inflation). एक प्रकार की ऐसी परिस्थितियों में जिनमें 'दमित स्फीति' शब्द का प्रयोग लाभप्रद होता है वह है जिसमें ऐसी नीतियों का अनुसरण किया जाता है जो वर्तमान में बढ़ते हुए मूल्यों को तो रोकें परन्तु जो ऐसी शक्तियों को संचित करती रहती हैं जिनसे भविष्य में मूल्य वृद्धि में सहायता पहुँचती है। युद्धकालीन नियन्त्रण इसके उदाहरण हैं। युद्ध के लिये संसाधनों को उपलब्ध करने तथा बढ़ते हुये मूल्यों के हानिकारक प्रभावों को दूर करने के लिये नियन्त्रण तथा समवितरण (rationing) किये जा सकते हैं जिससे परिवारों तथा फर्मों को बहुत सी उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं को एक दिये हुए मूल्य पर असीमित मात्रा में खरीदने से रोका जा सकता है। इसलिये क्रेतागण कुछ और अधिक बचाकर रखने के लिये बाध्य हो जाते हैं और उसका प्रयोग वे भविष्य में उस समय करते हैं जब वस्तुयें उपलब्ध होने लगती हैं तथा उनके खरीदने पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रहता। पिछले युद्ध में अनेक फर्मों ने बहुत सी तरल निधि (जैसे नकद या अल्प कालीन ऋण-पत्र) एकत्रित कर ली क्योंकि वे अपने सम्भारों का प्रसार तथा उनका नवीनीकरण न कर सके। इसी प्रकार अनेक परिवारों ने युद्धकाल में बहुत बड़ी असाधारण बचत कर ली क्योंकि वे अपनी वांछित वस्तुओं और सेवाओं को खरीद सकने में असमर्थ थे। इसकी प्रमुख विशेषता यह कि यद्यपि स्थायी रूप से बढ़ते हुए मूल्यों को रोका जा सकता है परन्तु उसमें ऐसी प्रचण्ड शक्तियाँ छिपी रहती हैं जो कि भविष्य में किसी भी समय प्रस्फुटित होकर भयंकर परिणाम उत्पन्न कर सकती हैं और मूल्य में तीव्र वृद्धि कर खुली स्फीति उत्पन्न कर सकती हैं।

निहित स्फीति (latent inflation). यह उस स्थिति में होता है जब फर्में अपने कोषों का व्यय नहीं कर पातीं वरन् उसे सुरक्षित रखने के लिये बाध्य हो जाती हैं। ऐसा वे किसी प्रतिबन्ध अथवा नियन्त्रण के कारण नहीं करतीं वरन् इसलिए करती हैं क्योंकि मशीन निर्माण करने वाली फर्में अतिरिक्त आर्डर स्वीकार करने में असमर्थ होती हैं। हैरड के मतानुसार "स्फीतिक दबाव सम्भाव्य पूर्ति से समूहीकृत मांग (aggregate demand) के अतिरेक को व्यक्त करने का सर्वोत्तम माध्यम है। आंशिक रूप में खुली स्फीति तथा आंशिक रूप में असन्तुष्ट मांग इसके परिणाम होते हैं। जब आंशिक अथवा पूर्ण रूप में असन्तुष्ट माँग मूल्य नियन्त्रण का परिणाम होता है, जैसा बहुधा युद्धकालीन स्थितियों में होता है, तब इसे दमित स्फीति कहना अधिक उपयुक्त है। परन्तु यदि इस प्रकार की मूल्य वृद्धि उत्पादकों के जानबूझ कर वस्तु मूल्य में वृद्धि न करके मांग को कम करने की नीति के कारण उत्पन्न होती है तब उसे निहित स्फीति कहना अधिक उपयुक्त होगा।"

आय-स्फीति (income inflation). आय स्फीति उस दशा में होती है जब व्यक्तियों तथा फर्मों की आय में तो काफी वृद्धि हुई हो परन्तु वे अपनी बढ़ी हुई आय को व्यय करने में असमर्थ रहते हैं, जैसा कि दमित तथा निहित स्फीति में होता है। इन दोनों स्थितियों में व्यक्ति तथा फर्म के पास आय संग्रहीत होती रहती है परन्तु वे इस आय का व्यय नहीं कर सकते। आय स्फीति वास्तव में असली स्फीति का रूप नहीं है परन्तु यदि शक्तियों को मुक्त कर दिया जाय अथवा उन पर नियन्त्रण न रखा जाये तब इससे खुली स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

लागत स्फीति (cost inflation). लागत स्फीति उस दशा में होती है जब उद्योग की उत्पादन लागत में वृद्धि या तो कच्चे माल अथवा अन्य पदार्थों की कीमत में वृद्धि होने अथवा मज़दूरी बढ़ जाने के कारण होती है। उत्पादन लागत में इस वृद्धि के परिणामस्वरूप उपभोग की वस्तुओं की कीमतें बढ़ भी सकती हैं और नहीं भी। परन्तु यदि इसके परिणामस्वरूप उपभोग पदार्थों की कीमतें बढ़ भी जाती हैं तब यह आवश्यक नहीं है कि कीमत स्फीति (खुली स्फीति) उत्पन्न हो ही यदि, जैसा कि ऊपर दिखाया गया है, प्रदा में भी साथ साथ वृद्धि हुई है और परिणामस्वरूप बाजार में वस्तुओं और पदार्थों की पूर्ति भी बढ़ गई है। आय स्फीति के समान लागत स्फीति भी असली स्फीति नहीं होती वरन् आगे चल कर असली स्फीति उत्पन्न कर सकती है।

अति-स्फीति (hyper-inflation). अति-स्फीति, जिसे तीव्र उच्छृंकल स्फीति (run-away inflation) भी कहते हैं, उस स्थिति में उत्पन्न हो जाती

है "जब मौद्रिक सत्ता स्फीतिक प्रक्रियाओं को रोकने में पूर्णतया असमर्थ होती है। जनता स्फीति के प्रति इतनी जागरूक हो जाती है कि वह पहले की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से व्यय करना प्रारम्भ कर देती है। चूँकि कीमतों के बढ़ जाने की सम्भावना रहती है इसलिये लोग बाद की अपेक्षा पहले ही खरीदना अधिक पसन्द करते हैं। मुद्रा के परिचलन प्रवेग में वृद्धिमान गति से वृद्धि होने लगती है। इसी कारण उपभोग में बचत की अपेक्षा वृद्धि होती है। उपभोग बढ़ता है और बचत घटने लगती है तथा एक समय बचत बिल्कुल समाप्त हो जाती है। चूँकि ऐसे समय बचत से ऋण लेना असम्भव रहता है इसलिये ऋण देने योग्य कोष (loanable funds) की पूर्ति अतिरिक्त साख सृजन करके की जाती है। उच्छृंखल स्फीति पर नियन्त्रण सरकार द्वारा नहीं किया जा सकता क्योंकि सरकार के वित्त के अस्फीतिक स्रोत, जैसे कर, बचत से लिया गया ऋण, वांच्छित आय की पूर्ति करने में समर्थ नहीं होते। केवल हीनार्थ प्रबन्धन ही एक युक्ति रहती है। अति-स्फीति आर्थिक प्रक्रिया में असाधारण विकृति (distortion) उत्पन्न कर देती है।"

विस्फीति (disinflation). विस्फीति उन सभी विधियों का नाम है जो लोगों की क्रय शक्ति में कमी करके स्फीतिक दशाओं को रोकने का प्रयास करती हैं। एक विधि तो कर में वृद्धि है। कर में वृद्धि करके लोगों के उपभोग में कमी की जा सकती है। दूसरी विधि कुछ वस्तुओं के उपभोग पर नियन्त्रण लगाने की है। एक और विधि लोगों की पूरी अथवा आंशिक आय को बैंक से अनुपलब्ध बना देना है जिससे कि रुपया न तो बैंक से निकाला जा सके और न व्यय किया जा सके। परन्तु विस्फीति स्फीतिक शक्तियों को रोक सकने में सदा सफल नहीं होती क्योंकि यदि कर में वृद्धि तथा उपभोग पर नियन्त्रण सतर्कता से संचालित न किया गया तब इनके द्वारा उत्पादन में कमी हो सकती है जिससे स्फीतिक दबाव और अधिक तीव्र हो सकते हैं।

प्रत्यवस्फीति (reflation). जब अवस्फीति प्रारम्भ हो जाती है तथा कीमतों में कमी होने लगती है तब स्थिति पर नियन्त्रण करने की एक विधि है मुद्रा के परिचलन में वृद्धि करके लोगों की क्रय शक्ति बढ़ा देना जिससे कीमतों में पुनः वृद्धि होने लगे। इसे प्रत्यवस्फीति कहते हैं। परन्तु यदि अवस्फीतिक शक्तियाँ काफी सुदृढ़ हो जाती हैं तब प्रत्यवस्फीति अवस्फीतिक शक्तियों के निम्नगामी प्रवाह को रोकने में पूर्णतया असमर्थ रहती है।

"स्फीति का सम्बन्ध वृद्धिमान मूल्य स्तर से होता है। परन्तु यदि अवसाद के बाद कीमतें बढ़ने लगती हैं तब उसे प्रत्यवस्फीति कहते हैं। परन्तु स्फीति की

गन्ध खराब होती है, प्रत्यवस्फीति की नहीं क्योंकि प्रत्यवस्फीति ऐसी अवस्था से बचाती है जिससे श्रम तथा पूँजी की बेरोजगारी अधिक होती है तथा लाभ कम। इसी प्रकार अवस्फीति भी बुरी होती है क्योंकि इसका परिणाम अवसाद तथा वृत्तिहीनता होता है, परन्तु विस्फीति बुरी नहीं होती क्योंकि यह स्फीति की दलदल से हमें दूर ले जाती है। एक ओर तो स्फीति तथा अवस्फीति में और दूसरी ओर अवस्फीति तथा विस्फीति में यह अन्तर बहुत सुन्दर है। हम यह कह सकते हैं कि अनुकूलतम संस्थिति (optimum equilibrium) तक प्रत्यवस्फीति रहती है तथा उसके बाद स्फीति; तथा यदि आय अनुकूलतम बिन्दु से आगे जायें तब हम को वापस आने के लिये विस्फीति का आश्रय लेना पड़ेगा, तथा उसके आगे यदि आय निम्नगामी दिशा में जायें तब अवस्फीति होगी"।

अवस्फीति

स्फीति वह दशा है जिसमें कीमतें अनवरत बढ़ती रहें तथा अवस्फीति की स्थिति में कीमतों में अनवरत कमी होती रहती है। स्फीति के सदृश अवस्फीति भी मुख्यतया एक मौद्रिक प्रतिभास है; कीमतों में कमी को अवस्फीति कहे जाने के लिये यह आवश्यक है कि कीमतों में अनवरत तथा सर्वव्यापी कमी हो रही हो; तथा अवस्फीति एक असामान्य दशा होती है जो सदा अर्थ-व्यवस्था को कुछ न कुछ हानि पहुँचाया करती है।

अवस्फीति का सृजन किस प्रकार होता है? अवस्फीतिक दशाएँ अनेक प्रकार से उत्पन्न हो सकती हैं। ये उस समय उत्पन्न हो सकती हैं जब कि पूर्ण वृत्ति के बिन्दु पर सरकार तथा व्यक्तियों की विनियोगिक क्रियाओं के फलस्वरूप, मान लीजिए १५,००० करोड़ रुपये के मूल्य के बराबर, राष्ट्रीय प्रदा में वृद्धि हुई हो परन्तु मुद्रा की पूर्ति में उस अनुपात में वृद्धि न हुई हो जो कि पूर्ण वृत्ति के बिन्दु पर इस प्रदा को सम्भारने के लिये आवश्यक हो।

	राष्ट्रीय आय तथा प्रदा	राष्ट्रीय प्रदा को संभारने के लिए मुद्रा की पूर्ति
चतुर्थ अवस्था	१५,००० करोड़ रुपया	रु० ३,००० करोड़ × ४

मान लीजिए, जैसा कि चतुर्थ अवस्था में दिखलाया गया है, राष्ट्रीय प्रदा १०,००० करोड़ रुपये से बढ़कर पूर्ण वृत्ति के स्तर पर १५,००० करोड़ रुपये हो जाती है परन्तु मुद्रा के परिमाण में वृद्धि २,५०० करोड़ रुपये से ३,००० करोड़ रुपये ही होती है। यदि हम यह मान लें कि मुद्रा का परिचलन प्रवेग ४ पर स्थिर

रहता है तब इस स्थिति में मुद्रा की पूर्ति १२,००० करोड़ रुपये होगी जो १५,००० करोड़ रुपये की राष्ट्रीय प्रदा को संभारने के लिये अपर्याप्त होगी। दूसरी अवस्था में मुद्रा की कुल पूर्ति (**म व**) १५,००० करोड़ रुपये थी जो ३,७५० करोड़ को ४ (परिचलन प्रवेग) से गुणा करके प्राप्त होती है । यह १५,००० करोड़ रुपये की राष्ट्रीय प्रदा के बराबर है तथा मूल्य स्तर भी स्थिर है । ऐसी स्थिति में न तो स्फीति होगी ओर न अवस्फीति ही । परन्तु चौथी अवस्था में मुद्रा की कुल पूर्ति केवल १२,००० करोड़ रुपये है (३,००० करोड़ × ४) तथा यह १५,००० करोड़ रुपये की राष्ट्रीय प्रदा सम्भारने में अपर्याप्त है। अन्य शब्दों में, यदि हम समूहीकृत चित्र लें तो हम यह देखेंगे कि १२,००० करोड़ रुपये से १५,००० करोड़ रुपये मूल्य की राष्ट्रीय प्रदा (स्थिर कीमतों के आधार पर परि-कलित) नहीं खरीदी जा सकती। ऐसा होने के लिये यह आवश्यक है कि मूल्य में कमी हो ताकि कुल राष्ट्रीय प्रदा की कीमत भी १२,००० करोड़ रुपये हो जाये । यदि मुद्रा की मात्रा ३,००० करोड़ रुपये हो तथा परिचलन प्रवेग ४ रहे तो में मूल्य इस प्रकार की कमी अवश्य होगी । परन्तु यदि परिचलन प्रवेग में वृद्धि हो भी जाये फिर भी इसमें वृद्धि इतनी तीव्र गति से नहीं होगी कि ३,००० करोड़ रुपया (चलन तथा साख) १५,००० करोड़ रुपये की राष्ट्रीय प्रदा (स्थिर कीमतों पर परिकलित) को खरीदने के लिये पर्याप्त हो। ऐसी परिस्थिति में कीमतों में कमी होना आवश्यक है । इसी स्थिति को अवस्फीति कहते हैं।

स्वर्णमान के अन्तर्गत जब मुद्रा की पूर्ति स्वर्ण निधि पर आधारित होती है, अवस्फीतिक दशायें उस समय उत्पन्न होंगी जब स्वर्ण निधि उपलब्ध नहीं है तथा केन्द्रीय बैंक मुद्रा को पूर्ति उस समय भी बढाने में असमर्थ है जबकि अर्थ-व्यवस्था के हित में इस प्रकार को वृद्धि अत्यन्त आवश्यक है । ऐसी परिस्थिति उस समय भी होगी जब 'अनुपातिक निधि प्रणाली' प्रचलित होती है तथा केन्द्रीय बैंक मुद्रा की पूर्ति बढ़ाने में असमर्थ होता है क्योंकि उसके पास ऐसा करने के लिये आवश्यक निधि नहीं होती यद्यपि देश के आर्थिक हित में इस प्रकार की वृद्धि वाञ्छनीय है। भारत में इस प्रकार की स्थिति रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व उत्पन्न हो जाया करती थी। इम्पीरियल बैंक व्यस्त काल (busy season) में मुद्रा को पूर्ति बढ़ा नहीं पाता था तथा गिरती हुई कीमतों के रोकने में असमर्थ सिद्ध होता था। परन्तु आधुनिक युग में व्यवस्थित चलन प्रणाली के अन्तर्गत इस प्रकार की स्थिति केवल उसी समय उत्पन्न हो सकती है जक कि मौद्रिक सत्ता गलती कर बैठती है तथा इस बात का ठीक ठीक अनुमान नहीं लगा पाती कि राष्ट्रीय प्रदा को संभारने के लिये कितनी मुद्रा की आवश्यकता होगी । परन्तु

पूर्ण विकसित मौद्रिक विधि के कारण इस प्रकार की स्थिति की सम्भावना नहीं है। इसलिये अवस्फीति केन्द्रीय बैंक की मुद्रा के परिचलन की मात्रा में वृद्धि करने की अनिच्छा अथवा असमर्थता के कारण उत्पन्न नहीं होती।

अवस्फीति उस समय उत्पन्न हो सकती है जब निजी साहसोद्यमी भविष्य के बारे में निराशावादी दृष्टिकोण अपना लेते हैं। ऐसा या तो वस्तुओं की मांग में आन्तरिक कमी के कारण अथवा निर्यात बाजार के संकुचन के कारण होता है। इसी कारण वे उद्योग से उतने लाभ की आशा नहीं रखते जितना लाभ वे चाहते हैं। इसलिये विनियोगिक क्रियाओं में संकुचन हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप बेरोज़गारी बढ़ जाती है। कच्चे माल, मशीनों तथा अन्य अन्तरिम पदार्थों (intermediate goods) की मांग में भी काफी कमी हो जायेगी। इसके परिणामस्वरूप श्रमिकों तथा अन्य व्यक्तियों की आय में कमी हो जायेगी तथा उनकी क्रयशक्ति घट जायेगी। यदि लोगों की क्रयशक्ति उस स्तर से भी कम हो जाती है जितनी प्रवर्तमान वस्तुओं और सेवाओं को बेचने के लिये आवश्यक है, तब इससे कीमतों में कमी हो जायेगी। एक बार जब ऐसी प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है तब वह संचयी होने लगती है तथा अवस्फीति उत्पन्न हो जाती है।

कीमतों में कमी इस कारण हो सकती है कि देश के आयात में निर्यात की अपेक्षा काफी वृद्धि हो गई हो जिससे देश में लोगों की क्रय शक्ति में वृद्धि हुए बिना ही वस्तुओं की पूर्ति में काफी वृद्धि हो गई हो। दूसरी सम्भावना यह हो सकती है कि श्रम तथा अन्य उत्पादन के साधनों की उत्पादकता में काफी वृद्धि हो गई हो किन्तु मज़दूरी और कच्चे माल तथा उद्योग के अन्तरिम पदार्थों को प्रदान करने वाले लोगों की आय में या तो बिल्कुल ही वृद्धि न हुई हो अथवा अपेक्षाकृत कम वृद्धि हुई हो। इसके परिणामस्वरूप क़ीमतों में कमी होने लगेगी। परन्तु कीमतों की इस प्रकार की कमी का अवस्फीतिक होना आवश्यक नहीं है क्योंकि कीमतों के ऐसे परिवर्तन का स्वरूप ही अस्थायी होता है तथा वह उस समय स्वयं ठीक हो जाता है जब असली कारण दूर हो जाय।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि कीमतों की प्रत्येक कमी अवस्फीतिक नहीं होती, ठीक उसी प्रकार जैसे प्रत्येक मूल्य वृद्धि स्फीतिक नहीं हुआ करती। मान लीजिए देश का सर्वांगीण विकास हो गया है तथा न केवल उत्पादन के सभी साधनों की उत्पादकता ही बढ़ रही वरन् उत्पादन के सभी साधनों की उत्पादकता भी बढ़ रही है। इसके द्वारा उत्पादन लागत तथा कीमत स्तर में कमी हो जायेगी। ठीक इसी प्रकार औद्योगिक क्रांति के प्रारम्भ में तथा आर्थिक इतिहास की विभिन्न अवस्थाओं में हुआ जब कुछ देशों में रोजगारी तथा प्रदा

में तीव्र वृद्धि हुई तथा ये देश पूर्ण वृत्ति के स्तर तक पहुँच गए। कीमतों में इस प्रकार की कमी अवस्फीतिक नहीं कही जाती वरन् यह तो आर्थिक प्रगति तथा ऐश्वर्य का चिन्ह समझा जाता है।

स्फीति तथा अवस्फीति में एक महत्वपूर्ण अन्तर यह हैं कि जब देश की सरकार के लिये यह सम्भव है कि वह दूसरे देशों में उत्पन्न हुए स्फीति के कुप्रभावों को अपने ही मौद्रिक तथा अन्य नियन्त्रणों द्वारा रोक सकती है, अवस्फीति की स्थिति में एक देश दूसरे देश में उत्पन्न हुए कुप्रभावों को रोकने में समर्थ नहीं हो पाता। "एक महान व्यावसायिक देश में उत्पन्न हुई अवस्फीति अन्य देशों में अवस्फीति उत्पन्न कर सकती है। देश में स्फीति अब उस प्रकार का संकट नहीं उत्पन्न करती जैसा कि स्वर्णमान की दशाओं में होता था। देश जो उस समूह में नहीं होते वे मौद्रिक संकुचन की नीति का अनुसरण करने के लिये बाध्य नहीं होते। इसके विपरीत, यद्यपि सापेक्षिक स्फीतिक प्रभाव उस प्रकार के संकट उत्पन्न करते हैं जिनका सम्बन्ध विदेशी कोष में कमी से होता है, देश अब मुख्यतया अपने विदेशी व्यापार पर प्रत्यक्ष नियन्त्रण करने के इच्छुक रहते हैं तथा आन्तरिक स्फीतिक दबाव बिना किसी कमी के जारी रहता है।" इसका कारण यह है कि अन्य देशों में अवस्फीति की स्थिति में वस्तुओं और सेवाओं की माँग में कमी हो जाने के कारण उस देश के निर्यात में भी कमी हो जाती है जिस देश में अवस्फीति नहीं है। इससे देश के भीतर वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति में लोगों की क्रय शक्ति की अपेक्षा काफी वृद्धि हो जायेगी। इससे देश के भीतर अवस्फीतिक शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यदि कोई देश काफी सीमा तक विदेशी व्यापार पर आधारित है तब उस में अन्य देशों के अवस्फीतिक प्रभाव अत्यन्त शीघ्र तथा तीव्र होते है।

विभिन्न वर्ग के लोगों पर प्रभाव

स्फीति तथा अवस्फीति दोनों असामान्य दशायें होती हैं तथा ये विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों के हितों को भयंकर रूप से प्रभावित करती हैं। यदि स्फीतिक तथा अवस्फीतिक दशायें कुछ समय तक चालू रहें तब अर्थ-व्यवस्था को अपूर्णीय क्षति (irreparable loss) पहुँच सकती है। स्फीति तथा अवस्फीति न केवल लोगों को हानि पहुँचाती हैं वरन् ये लोगों की मनोवैज्ञानिक दशायें तथा मानसिक विचार धारा में महान् परिवर्तन भी उत्पन्न करती हैं।

उद्योग तथा व्यवसाय. स्फीतिक दशायें—कम से कम साधारण स्फीतिक दशायें—उद्योग तथा व्यवसाय के लिये लाभप्रद होती हैं क्योंकि ये व्यवसाय करने वाले व्यक्तियों के लाभों को बढ़ाती हैं तथा उन्हें अधिक

आशान्वित और साहसी बनाती हैं। प्रारम्भिक अवस्था में स्फीति उत्पादकों के लाभों (कृषकों तथा व्यवसायियों के भी) को बढ़ाती है क्योंकि उनकी कीमतों में तो वृद्धि होती जाती है परन्तु उत्पादन लागत में उतनी वृद्धि नहीं होती जिससे उन्हें अधिक लाभ हो जाता है। कीमतों की बढ़ती हुई दशायें वैसे भी उत्पादकों को अधिक प्रसन्न तथा सन्तुष्ट बनाती हैं। इसके विपरीत, अवस्फीति उत्पादकों के लाभ को कम कर देती है क्योंकि निर्मित पदार्थों की कीमत में कमी हो जाती है परन्तु उत्पादन लागत में समान रूप से शीघ्रतापूर्वक कमी नहीं होती। यदि स्फीति तथा अवस्फीति जारी रहें, जैसा कि होना अवश्यम्भावी है, तब उद्योग तथा व्यवसाय पर इसके विपरीत प्रभाव पड़ेगा।

यदि स्फीतिक शक्तियाँ विद्यमान तथा प्रसारित हों तब (१) श्रम कठिनाइयाँ उत्पन्न होने की सम्भावना है क्योंकि श्रमिकों के जीवन निर्वाह व्यय में वृद्धि बिना मजदूरी में वृद्धि हुए ही हो जाती है। इससे उत्पादन कार्य के अस्त-व्यस्त हो जाने की सम्भावना है जिससे उत्पादन में कमी हो जायेगी तथा उत्पादकों को काफी हानि होगी। यदि श्रम-कठिनाइयों के परिणामस्वरूप श्रमिकों की मजदूरी बढ़ जाती है, जैसा कि बहुधा हुआ करता है, तब उत्पादकों को हानि होगी; (२) यदि किसी देश की कीमतों में स्फीतिक वृद्धि हो जाती है तब अन्य देशों द्वारा प्रदान की गई वस्तुओं की अपेक्षा उस देश द्वारा निर्यात की गई पदार्थों की कीमत में काफी वृद्धि हो जाती है। इससे इस देश की प्रतियोगात्मक शक्ति काफी कम हो जाती है जिससे उत्पादकों को काफी हानि उठानी पड़ती है; (३) यदि स्फीति काफी समय तक जारी रहती है तब देश के भीतर भी वस्तुओं की मांग काफी घट जाती है क्योंकि अब लोगों की आय वस्तुओं को खरीदने के लिये पर्याप्त नहीं होती। इससे अविक्रीत राशि (stocks) एकत्रित हो जाती है तथा उत्पादन में कमी हो सकती है। यदि उत्पादन वृद्धिमान प्रतिफल (ह्रासमान लागत) के अन्तर्गत होता है तब प्रदा की प्रत्येक कमी के साथ साथ उत्पादन लागत भी बढ़ती जायेगी जिस से उत्पादकों को हानि होने लगेगी; (४) यदि स्फीतिक दशायें काफी समय तक जारी रहती हैं तब सरकार के व्यय में भी वृद्धि होगी जिससे सरकार अधिक कर लगाने के लिये बाध्य हो जायेगी। इससे उत्पादकों पर कर का भार बढ़ जाता है तथा उन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है; और (५) यदि स्फीति जारी रहती है तब सरकार को उद्योग तथा व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण करने का बहाना मिल जाता है जिससे निजी साहसोद्यम का क्षेत्र संकुचित हो जाता है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि सूक्ष्म तथा अल्पकालीन स्फीति उत्पादकों के हित में होती है परन्तु महान् और निरन्तर स्फीति उनके हित के विरुद्ध रहती है।

अवस्फीति की दशा में उत्पादकों तथा व्यवसायियों को तुरन्त परेशानी होने लगती है क्योंकि उनकी वस्तुओं की कीमतें घटने लगती हैं किन्तु उनकी उत्पादन लागत में कमी नहीं होती। इससे बुरा तो यह होता है कि उत्पादक भविष्य के बारे में निराश हो जाते हैं जिससे देश के आर्थिक विकास में बाधा पहुँचती है। प्रारम्भिक अवस्था से ही अवस्फीति देश के औद्योगिक तथा आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है। अवस्फीति के बारे में अनुकूल बातें निम्न हैं: (१) ब्याज की दर में कमी हो जाती है जिससे औद्योगिक तथा अन्य विनियोगों के लिये ऋण लेने की लागत काफी घट जाती है; (२) कीमतों में कमी होने के परिणामस्वरूप लोगों की कुछ वस्तुओं की मांग में वृद्धि हो सकती है तथा यदि उत्पादन वृद्धिमान प्रतिफल (ह्रासमान लागत) के अन्तर्गत होता है तब उत्पादन में वृद्धि के साथ साथ उत्पादन लागत में कमी हो जायेगी जिससे उत्पादकों को लाभ होगा; (३) अवस्फीति के परिणाम स्वरूप मजदूरी घट सकती है, कच्चे माल की कीमतें कम हो सकती हैं तथा उत्पादन लागत घट सकती है; और (४) अवस्फीति सरकार के परिव्यय (outlay) तथा व्यय (expenditure) को भी घटा सकती है जिससे कर में भी कमी हो जायेगी। परन्तु इन लाभों का वास्तविक प्रभाव अधिक अनुकूल नहीं होता। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अवस्फीति उद्योग तथा व्यवसाय दोनों के हित में घातक है।

उपभोक्ताओं के लिये. स्फीति उपभोक्ताओं के लिये हानिकारक है, विशेषतया ऐसे लोगों के लिये जिनकी आय स्थिर रहती है, क्योंकि कीमतों की स्फीतिक वृद्धि उनकी सीमित मौद्रिक आय द्वारा प्राप्त वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा में काफी कमी कर देती है। ज्यों ज्यों स्फीतिक दबाव बढ़ता जाता है त्यों त्यों उपभोक्ताओं की कठिनाइयों में भी वृद्धि होती जाती है। लेकिन जहाँ तक व्यावसायिक वर्ग तथा कृषि वर्ग के उपभोक्ताओं का सम्बन्ध है उन पर स्फीति का उतना बुरा प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि यद्यपि वस्तुओं की कीमत में वृद्धि हो जाती है फिर भी उनकी आय तथा लाभ में स्फीति के कारण काफी वृद्धि हो जाती है। इसलिये अधिक कीमतों का प्रभाव इन पर उतना अधिक नहीं पड़ता जितना कि अन्य वर्ग के लोगों पर। परन्तु यदि अति-स्फीति उत्पन्न हो जाती है तब सभी वर्ग के व्यक्तियों को कठिनाई होती है तथा कुछ दशाओं में भुखमरी तथा मृत्यु भी होने लगती है।

इसके विपरीत अवस्फीति का स्वागत उपभोक्ता लोग करते है क्योंकि इससे जीवन निर्वाह व्यय में कमी हो जाती है तथा वे अपनी सीमित मौद्रिक आय

द्वारा अधिक वस्तुएं प्राप्त कर सकते हैं । जहाँ तक व्यावसायिक वर्ग तथा कृषि वर्ग के उपभोक्ताओं का सम्बन्ध है वे अवस्फीति को पसन्द नहीं करते क्योंकि यद्यपि वस्तुओं की कीमतों तथा जीवन निर्वाह व्यय में कमी हो जाती है परन्तु साथ साथ उनकी आय भी घट जाती है ।

ऋणी तथा ऋणदाता के सम्बन्ध. स्फीति तथा अवस्फीति देश के ऋणी तथा ऋणदाता के सम्बन्धों में आमूल परिवर्तन कर देती हैं । मान लीजिए एक व्यक्ति ने उस समय १,००० रुपये उधार लिये जब कीमत निर्देशांक १०० था तथा ऋणदाता को उस समय वापस करता है जबकि स्फीति के फलस्वरूप मूल्य निर्देशांक बढ़कर २०० हो जाता है । यद्यपि ऋणी ने ऋणदाता की मुद्रा की उतनी ही मात्रा वापिस की तथा ब्याज का भुगतान भी किया परन्तु वस्तुओं और सेवाओं के रूप में मुद्रा का मूल्य पहले की अपेक्षा अब आधा हो गया । इस प्रकार ऋणदाता को वास्तव में हानि हुई । इसके विपरीत यदि अवस्फीतिक दशायें उत्पन्न हो जाती हैं और ऋणी उस समय ऋणदाता को रुपया वापिस करता है जब सामान्य कीमत का निर्देशांक घटकर ५० हो जाता है तब ऋणदाता को वास्तविक रूप में अधिक प्राप्त होता है । इस सम्बन्ध में इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिये कि वास्तविक रूप (वस्तुओं और सेवाओं के रूप) में इसी प्रकार का परिवर्तन उस समय भी होगा जब ऋणदाता मुद्रा को किसी व्यक्ति को उधार नहीं दे तथा उसे स्वयं अपने पास रखे । परन्तु असली बात यहाँ पर तो ऋणी द्वारा ऋणदाता को ऋण वापस करने में अतिरिक्त हुई कठिनाइयों से है, क्योंकि जब स्फीति होती है तब ऋणदाता को हानि होती है क्योंकि अब उसे वास्तविक रूप में कम मुद्रा वापिस मिलती है तथा अवस्फीति के समय ऋणी को हानि होती है क्योंकि उसे अब वास्तविक रूप में अधिक मुद्रा ऋणदाता को प्रदान करनी होती है । इस प्रकार स्फीति तथा अवस्फीति दोनों देश के ऋणी तथा ऋणदाताओं तथा अन्य आर्थिक सम्बन्धों को प्रभावित करती हैं ।

सरकारी व्यय. मुद्रास्फीति के फलस्वरूप सरकारी व्यय में भी वृद्धि होती है क्योंकि सार्वजनिक क्षेत्र की उत्पादन लागत में वृद्धि हो जाती है, सार्वजनिक कार्यों में किये जाने वाले व्यय में वृद्धि हो जाती है, तथा सरकारी कर्मचारियों के वेतन और भत्तों इत्यादि में वृद्धि हो जाती है । इन सब का परिणाम यह होता है कि जनता पर लगाये गये करों में वृद्धि होने लगती है । इसके विपरीत अवस्फीति सरकारी व्यय तथा परिव्यय को कम करती है क्योंकि उसी परिणाम की प्राप्ति अब कम व्यय द्वारा हो जाती है । इससे सरकारी आय में कमी होती है और परिणामत: करों में भी कमी हो जाती है ।

स्फीति रोकने के उपाय

स्फीति रोकने के उपायों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है: (१) वैत्तिक उपाय, (२) मौद्रिक उपाय, तथा (३) उत्पादन और उत्पादकता में वृद्धि ।

वैत्तिक उपाय (fiscal measures) स्फीति को कम करने की वैत्तिक विधियाँ निम्न हैं: (१) लोगों पर अधिक कर लगाना । इसका उद्देश्य जनता की क्रय-शक्ति को कम करना है जिससे वस्तुओं और सेवाओं की सीमित पूर्ति पर अधिक भार न पड़े । (२) सार्वजनिक व्यय के अधिक भाग का अर्थ-प्रवन्धन सार्वजनिक ऋणों द्वारा करना । इसके दो परिणाम होंगे । एक तो हीनार्थ प्रवन्धन (deficit financing), जो स्फीति का एक कारण होता है, उस की मात्रा में कमी हो जायेगी और, दूसरे लोगों को अपनी बचत को व्यय करने से रोका जा सकता है। इन दोनों से स्फीति की सम्भावनायें काफी कम हो जायेंगी । (३) उपभोग और अन्य पदार्थों की कीमतों पर नियन्त्रण तथा समवितरण (price control and rationing) । इसका उद्देश्य बढ़ती हुई कीमतों को रोकना तथा उपलब्ध वस्तुओं का समुचित वितरण करना होता है । (४) लोगों के लिये अपनी आय का एक निश्चित अंश बचाना अनिवार्य कर दिया जाय ताकि बाजार पर बढ़ी हुई क्रय शक्ति का प्रभाव कम पड़ सके। (५) सार्वजनिक व्यय और परिव्ययों में कमी कर दी जाय जिससे वस्तुओं और सेवाओं की कुल मांग में काफी कमी हो जाय ।

इन सभी वैत्तिक उपायों का आधार यह है कि संस्थिति की दशा में स्थिर कीमत पर कुल राष्ट्रीय प्रदा कुल राष्ट्रीय आय के बराबर होती है। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि जब भी वस्तुओं का उत्पादन होता है तब उसी के बराबर श्रमिकों, कच्चे माल प्रदान करने वाले तथा अन्य लोगों को आय प्राप्त होती है। समूहीकृत दृष्टिकोण रखने पर ज्यों ही वस्तुओं का उत्पादन होता है त्यों ही उतनी ही आय समाज में उत्पन्न हो जाती है। जब कुल राष्ट्रीय आय १०,००० करोड़ रुपये है तब इसके बराबर (स्थिर कीमत स्तर पर) वस्तुएँ और सेवायें समाज में होंगी और उनका मूल्य १०,००० करोड़ रुपये होगा । यदि इस १०,००० करोड़ रुपये की राष्ट्रीय आय में से लोग ८,००० करोड़ रुपये के उपभोग तथा २,००० करोड़ रुपये की बचत का निर्णय करते हैं तब उपभोग पदार्थों की कीमत ८,००० करोड़ रुपये होनी चाहिए तथा विनियोग पदार्थों की २,००० करोड़ रुपये जिससे कीमतें स्थिर रह सकें तथा स्फीति को रोका जा सके । यदि राष्ट्रीय आय १०,००० करोड़ रुपये से बढ़कर १५,००० करोड़ रुपये हो

जाती है और लोग १२,००० करोड़ रुपये का उपभोग करना चाहते हैं तथा ३,००० करोड़ रुपये बचाना चाहते हैं परन्तु उपभोग पदार्थों की पूर्ति में पर्याप्त वृद्धि नहीं हुई है (१२,००० करोड़ रुपये के स्तर तक लाने के लिये) तो सामान्य मूल्य स्तर में वृद्धि तथा मुद्रास्फीति उत्पन्न हो सकती है क्योंकि उत्पादन में वृद्धि करने में समय लगता है।

सरकार की कर नीति का उद्देश्य लोगों के उपभोग में अधिकतम कमी करना होना चाहिए जिससे उनकी मांग उपलब्ध वस्तुओं की पूर्ति के बराबर हो जाये। इस परिणाम की प्राप्ति अधिक आय-कर तथा अन्य करों को लगाकर की जा सकती है। यह भी सम्भव हो सकता है कि लोग न केवल १२,००० करोड़ रुपये का उपभोग करें वरन् बचत किये गए ३,००० करोड़ रुपये का कुछ अंश भी उपभोग करें। इसका अर्थ यह हुआ कि उनकी उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति (marginal propensity to consume) में परिवर्तन हो सकता है। इसके परिणाम-स्वरूप बाजार में क्रय शक्ति और भी अधिक हो जायेगी। सरकार के वृद्धिमान सार्वजनिक ऋण का उद्देश्य यह होना चाहिये कि इस प्रकार की स्थिति को जहाँ तक हो सके रोके जिससे स्फीतिक शक्तियों पर नियन्त्रण रखा जा सके। उपभोग नियन्त्रण, मूल्य नियन्त्रण तथा समवितरण इत्यादि अन्य विधियों का भी उद्देश्य कुल राष्ट्रीय उपभोग को १२,००० रुपये करोड़ से कम रखना होता है जिससे राष्ट्रीय उपभोग स्तर उपलब्ध वस्तुओं की पूर्ति के स्तर के बराबर हो जाय। यही उद्देश्य सार्वजनिक व्यय तथा परिव्यय में कमी करने का होता है।

परन्तु ये उपाय सफल तभी हो सकते हैं जब इनका प्रयोग अधिक सतर्कता के साथ किया जाय अन्यथा सुधार होने के बदले स्थिति और भी हानिकारक हो सकती है। सरकार की कर-नीति स्फीतिक शक्तियों की तीव्रता को कम करने में सफल नहीं हो सकती (१) यदि करारोपण अधिव्यय में वृद्धि कर देता है, अर्थात सरकार लोगों को अपने अतीत की बचत से कर देने के लिये प्रेरित करती है, और इसके कारण उपभोग के वर्तमान स्तर में कमी नहीं होती; और (२) यदि कर कच्चे माल के आयात पर अथवा उत्पादन-कर या बिक्री-कर के रूप में इस प्रकार लगाया जाता है जिससे उद्योग की उत्पादन लागत में वृद्धि हो जाती है तथा कुल उत्पादन की मात्रा में कमी होती है। ऐसी स्थिति में यद्यपि बाजार में अतिरिक्त क्रय शक्ति में कमी हो जाती है परन्तु कुल प्रदा तथा उपभोग पदार्थों की पूर्ति में भी कमी होने लगती है जिससे सरकार का मुद्रास्फीति रोकने का उद्देश्य पूरा नहीं हो पायेगा। सार्वजनिक व्यय को संचालित करने के लिये वृद्धिमान सार्वजनिक ऋण स्फीतिक शक्तियों को रोकने में तभी सफल हो सकता है यदि लोग वास्तव में अधिव्यय कर

रहे हों तथा अपने अतीत की बचत के कुछ अंश को वर्तमान उपभोग पर व्यय कर रहे हों। परन्तु यदि लोग ऐसा नहीं करते तब सार्वजनिक ऋण स्फीति को नहीं रोक सकेगा और सरकारी व्ययों का सार्वजनिक ऋण द्वारा अर्थ संचालन करने का परिणाम वही होगा जो 'सृजित मुद्रा' द्वारा होता।

मुद्रास्फीति रोकने के लिये उपभोग नियन्त्रण तथा अन्य सरकारी विनियमन (१) क्लेशप्रद (irksome) होते हैं तथा अनेक प्रकार की शासन सम्बन्धी और व्यावहारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न करते हैं; (२) इनका महत्व जनतान्त्रिक व्यवस्था में अधिक नहीं होता क्योंकि इसमें सरकार की उपभोग नियन्त्रण करने की शक्ति सीमित होती है; (३) ये अधिकांशतः अस्थायी उपाय होते हैं। उस समय तो इनका असफल होना अवश्यम्भावी है जब हीनार्थ-प्रबन्धन के रूप में स्फीतिक दबाव अपना प्रचण्ड प्रभाव डालते हैं तथा अर्थ-व्यवस्था को नियन्त्रण के बाहर कर देते हैं। यदि स्फीति उत्पन्न करने वाली प्रारम्भिक शक्तियाँ जारी रहें तब इन सभी वैत्तिक उपायों का परिणाम 'दमित स्फीति' होगा।

जहाँ तक स्फीति रोकने के लिए वैत्तिक उपायों का सम्बन्ध है उनमें सब से अधिक प्रभावशाली विधि सरकारी व्यय तथा परिव्यय को कम करना है क्योंकि सरकार के अधिक व्यय के कारण ही स्फीति का जन्म होता है। परन्तु युद्ध काल अथवा राष्ट्रीय संक्रमण जैसे बाढ़, अकाल इत्यादि के समय में सरकारी व्यय में कटौती करना सम्भव नहीं है और शान्ति काल में राजकीय व्यय में कटौती (१) शासन सम्बन्धी विचारों तथा (२) आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुये देशों के लिये सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोग को प्रोत्साहित करने के दृष्टिकोण से सम्भव नहीं है। यदि आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों के सरकारी व्यय में कटौती कर दी जाये तब उत्पादन के घट जाने की तथा वृत्तिहीनता में वृद्धि हो जाने की सम्भावना है। इसके परिणामस्वरूप न केवल आर्थिक विकास की दर में कमी हो जायेगी वरन् अवस्फीतिक शक्तियाँ अपना प्रभाव उत्पन्न करने लगेंगी।

मौद्रिक उपाय- चूँकि स्फीति प्रधानतः एक मौद्रिक प्रतिभास है, अतः कुछ मौद्रिक विधियाँ भी इसे रोकने की हैं जैसे (१) केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा की पूर्ति घटा कर चलन का नियन्त्रण अधिक सतर्कता से किया जाना; (२) खुले बाजार की क्रियाओं (open market operations) से सरकारी तथा अन्य स्वीकृत ऋणपत्रों को बेच कर बाजार से अतिरिक्त मुद्रा को खींच लेना; (३) नकद और साख के अनुपात में वृद्धि करके बैंक साख को कम करना तथा नकद के उस अनुपात में वृद्धि करना जो व्यावसायिक बैंकों को केन्द्रीय बैंक के पास जमा करना अनिवार्य

होता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक की आंशिक साख नियन्त्रण (selective credit control) की नीति के द्वारा जिसका अर्थ होता है व्यावसायिक बैंकों पर कुछ विशेष वस्तुओं तथा ऋणपत्रों के आधार पर बैंक साख निर्गमन करने पर नियन्त्रण। इस कार्य के लिये केन्द्रीय बैंक समझा कर तथा अपने आदेश प्रदान कर व्यावसायिक बैंकों को राजी करता है। ये सब केन्द्रीय बैंक प्रणाली के अंश समझे जाते हैं ; और (४) ब्याज की दर में वृद्धि करके जिससे व्यावसायिक वर्ग के लिये विनियोग करने के लिये ऋण लेने की लागत में वृद्धि हो जाय और वे नये विनियोगों को करने में हतोत्साहित हों। यदि ऐसा नहीं होता तब श्रमिकों, कच्चे माल प्रदान करने वालों तथा अन्य व्यक्तियों की क्रय शक्ति में वृद्धि हो जाती जिससे स्फीतिक शक्तियों को प्रश्रय मिलता।

ये मौद्रिक विधियाँ स्फीतिक शक्तियों को नियन्त्रित करने में सफल तभी हो सकती हैं जब इनका प्रयोग सुचारु रूप से किया जाये। परन्तु कई कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं : (१) भारत जैसे आर्थिक दृष्टि से अर्ध-विकसित देश में जहां मुद्रा बाजार सुसंगठित नहीं है और जहाँ एक विशाल अमुद्रित क्षेत्र (non-monetised sector) है जिस पर केन्द्रीय बैंकिंग सत्ता का कोई नियन्त्रण नहीं है, ये विधियाँ अधिक सफल नहीं हो सकतीं। (२) मौद्रिक उपायों का प्रयोग या तो गलत समय पर किया जाता है अथवा इतनी अधिक मात्रा में कर दिया जाता है कि उससे अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाती। मौद्रिक उपायों की सफलता के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उनका उचित समय प्रयोग किया जाये और एक निश्चित मात्रा में प्रयोग हो, परन्तु वास्तविक व्यवहार में इस प्रकार की व्यवस्था करना बहुत कठिन है। (३) यदि मौद्रिक विधियों का प्रयोग सुचारु रूप से न किया गया तब औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि में बाधा उत्पन्न हो सकती है, जैसा कि भारत तथा अन्य अर्ध-विकसित देशों में हुआ जहाँ पर केन्द्रीय बैंक की 'आंशिक साख नियन्त्रण' की नीति के कारण ही उत्पादक अपने उत्पादन की न्यायोचित आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी वित्त प्राप्त करने में असमर्थ रहे जिससे उन्हें बाध्य होकर अपने उत्पादन में कमी करनी पड़ी।

उत्पादन तथा उत्पादकता. स्फीति को रोकने का सबसे प्रभावी उपाय है उत्पादन तथा विभिन्न उत्पादन के साधनों की उत्पादकता में वृद्धि। स्फीति का मौलिक कारण है लोगों की क्रय शक्ति में उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं की अपेक्षा अधिक वृद्धि। पिछले पृष्ठों में दी गई तृतीय अवस्था में कीमतों में स्फीतिक वृद्धि थी क्योंकि लोगों की क्रय शक्ति में वृद्धि होकर १६,००० करोड़ रुपये हो गई जब कि बाजार में वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति केवल १५,००० करोड़ रूपये के बराबर थी।

	राष्ट्रीय आय तथा प्रदा	राष्ट्रीय प्रदा को सम्भारने के लिये मुद्रा की पूर्ति अर्थात लोगों की क्रय शक्ति
पांचवी अवस्था	१६,००० करोड़ रूपये	४,००० करोड़ रुपये × ४

अब, जैसा कि पांचवी अवस्था में दिखलाया गया है, यदि बढ़ी हुई क्रय शक्ति को प्रतिसन्तुलित (counterbalance) करने के लिये वस्तुओं और सेवाओं में वृद्धि हो कर १६,००० करोड़ रुपये हो जाती है तब असन्तुलन ठीक हो जायेगा और स्फीति नियन्त्रित हो जायेगी। इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रदा में वृद्धि प्रवर्तमान उत्पादन क्षमता के द्वारा ही होनी चाहिए, अतिरिक्त विनियोग के द्वारा नहीं। क्योंकि जब नया विनियोग होता है तब लोगों के हाथ में क्रय शक्ति भी बढ़ जाती है। यदि प्रदा में वृद्धि बिना नये विनियोग के होती है तब बाजार में कुल पूर्ति बिना लोगों की क्रय शक्ति में वृद्धि हुए बढ़ जायेगी। परन्तु यदि नया विनियोग अत्यन्त आवश्यक है तब स्फीति को रोकना उस समय सम्भव होगा जब इस नये विनियोग के द्वारा वस्तुओं की कुल प्रदा में वृद्धि लोगों की क्रय शक्ति से अधिक हो, जैसा कि पांचवीं अवस्था मे दिखलाया गया है ।

औद्योगिक प्रदा की इस प्रकार की वृद्धि के लिये इन बातों को दूर करना अत्यन्त आवश्यक है: (१) सरकार द्वारा अधिक कर लगाया जाना; (२) अत्यधिक मजदूरी तथा कच्चे माल का अधिक मूल्य; और (३) आयात किए गए कच्चे माल, मशीन तथा प्राविधिक क्षमता की कमी। अतः उत्पादन की वृद्धि के लिये यह आवश्यक हो सकता है कि सरकार एक निश्चित अवधि तक के लिये 'कर अवकाश' (tax holiday) घोषित करे तथा श्रमिक वर्तमान मजदूरी पर कार्य करने के लिये उस समय तक राजी हो जायँ जब तक स्फीतिक दशाएँ अर्थव्यवस्था में विद्यमान रहें। यदि श्रमिक अधिक परिश्रम करें, उत्पादन की रीति में सुधार हो, और प्रवर्तमान सम्भारों तथा मशीनों का अधिक कुशलता से प्रयोग किया जाय तब उत्पादन और उत्पादकता में वृद्धि होना सम्भव है जिससे स्फीतिक शक्तियों को नियन्त्रित किया जा सकता है। उद्देश्य है बाजार में लोगों की क्रयशक्ति की अपेक्षा वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति में वृद्धि वस्तुओं के उत्पादन में या उत्पादकता में वृद्धि करके की जाये।

वस्तुओं के आयात में वृद्धि करके भी स्फीति को रोका जा सकता है परन्तु इस विधि का प्रयोग सदा नहीं किया जाता क्योंकि (१) इसमें विदेशी विनिमय की अपार राशि की आवश्यकता होती है जो स्फीति से पीड़ित देश प्रदान करने में असमर्थ होता है, (२) ठीक प्रकार की वस्तुएँ उचित मूल्य पर न मिल

सकें तथा (३) आयात की गई वस्तुएं अपना एक अलग बाजार बना सकतीं हैं जो दीर्घ काल में आयात करने वाले देश के औद्योगिक विकास के लिए महान कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दे ।

अवस्फीति रोकने के उपाय

जैसा कि स्फीति में था, अवस्फीति रोकने के लिए भी वैत्तिक, मौद्रिक तथा उत्पादन सम्बन्धी विधियाँ हैं । यहाँ पर उद्देश्य लोगों की क्रय शक्ति में वृद्धि कर उसे अर्थव्यवस्था में उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं के बराबर करना होता है। परन्तु यह अच्छी नीति नहीं होगी यदि लोगों की क्रय शक्ति में वृद्धि उन्हें दान अथवा धर्मार्थ देकर की जाये क्योंकि इससे लोग अनैतिक हो जायेंगे तथा सरकारी वित्त पर अत्यधिक भार पड़ेगा जिससे अर्थव्यवस्था में नवीन प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जायेंगी ।

अतः वैत्तिक उपायों के अन्तर्गत सम्मिलित हैं कर को घटाना, सरकारी ऋणों में कटौती, तथा लोगों को वस्तुएं और सेवायें खरीदने के लिए किश्त-क्रय (hire purchase) इत्यादि सभी प्रकार की सुविधायें प्रदान करना । मौद्रिक विधियों के अन्तर्गत सम्मिलित हैं केन्द्रीय बैंक द्वारा अधिक चलन निर्गमित करके मुद्रा के परिचलन में वृद्धि करना, तथा व्यावसायिक बैंकों को अधिक साख निर्गमित करने के लिये प्रोत्साहित करना । अवस्फीति को रोकने के लिये ब्याज की दर को कम करने पर बहुत अधिक जोर दिया जाता है । इसमें निहित विचार यह है कि व्यावसायियों के ऋण लेने की लागत को घटा दिया जाये जिससे साहसोद्यमी अपने विनियोग में वृद्धि कर सकें, लोगों की क्रय शक्ति में वृद्धि हो, तथा भविष्य के बारे में लोग आशावादी हो सकें । परन्तु वास्तविक व्यवहार में यह पाया गया है कि यद्यपि स्फीति को रोकने के लिये ब्याज की दर एक प्रभावपूर्ण विधि होती है परन्तु अवस्फीति को ब्याज की दर में कमी करके, अर्थात अल्पब्याज मुद्रा-नीति (cheap money polioy) द्वारा, भली भांति नहीं रोका जा सकता। ब्याज की दर में कमी प्रति इकाई उत्पादन लागत में कोई अधिक अन्तर नहीं उपस्थित करती । यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि लागत उतनी अधिक महत्वपूर्ण नहीं होती जितनी साहसोद्यमियों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की मांग । अतः ब्याज की कम दर अवस्फीति को रोकने की सफल विधि नहीं होती । इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब तक उन प्रारम्भिक शक्तियों को सफलतापूर्वक नियन्त्रित नहीं किया जाता जिनके कारण आर्थिक मन्दी, बेरोजगारी तथा गिरती हुई आय उत्पन्न होती है (जिनके फलस्वरूप वस्तुओं और सेवाओं की मांग घट जाती है।)

तब तक वैत्तिक तथा मौद्रिक विधियाँ स्फीति को रोकने में सफल नहीं हो सकतीं।

अवस्फीतिक शक्तियों को नियन्त्रित करने की सबल विधि यह है कि सरकार सार्वजनिक निर्माण के कार्य को चालू करे तथा सड़क, अस्पताल, बाँध, मिलें तथा अन्य उत्पादक कार्यों के सदृश नवीन विनियोगिक क्रियाओं को करे। इससे लोगों को रोजगार मिलेगा, उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति में वृद्धि हो जायेगी, तथा आशावादी वातावरण भी उत्पन्न होगा जो अर्थ-व्यवस्था को उस दलदल से निकालने के लिये अत्यन्त आवश्यक है जिसमें वह मन्दी के समय पड़ जाती है। निजी साहसोद्यम कम लाभ मिलने के कारण ऐसे समय विनियोग नहीं करेगा। सरकार, जो लाभ की भावना से प्रेरित नहीं होती, ऐसे समय नये विनियोगों को करके अवस्फीतिक शक्तियों को दूर कर सकती है। परन्तु सफल होने के लिये इस प्रकार के विनियोग को भली भांति संचालित होना चाहिए; अधिक ऊँचे पैमाने का होना चाहिए तथा देश की क्षमता के भीतर होना चाहिए, जिससे सार्वजनिक आय पर इतना भार न पड़ जाये जिसका वह वहन न कर सके।

अध्याय ७

मौद्रिक मान
(Monetary Standards)

आधुनिक युग में प्रमाप मुद्रा की सामान्य स्वीकार्यता एक वैधानिक अधिबन्धन है तथा यह अधिनियम द्वारा लागू किया जाता है । परन्तु राज्य मुद्रा के मूल्य में हुए परिवर्तनों के प्रति विरक्त नहीं रह सकता क्योंकि अधिनियमों के होते हुए भी लोग सरकार द्वारा निर्गमित मुद्रा को अस्वीकार कर सकते हैं यदि उसकी (मुद्रा की) क्रय शक्ति (purchasing power) में बहुत अधिक कमी हो जाती है। अतः राज्य को इस बात का ध्यान रखना होता है कि मुद्रा के अंकित मूल्य तथा उसकी क्रय शक्ति में अधिक अन्तर न हो। इसी कारण से अतीत में प्रमाप मुद्रा के मूल्य को किसी बहुमूल्य धातु, जैसे स्वर्ण अथवा रजत, के मूल्य से सम्बन्धित कर दिया जाता था। इससे राज्य को मुद्रा की क्रय शक्ति को उसके अंकित मूल्य से अधिक घट जाने से रोकने में सुविधा होती थी। दूसरे, यद्यपि राज्य मुद्रा के अंकित मूल्य की गारण्टी करती है, फिर भी लोगों का अधिक विश्वास स्वर्ण, रजत, तथा अन्य धातुओं में होता है यद्यपि इन धातुओं के मूल्य में भी उतने ही परिवर्तन हुआ करते हैं जितने अन्य वस्तुओं अथवा मुद्रा के मूल्य में। जनता का विश्वास बनाये रखने के ही लिये अतीत में राज्य ने मुद्रा के मूल्य को कुछ बहुमूल्य धातुओं से सम्बद्ध किया। परन्तु अब विश्व के अधिकांश देशों में लोगों का बहुमूल्य धातुओं से संलग्न काफी कम हो गया है तथा सरकार मुद्रा के मूल्य को किसी धातु के मूल्य से सर्दैव सम्बद्ध रखना आवश्यक नहीं समझती। अब मुद्रा के मूल्य का संचालन उसकी पूर्ति तथा मांग के नियन्त्रण द्वारा होता है।

मौद्रिक मान तीन प्रकार के हो सकते हैं: (१) एक-धातु मान (monometallism), जिसके अन्तर्गत प्रमाप मुद्रा का मूल्य किसी एक धातु, जैसे स्वर्ण अथवा रजत, से सम्बद्ध रहता है। यदि मूल्य स्वर्ण से सम्बद्ध है तब स्वर्ण मान कहा जायेगा और यदि रजत से सम्बद्ध है तब रजत मान; (२) द्वि-धातु मान (bi-metallism), जिसके अन्तर्गत दो प्रमाप मुद्रायें होती हैं। एक प्रमाप मुद्रा का मूल्य एक प्रकार (स्वर्ण) की धातु में निश्चित रहता है तथा दूसरी प्रमाप मुद्रा का मूल्य दूसरे प्रकार की धातु (रजत) में, तथा राज्य दोनों प्रमापित सिक्कों में एक निश्चित अनुपात रखता है; तथा (३) पत्र (कागज) मान, जिसके अन्तर्गत प्रमापित मुद्रा का मूल्य किसी बहुमूल्य धातु से नहीं सम्बद्ध रहता वरन् मांग के अनुपात में प्रमाप मुद्रा की पूर्ति के संचालन से नियन्त्रित होता है।

यहाँ पर यह बतला देना चाहिए कि सरकार के लिये केवल इतना ही नहीं आवश्यक है कि वह प्रमाप मुद्रा के अंकित मूल्य तथा क्रय शक्ति में अधिक अन्तर न होने दे । यदि प्रमाप मुद्रा का मूल्य भली भाँति नियन्त्रित हो जाता है तब अन्य प्रकार की मुद्राओं के मूल्य पर नियन्त्रण स्वतः हो जायेगा । इसका कारण यह है कि राज्य की अन्य प्रकार की मुद्राएँ प्रमापित मुद्रा के गुणन (multiple) के रूप में होती हैं और जब प्रमाप मुद्रा का मूल्य नियन्त्रित होता है तब अन्य प्रकार की मुद्राओं का मूल्य स्वतः नियन्त्रित हो जाता है। इसके अतिरिक्त, क्योंकि बैंक मुद्रा की कुल मात्रा जिसे निर्गमित किया जा सकता है सरकारी मुद्रा की मात्रा द्वारा सीमित होती है, इसलिये सरकारी मुद्रा के मूल्य का नियन्त्रण बैंक मुद्रा के मूल्य को नियन्त्रित करने के लिए पर्याप्त रहता है ।

स्वर्ण मान

एक-धातु मान में सबसे प्रसिद्ध स्वर्ण मान है जिसके अन्तर्गत प्रमापित मुद्रा का मूल्य स्वर्ण के मूल्य के साथ सम्बद्ध रहता है। अतीत में इसके विविध रूप थे, जैसे पूर्ण स्वर्ण मान (gold specie standard), स्वर्ण पट मान (gold bullion standard) तथा स्वर्ण विनिमय मान (gold exchange standard) ।

पूर्ण स्वर्ण मान. इसे स्वर्ण परिचलित मान (gold circulating standard), और पूर्ण काय स्वर्ण मान (full bodied gold standard) भी कहते हैं । इस प्रकार के स्वर्ण मान के अन्तर्गत एक विशिष्ट वजन तथा प्रकार के सिक्कों के रूप में स्वर्ण का परिचलन होता है। चूँकि स्वर्ण सिक्के पूर्ण काय (full bodied) होते हैं इसलिए चलन का मूल्य स्वतः स्वर्ण के मूल्य से सम्बद्ध हो जाता है। क्योंकि स्वर्ण के आयात और निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता इसलिये एक देश की चलन का मूल्य स्वर्ण मान पर आधारित दूसरे देश की चलन से स्वतः सम्बद्ध हो जाता है । १९१४ के पूर्व ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्राँस तथा विश्व के कुछ अन्य देश स्वर्ण मान पर थे ।

स्वर्ण पट मान. इस प्रकार के स्वर्ण मान के अन्तर्गत सिक्कों के रूप में स्वर्ण का परिचलन नहीं होता वरन् चलन का मूल्य स्वर्ण के रूप में निश्चित रहता है तथा स्वर्ण का स्वतन्त्र आयात एवं निर्यात होता रहता है। जब ब्रिटेन ने १९२५ में स्वर्ण मान को पुनः अपनाया तब स्वर्ण पट मान को ही माना । इस प्रकार के स्वर्ण मान द्वारा स्वर्ण के प्रयोग में बचत होती है और साथ साथ स्वर्ण मान के सभी लाभ भी उठाये जा सकते है ।

स्वर्ण विनिमय मान. इसके अन्तर्गत किसी देश की प्रमाप मुद्रा का मूल्य अपरोक्ष रूप में स्वर्ण से सम्बद्ध रहता है । इस देश की प्रमाप मुद्रा का मूल्य ऐसे देश की मुद्रा के साथ सम्बद्ध रहता है जो स्वयं स्वर्ण मान पर है । इस प्रणाली में स्वर्ण पट मान से भी अधिक सोने की बचत हो जाती है क्योंकि एक देश की स्वर्ण निधि अनेक देशों का कार्य कर सकती है । प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व तथा प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध के मध्य में (१९२५-३१) भारत स्वर्ण विनिमय मान पर था । चांदी का रुपया भारत में प्रमाप मुद्रा था तथा विनिमय के कार्यों के लिये यह स्वर्ण में परिवर्तनशील था । परिवर्तन के लिये इसका मूल्य ब्रिटेन की मुद्रा, अर्थात पौंड, के रूप में १ शिलिंग ४ पैंस निश्चित रखा गया । भारत का 'सेक्रेटरी आफ स्टेट इन कौन्सिल' कौन्सिल बिलों को १ शिलिंग ४ ३/४ पैंस प्रति रुपया की दर से बेचने के लिये विधानतः बाध्य था और यदि कोई व्यक्ति इंग्लैण्ड से भारत में रुपया भेजना चाहता था तो वह इसी दर पर कौन्सिल बिलों को खरीद सकता था जिसके लिए भारत में रुपया भुगतान कर दिया जाता था । भारत सरकार इन प्रतिवर्ती कौन्सिल बिलों को एक शिलिंग ३ ३१/३२ पैंस प्रति रुपये की दर से बेचने के लिये बाध्य थी जिससे यदि कोई व्यक्ति भारत से मुद्रा इंग्लैंड भेजना चाहे तो वह भारत में रुपया देकर इसी दर पर पौण्ड प्राप्त कर सके । चूंकि ब्रिटेन पूर्ण स्वर्ण मान पर था इसलिए पौण्ड स्वर्ण में परिवर्तनीय था तथा इस प्रकार विनिमय के लिये भारतीय रुपया स्वर्ण से सम्बद्ध था ।

प्रमुख विशेषतायें. स्वर्ण मान के इन सभी रूपों की दो प्रमुख विशेषताएँ होती हैं : (१) सरकार स्वर्ण की असीमित मात्रा को एक निश्चित मूल्य पर बेचने तथा खरीदने के लिये विधानतः बाध्य होती है । क्रय-विक्रय मूल्य प्रायः एक ही रहते हैं ताकि प्रमाप मुद्रा का मूल्य स्वर्ण के रूप में इन्हीं संकुचित सीमाओं के भीतर ही निश्चित रहे; तथा (२) स्वर्ण तथा स्वर्ण सिक्कों का आयात और निर्यात मुक्त होता है जिससे प्रमाप मुद्रा का मूल्य स्वर्ण, जो एक अन्तर्राष्ट्रीय विनिमयित पदार्थ है, के रूप में सदैव स्थिर रखा जा सके । इससे न केवल प्रमाप मुद्रा का मूल्य स्वर्ण के रूप में स्थिर रह सकता है वरन् एक देश की चलन का विनिमय मूल्य दूसरे देश की चलन (जो स्वर्ण मान पर आधारित है) के रूप में स्थिर रह सकता है। विनिमय दर की यह स्थिरता सब प्रकार के स्वर्ण मान का एक महान लाभ है।

तुलना. सभी प्रकार के स्वर्ण मान में प्रमाप मुद्रा का मूल्य स्वर्ण के रूप में स्थिर रहता है तथा विनिमय स्थिरता सुनिश्चित रहती है । परन्तु इन तीन प्रकारों में कुछ महत्वपूर्ण अन्तर होते हैं:

(१) पूर्ण स्वर्ण मान के अन्तर्गत स्वर्ण सिक्कों का वास्तव में परिचलन रहता है तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा स्वर्ण के क्रय तथा विक्रय की मात्रा पर कोई नियन्त्रण नहीं रहता, परन्तु स्वर्ण पट मान तथा स्वर्ण विनिमय मान के अन्तर्गत स्वर्ण सिक्कों का परिचलन नहीं रहता तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा स्वर्ण की क्रय तथा विक्रय की जाने वाली मात्रा पर कुछ सीमायें लगा दी जाती हैं (ब्रिटेन में १९२५ और १९३१ के बीच यह मात्रा ४०० औंस थी)। सभी व्यावहारिक कार्यों के लिये प्रमाप मुद्रा का आन्तरिक तथा वाह्य मूल्य स्वर्ण के रूप में निर्धारित रहता है परन्तु स्वर्ण पट मान और स्वर्ण विनिमय मान में समायोजन उतना सुगम नहीं रहता जितना कि पूर्ण स्वर्ण मान के अन्तर्गत रहता है।

(२) पूर्ण स्वर्ण मान के अन्तर्गत स्वर्ण सिक्के वास्तव में परिचलित रहते हैं। अन्य प्रकार की मुद्रायें, जैसे कागज मुद्रा, किसी भी समय स्वर्ण में परिवर्तित की जा सकती हैं; वास्तव में तो ये केवल केन्द्रीय बैंक के पास संचित स्वर्ण की 'प्रतिनिधि' के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होतीं। इसके विपरीत स्वर्ण पट मान तथा स्वर्ण विनिमय मान के अन्तर्गत यह बिलकुल आवश्यक नहीं रहता कि शत प्रतिशत स्वर्ण सुरक्षित रखा ही जाये। इन दशाओं में केन्द्रीय बैंक (अ) अनुपातिक निधि प्रणाली का अनुसरण कर सकता है जिसमें स्वर्ण निधि के एक निश्चित अनुपात में ही बैंक-नोट का निर्गम हो सकता है, अथवा (ब) निश्चित विश्वासाश्रित प्रणाली का अनुसरण कर सकता है जिसके अन्तर्गत राज्य नियम द्वारा निर्धारित सीमा तक बिना स्वर्ण निधि रखे ही बैंक नोट निर्गमित किये जा सकते हैं।

(३) इन सभी दशाओं में स्वर्ण मान पर आधारित सभी चलनों का सापेक्ष्य विनिमय दर संकुचित सीमा के भीतर स्थिर रहता है।

समायोजन की क्रिया विधि. स्वर्ण मान के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण बात है उसके समायोजन की क्रिया विधि जिससे मुद्रा की क्रय शक्ति स्वर्ण की क्रय शक्ति से अधिक भिन्न नहीं रहती। मान लीजिए विनिमय का टकसाली दर[1] (mint par of exchange)—जो दो देशों की मुद्राओं के स्वर्ण अंश की समानता के द्वारा ज्ञात हो सकता है—१ पौण्ड=१५ रु० है। पौण्ड स्टर्लिंग ब्रिटेन की तथा रुपया भारत की प्रमाप मुद्रा है। मान लीजिए ब्रिटेन को भारत से आयात की

१. वास्तव में पौण्ड तथा भारतीय रुपये का टकसाली विनिमय दर १ पौण्ड=१३$\frac{1}{3}$ रुपये है। पौण्ड का स्वर्ण मूल्य १ पौण्ड=२·४८८२८ ग्राम उत्कृष्ट स्वर्ण है और १ रुपया=०·१८६६२१ ग्राम उत्कृष्ट स्वर्ण के होता है। यहाँ सुविधा के लिए १ पौण्ड=१५ रुपये के मान लिया गया है।

गई वस्तुओं, और जहाज, बैंक तथा भारतियों द्वारा की गई अन्य प्रकार की सेवाओं के लिए कुल भुगतान १००० पौण्ड करना है, और भारत को उसी अवधि में ब्रिटेन से किए गए आयात इत्यादि के बदले में कुल १५,००० रुपये का भुगतान करना है। यह भी मान लीजिए कि केवल भारत तथा ब्रिटेन यह ही दो देश हैं।

स्वर्ण मान के अन्तर्गत उच्चतर स्वर्ण बिन्दु तथा निम्नतर स्वर्ण बिन्दु रहते हैं जिनके बाहर विनिमय दर में विचलन नहीं हो सकता। मान लीजिए १ पौण्ड अथवा १५ रुपये के बराबर भारत से इंग्लैण्ड स्वर्ण भेजने में परिवहन व्यय कुल २५ नये पैसे लगता है। भारतीय आयातक (importer), जिसे ब्रिटेन के निर्यातक को भुगतान करना है, इस कार्य के लिए एक पौण्ड पाने के लिये १५·२५ रुपये से अधिक नहीं देगा। यदि विनिमय दर १ पौण्ड=१५·२५ रुपये से अधिक हो जाती है (मान लीजिए, १ पौण्ड= १५·३० रुपये है) तब वह भुगतान करने के लिये १५ रुपये का स्वर्ण खरीद कर इंग्लैण्ड भेज देगा जहाँ इसके बदले उसे एक पौण्ड मिल जायेगा। वह २५ नये पैसे परिवहन व्यय भी दे देगा। इस प्रकार उसे १५·२५ रुपये में १ पौण्ड प्राप्त हो जायेगा। यदि विनिमय दर इससे (१ पौण्ड=१५·२५ रु० से) ऊपर हो जाती है तब वह रुपयों से पौण्ड खरीदने के स्थान पर सोना भेजना पसन्द करेगा। इसको 'उच्चतम स्वर्ण बिन्दु' अथवा 'स्वर्ण निर्यात बिन्दु' कहते हैं।

अब मान लीजिए कि भारतीय निर्यातक ने रुपयों में नहीं (जैसा कि बहुधा होता है) वरन् पौण्ड में भुगतान प्राप्त किया है तथा वह इन पौण्डों को बाजार में बेचने के लिये प्रस्तुत है। वह एक पौण्ड के बदले में १४·७५ रुपये से कम नहीं स्वीकार करेगा क्योंकि यदि दर इस स्तर से नीचे हो जाती है तब वह एक पौण्ड के बराबर स्वर्ण बैंक आफ इंग्लैण्ड से प्राप्त करेगा और उसका आयात भारत में कर लेगा जहाँ पर उसे इस स्वर्ण के लिए रिजर्व बैंक से १५ रुपया मिलेगा। २५ नया पैसा परिवहन व्यय देने के उपरान्त उसे १ पौण्ड के बदले में १४·७५ रुपये मिल जायेंगें। इसको 'निम्नतर स्वर्ण बिन्दु' अथवा स्वर्ण 'आयात बिन्दु' कहते हैं और यदि विनिमय दर १ पौण्ड=१४·७५ पैसे से कम रहता है तब भारत में स्वर्ण का आयात होने लगेगा। इस प्रकार:

विनिमय का टकसाली दर है पौण्ड १=१५ रुपये
उच्चर स्वर्ण बिन्दु है पौण्ड १=१५·२५ रुपये
निम्नतर स्वर्ण बिन्दु है पौण्ड १=१४·७५ रुपये

यदि कुछ कारणों से भारतीय मुद्रा की कीमत घट जाती है और मूल्य स्तर में वृद्धि हो जाती है, जबकि ब्रिटेन के मूल्य स्तर में कोई परिवर्तन नहीं होता, तब इसका परिणाम यह होगा कि भारतीय वस्तुएँ अधिक महंगी हो जायेंगी तथा उनका निर्यात ब्रिटेन में उसी मात्रा में नहीं होगा जितना पहिले था। बढ़ी हुई कीमतों का लाभ उठाकर ब्रिटेन की वस्तुएँ भारत में अधिक मात्रा में आयेंगी। मान लीजिए इसके परिणामस्वरूप ब्रिटेन को अब केवल ८०० पौण्ड भारत को भुगतान करना पड़ता है तथा भारत को १६,००० रुपये ब्रिटेन को उसी अवधि में भुगतान करना होता है। अब विनिमय दर की प्रवृत्ति १ पौण्ड = २० रुपये होने की होगी। परन्तु यदि दोनों देश स्वर्ण मान पर हैं तब ऐसा सम्भव नहीं है क्योंकि जब विनिमय दर स्वर्ण बिन्दु से बाहर जाने लगेगी तब एक देश से स्वर्ण दूसरे देश में जाने लगेगा। उपरोक्त उदाहरण में विनिमय दर ज्योंहि १ पौण्ड = १५·२५ रुपये से अधिक होने लगती है त्यों ही स्वर्ण का निर्यात भारत से ब्रिटेन को होने लगता है और इस प्रकार की असंगति दूर हो जाती है।

स्वर्ण मान की कार्य विधि इस प्रकार है: भारत से स्वर्ण बाहर चले जाने से भारत में परिचलित मुद्रा में संकुचन होगा क्योंकि चलन स्वर्ण पर आधारित है। चलन की मात्रा में संकुचन हो जाने से मूल्य स्तर में कमी हो जायेगी। ब्रिटेन में स्वर्ण के आयात से परिचलित चलार्थ की मात्रा में वृद्धि होगी, क्योंकि इसकी भी चलन स्वर्ण पर आधारित है, जिसके फलस्वरूप मूल्य स्तर में वृद्धि हो जायेगी। यह उस प्राथमिक कारण को दूर कर देगा जिसके द्वारा ब्रिटेन की वस्तुओं का आयात भारत में बढ़ गया तथा भारतीय वस्तुओं का आयात ब्रिटेन में कम हो गया था। दोनों देशों के व्यवसाय, सेवाओं तथा पूँजी का प्रवाह क्रमशः अपने सामान्य स्तर पर आ जायेगा और यह प्रक्रिया उस समय तक चलती रहेगी जब तक विनिमय दर १ पौण्ड = १५ रुपये के नहीं हो जाती और प्रत्येक देश के चलन की क्रय शक्ति उसमें निहित स्वर्ण की क्रय शक्ति के समान नहीं हो जाती। क्लासिकल आर्थिक सिद्धान्त का यह कहना है कि यह समायोजन स्वतः होता है। परन्तु ऐसा होना आवश्यक नहीं है।

स्वतः समायोजन का अर्थ होता है कि यदि विनिमय दर टकसाली विनिमय दर से भिन्न हो तब स्वर्ण का प्रवाह (flow) होने लगेगा और इससे स्थिति अपने आप सुधर जायेगी। यह ठीक है कि स्वर्ण का प्रवाह होने लगेगा परन्तु इससे स्थिति अपने आप सुधर जायेगी यह आवश्यक नहीं है क्योंकि: (१) भारत से ब्रिटेन को जो स्वर्ण प्रवाहित होता है वह सम्भव है लोगों के निजी संचित स्वर्ण से हो रहा हो, चलन निधि से नहीं। यदि ऐसा है तब इसका प्रभाव भारत में परिचलित

चलार्थ पर तथा मूल्य स्तर पर कुछ भी नहीं पड़ेगा। इसी प्रकार यह हो सकता है कि जो सोना ब्रिटेन में जाता है वह तुरन्त टकसाल में न भेजा जाये जिससे न तो चलन का प्रसार होगा और न मूल्य स्तर में वृद्धि। (२) जब भारत से सोना बाहर जा रहा हो तब भारतीय बैंक अपने द्वारा निर्मित साख की मात्रा में कमी न करें तथा ब्रिटेन के बैंक साख की मात्रा में वृद्धि न करें जबकि स्वर्ण उनके देश में जाता है। इसलिये स्वर्ण मान की क्रिया विधि को सुगम बनाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सभी देश स्वर्ण मान के नियमों का पालन करें। स्वर्ण मान का नियम है "स्वर्ण के आने पर साख मे प्रसार तथा स्वर्ण के बाहर चले जाने पर साख में संकुचन।" इसका अर्थ यह हुआ कि जब स्वर्ण भारत से बाहर जाता है तब भारत के केन्द्रीय बैंक प्राधिकारी (रिजर्व बैंक आफ इण्डिया) को भारत में परिचलित मुद्रा की कुल मात्रा को कम करना चाहिये तथा जब स्वर्ण का प्रवाह ब्रिटेन में होने लगता है तब ब्रिटेन के केन्द्रीय बैंकिग प्राधिकारी (बैंक आफ इंगलैंड) को वहाँ की परिचलित मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करनी चाहिये जिससे स्वर्ण मान की क्रय विधि का संचालन सुगमता पूर्वक हो सके।

स्वर्ण मान के लाभ. समायोजन की कार्य-विधि स्वतः न होने पर भी स्वर्ण मान के कुछ लाभ होते हैं जो 'व्यवस्थित चलन' में सदा उपलब्ध नहीं होते। (१) स्वर्णमान विनिमय दर की स्थिरता सुनिश्चित रखता है क्योंकि केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति के सहयोग तथा स्वर्ण के प्रवाह के कारण विनिमय दर स्थिर रहती है। यह वाणिज्य तथा व्यवसाय के लिए बहुत लाभदायक है क्योंकि इसी के आधार पर ही वाणिज्य तथा व्यवसाय विकसित होते है। यदि विनिमय दर परि-वर्तित होती रहती है तब भविष्य के सम्बन्ध में एक प्रकार की अनिश्चितता रहती है जिससे व्यवसायिकों को भावी लेन-देन सम्बन्धित ठेकों को लेने तथा समय पर उनको पूरा करने में कठिनाई का अनुभव होता है। इसके विपरीत, जब विनिमय दर स्वर्ण मान के कारण स्थिर रहती है तब सभी पक्षों को अपनी लागत तथा मूल्य को पूर्व परिकलित करने में सुविधा रहती है। वास्तव में यह एक महान लाभ है। (२) स्वर्ण मान प्रत्येक देश की मुद्रा स्वर्ण के रूप में स्थिर रखने में सहायता प्रदान करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक दूसरे देश से मुक्त रह कर किसी देश में स्फीति तथा अवस्फीति नहीं हो सकती क्योंकि यदि किसी देश की सरकार परिचलित मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करके मूल्य में वृद्धि कर देती है तब उस देश से स्वर्ण बाहर जाने लगेगा। इससे किसी भी देश में बढ़ते हुए मूल्य घट सकते हैं। फिर भी, यह सम्भव हो सकता है कि एक साथ सभी देशों के मूल्य में वृद्धि हो अथवा कमी परन्तु किसी एक देश के मूल्य नहीं बढ़ सकते। (३) स्वर्ण

मान का एक प्रनिष्ठात्मक लाभ है। क्योंकि **स्वर्ण** एक बहुमूल्य धातु है, अतः स्वर्ण मान पर आधारित किसी भी देश में शक्ति की भावना होती है तथा जनता का विश्वास देश की चलन में बना रहता है।

स्वर्ण मान विफल क्यों हुआ? इन लाभों तथा विभिन्न देश की सरकारों की स्वर्ण मान अपनाने की इच्छा होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान को किसी भी रूप में (पूर्ण स्वर्ण मान, अथवा स्वर्ण पट मान या स्वर्ण विनिमय मान) स्थापित नहीं किया जा सका है। प्रथम विश्व युद्ध के बाद १९२५ में कई देशों ने स्वर्ण मान को पुनः अपनाया परन्तु १९३१ के प्रारम्भ में एक एक करके सभी ने इसका परित्याग कर दिया क्योंकि स्वर्ण मान पर रहना उन सब के लिये अत्यन्त दुष्कर हो गया। कठिनाई निम्न कारणों से उत्पन्न हुई।

(१) स्वर्ण मान के अन्तर्गत किसी देश की मूल्य स्थिरता रखने की स्वतन्त्रता उस समय नहीं रह सकती जब अन्य देशों में मूल्यों में या तो वृद्धि हो रही हो अथवा कमी। इससे स्वर्ण मान पर आधारित सभी देशों को प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उस समय बहुत बड़ी हानि हुई जब वे अपनी स्वतन्त्र मूल्य नीति का अनुसरण करना चाहते थे। अन्य शब्दों में प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व मौद्रिक नीति का उद्देश्य रहा करता था विनिमय स्थिरता जिसके लिये स्वर्ण मान अत्यन्त उपयुक्त था परन्तु प्रथम तथा द्वितीय युद्ध के बीच में विनिमय स्थिरता से बदल कर उद्देश्य 'मूल्य स्थिरता' हो गया। स्वर्ण मान के पतन का यह एक महत्वपूर्ण कारण था।

(२) यदि स्वर्ण मान के अन्तर्गत समायोजन स्वतः नहीं हो पाता था तथा केन्द्रीय बैंकिग प्राधिकारी को स्वर्ण मान के नियमों का पालन करने के लिये सदैव सतर्क रहना पड़ता था तब तो अच्छा यह समझा गया कि स्वर्ण मान हो ही नहीं जिससे केन्द्रीय बैंक की कठिनाइयाँ तो न बढ़ें। अन्य शब्दों में, चलन तथा साख के प्रबन्ध करने की क्रिया अधिक सुगमता तथा सफलता के साथ केन्द्रीय बैंक द्वारा उस समय पूरी की जा सकती है जब कि स्वर्ण मान न हो।

(३) 'उष्ण मुद्रा' (hot money) के एक देश से दूसरे देश में अप्रत्याशित आवागमन्—अर्थात पूँजी की अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता ब्याज दर के परिवर्तनों पर आधारित नहीं होती वरन् राजनीतिक तथा पूर्वकल्पी विचारों द्वारा प्रभावित होती है—ने देश के केन्द्रीय बैंकिंग प्राधिकारी के लिये मुद्रा का मूल्य स्वर्ण के रूप में निश्चित रखना बहुत ही कठिन बना दिया। १९३० के निकट जब उष्ण मुद्रा ब्रिटेन से बाहर जाने लगी तब स्वर्ण के विनिमय मूल्य में काफी तेजी से कमी होने लगी तथा स्वर्ण का प्रवाह ब्रिटेन से बाहर होने लगा जिसके कारण अवस्फीतिक दशायें इंगलैण्ड में उत्पन्न होने लगीं जिससे ब्रिटेन के लिये स्वर्ण मान पर रहना

असम्भव हो गया। यदि ब्रिटेन स्वर्ण मान पर रह गया होता तो बैंक आफ इंग्लैण्ड के लिए चलन तथा साख का संकुचन करना आवश्यक हो जाता जिससे अवस्फीतिक शक्तिया और भी जटिल हो जातीं। चूँकि एक निश्चित सीमा से बाहर स्फीति और अवस्फीति वाणिज्य तथा व्यवसाय के लिये हानिकारक सिद्ध होते हैं, इसलिए १९२५ में ब्रिटेन की सरकार को बाध्य होकर स्वर्ण मान का परित्याग करना पड़ा। बाद में अन्य देशों ने भी ऐसा ही किया। सामान्य परिस्थिति में तो स्वर्ण मान को रखना सम्भव हो गया होता परन्तु १९१८-१९३८ की असामान्य दशाओं में ऐसा बिल्कुल असम्भव था। इसीलिए विभिन्न देशों ने एक एक कर के स्वर्ण मान का परित्याग कर दिया।

सामान्य परिस्थिति के हो जाने पर भी कोई देश स्वर्ण मान पर पुनः वापिस नहीं आया क्योंकि (१) अब यह अनुभव किया गया कि स्वर्ण पर्याप्त उपलब्ध नहीं है तथा विश्व का अधिकांश स्वर्ण केवल एक देश, अर्थात अमेरिका, में ही केन्द्रित है तथा अन्य देशों के पास चलन विधि के रूप में रखने के लिए स्वर्ण पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं है, तथा (२) स्वर्ण मान एक महंगा मान था। किसी भी देश के लिए यह उचित नहीं था कि वह इतने कम लाभ के लिये इतनी अधिक लागत लगाए।

स्वर्णमान का भविष्य. यद्यपि जहाँ तक विनिमय स्थिरता का सम्बन्ध है स्वर्ण मान से अनेक लाभ होते हैं, फिर भी इस बात की सम्भावना नहीं प्रतीत होती कि कोई भी देश निकट भविष्य में स्वर्ण मान को पुनः अपनाये, क्योंकि :—

(१) विश्व में पर्याप्त स्वर्ण नहीं है जिससे चलन की आवश्यकताओं के अतिरिक्त लोगों के संचय करने, गहने के रूप में तथा अन्य प्रकार की प्रयोग सम्बन्धित आवश्यकतायें पूरी की जा सकें। जो कुछ स्वर्ण उपलब्ध भी है उसका एकरूप वितरण नहीं है तथा उपलब्ध पूर्ति का अधिकांश भाग विश्व के केवल एक ही देश में केन्द्रित है। इसलिये यह सम्भव नहीं है कि स्वर्ण मान का संचालन अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर किया जा सके और यह उचित भी नहीं है कि एक देश तो स्वर्ण मान पर आधारित हो और अन्य देश उसका अनुसरण न करें। अपने समायोजन की कार्यविधि के द्वारा ही स्वर्ण मान विनिमय दर की स्थिरता रखता है तथा चलन के आन्तरिक मूल्य को स्वर्ण के मूल्य से सम्बद्ध रखता है। यदि केवल एक ही देश स्वर्ण मान पर है तब इस प्रकार की कार्य विधि लागू भी नहीं होगी।

(२) पहले की अपेक्षा अब यह बहुत स्पष्टतया अनुभव किया जाने लगा है कि मौद्रिक नीति का उद्देश्य विनिमय स्थिरता नहीं वरन् मूल्य स्थिरता होना चाहिए। अन्य शब्दों में, विभिन्न सरकारें अब ऐसी मौद्रिक नीति का अनुसरण करती हैं जिससे वृत्ति तथा प्रद्रा में वृद्धि हो सके ताकि उपलब्ध संसाधनों का

प्रयोग सर्वोत्तम ढंग से किया जा सके। ऐसा सम्भव बनाने के लिए परिचलित मुद्रा की मात्रा का नियन्त्रण केन्द्रीय बैंक के पास जमा किसी धातु विशेष के द्वारा नहीं होना चाहिए वरन् देश के आर्थिक विकास के लिए वांछित परिचलन के प्रसार तथा संकुचन के द्वारा होना चाहिए। स्वर्ण मान अथवा किसी धात्विक मान के अभाव में केन्द्रीय बैंकिंग प्राधिकारी के लिए चलन तथा साख पर नियन्त्रण रखना अपेक्षाकृत सरल रहता है जबकि स्वर्ण अथवा अन्य धात्विक मान मौद्रिक नीति की सफलता को और भी अधिक कठिन बना देते हैं।

(३) ऐसा प्रतीत होता है कि लोग अब स्वर्ण के प्रति उतने अनुरक्त नहीं हैं जितने कि पहिले थे तथा अब स्वर्ण मानपर आधारित किसी देश को उतना सम्मान भी प्राप्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त देश की चलन में लोगों का विश्वास इस कारण नहीं है कि स्वर्ण या कोई अन्य बहुमूल्य धातु उसका आधार रखा गया है वरन् इस कारण होता है कि वह राज्य द्वारा निर्गमित है तथा केन्द्रीय बैंकिंग अधिकारी उसकी मात्रा पर समुचित नियन्त्रण रख कर उसकी क्रय शक्ति बनाये रखने का सदा ध्यान रखता है।

स्वर्ण समानता मान (Gold parity standard). यद्यपि अब इस बात की सम्भावना नहीं है कि विश्व पुनः स्वर्ण मान को अपनाये, क्योंकि अब विनिमय स्थिरता की अपेक्षा आन्तरिक मूल्य की स्थिरता रखना अधिक महत्वपूर्ण समझा जाने लगा है, फिर भी एक ऐसे मौद्रिक मान का रखना आवश्यक है जो विदेशी व्यापार तथा पूंजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह को अधिक सुगम बनाये। इस प्रकार की विधि का आविष्कार ब्रेटन वुड्स में किया गया जिसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना हुई। इस समझौते के अन्तर्गत: (१) प्रत्येक सदस्य देश को अपनी चलन का समान मूल्य स्वर्ण के रूप में घोषित करना होता था। स्वर्ण का मूल्य अमेरिका की चलन के रूप में १ औंस उत्कृष्ट स्वर्ण =३५ डालर के निश्चित किया गया; (२) सदस्य देशों का कोटा निर्धारित किया गया जिसका एक अंश तो उन्हें अपने ही चलन में देना होता था तथा कुछ अंश स्वर्ण और डालर में; तथा (३) यह निश्चित किया गया कि आवश्यकता पड़ने पर सदस्य देश अपने कोटा का एक-चौथाई भाग विश्व की किसी भी चलन में कोष से ऋण ले सकते हैं।

इस प्रकार 'स्वर्ण समानता मान' का सृजन हुआ क्योंकि इसमें प्रत्येक चलन का विनिमय मूल्य नामतः स्वर्ण के रूप में व्यक्त किया गया। इसमें स्वर्ण सिक्कों का परिचलन नहीं होता तथा यदि किसी देश का भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल हो तो

स्वर्ण में भुगतान करना उसके लिए आवश्यक भी नहीं है, जैसा कि स्वर्ण मान के अन्तर्गत हुआ होता।

मान लीजिए भारत का आयात उसके निर्यात से अधिक है तथा भुगतान सन्तुलन भारत के प्रतिकूल हो जाता है और भुगतान करने के लिए भारत के पास आवश्यक डालर, मार्क तथा फ्रैंक इत्यादि नहीं हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य होने के नाते भारत वांछित चलन की मात्रा कोष से ऋण लेकर ऋणदाताओं को भुगतान कर सकता है। बाद में भुगतान सन्तुलन की स्थिति में सुधार हो जाने पर वह अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के ऋण को लौटा देगा। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बिना स्वर्ण के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह तथा बिना मुद्रा का अवमूल्यन किए ही हो जाता है। भुगतान सन्तुलन ठीक करने के लिए कभी-कभी बाध्य होकर देशों को अपनी चलन का अवमूल्यन भी कर देना पड़ता है।

इसलिए स्वर्ण समानता मान एक प्रकार की विनिमय स्थिरता रख सकता है और साथ-साथ सदस्य देशों को अपने भुगतान सन्तुलन में उत्पन्न हुए मौलिक असन्तुलन को ठीक करने के लिये विनिमय दरों में परिवर्तन करने की पूरी स्वतन्त्रता भी प्रदान करता है। ऐसी परिस्थिति में कोई भी देश अकेले ही विनिमय दर में १०% कमी केवल कोष को सूचित करके कर सकता है तथा अतिरिक्त १० प्रतिशत कमी कोष की अनुमति प्राप्त करके कर सकता है। इसके बाद भी यदि भुगतान सन्तुलन में असन्तुलन बना रहता है तब इससे भी अधिक सीमा तक विनिमय मूल्य कम करने के लिए कोष अनुमति प्रदान कर सकता है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष विनिमय दर की स्थिरता भी रखता है तथा देशों को वृत्ति तथा प्रदा में वृद्धि और उपलब्ध संसाधनों का सर्वोत्तम उपभोग करने के ध्येय से आन्तरिक मौद्रिक नीति के अनुसरण करने की पूरी स्वतन्त्रता भी प्रदान करता है। अतः स्वर्ण समानता मान से एक ओर तो स्वर्ण मान के सभी लाभ प्राप्त होते हैं और दूसरी ओर यह कम परिदृढ़ तथा कम महंगा भी है। यह प्रणाली १ मार्च, १९४७ से सन्तोषजनक कार्य कर रही है तथा किसी भी देश ने स्वर्ण मान को पुनः अपनाने की आवश्यकता ही नहीं समझी और इस बात की सम्भावना भी नहीं है कि निकट भविष्य में कोई भी देश स्वर्ण मान को पुनः अपनायेगा।

रजत मान

रजत मान के अन्तर्गत प्रमाप मुद्रा का मूल्य रजत से सम्बद्ध रहता है। जैसा कि स्वर्ण मान में होता है, इसमें रजत के सिक्के परिचलित रहते हैं तथा सभी प्रकार की मुद्रायें रजत में और रजत मुद्रा में परिवर्तित किया जा सकता है। रजत

का स्वतन्त्र निर्यात तथा आयात होता है तथा सरकार इस बात का ध्यान रखती है कि रजत का मूल्य देश की प्रमाप मुद्रा के रूप में निश्चित रहे।

इस प्रकार की प्रणाली भारत में १८३५ और १८९३ के मध्य में प्रचलित थी। १८३५ के चलन अधिनियम ने (१) भारतीय टकसालों को रजत के स्वतन्त्र मुद्रण के लिए खोल दिया, (२) चांदी का रुपया (११/१२ उत्कृष्ट) सारे ब्रिटिश भारत की प्रमाप मुद्रा घोषित किया गया, (३) रुपये का अंकित मूल्य उसके वास्तविक मूल्य के बराबर रखा गया, (४) स्वर्ण सिक्कों की विधि ग्राह्यता (legal tender) समाप्त कर दी गई, (५) परन्तु स्वर्ण का स्वतन्त्र मुद्रण जारी था तथा ५, १०, १५ और ३० रुपये की स्वर्ण मुहरें मुद्रित की जा सकती थीं। १८७३ तक यह प्रणाली ठीक तरह से चली तथा रुपये का वाह्य मूल्य १ शि० १०½ पैंस के बराबर स्थिर रखा गया। परन्तु १८७३ के बाद यह समानता एकाएक असन्तुलित हो गई। इसका कारण तो अनेक देशों के द्वारा रजत का अमुद्रीकरण और दूसरा स्वर्ण की अपेक्षा रजत के उत्पादन में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि था। १८७३ के बाद स्वर्ण की अपेक्षा रजत के मूल्य में अधिक कमी हो जाने के कारण भारत के वित्त पर बहुत भार पड़ा। परिणामस्वरूप १८९३ के करेंसी ऐक्ट के द्वारा स्वर्ण तथा रजत का स्वतन्त्र मुद्रण समाप्त कर दिया गया तथा देश ने रजत मान का परित्याग कर दिया।

रजत मान के दोष तथा कठिनाइयाँ अधिकाँशत: वही हैं जो स्वर्ण मान की थीं। रजत की एक अतिरिक्त हानि यह है कि इसे लोग उतना पसन्द नहीं करते जितना कि स्वर्ण को तथा इसका सम्मान मूल्य भी स्वर्ण से कम है। चूँकि रजत मान उन सभी जटिलताओं को उत्पन्न करता है जो स्वर्ण मान में थीं और इसका सम्मान मूल्य भी बहुत कम है, अतः यह अधिक विख्यात नहीं हो पाया है।

द्वि-धातु मान

द्वि-धातु मान के अन्तर्गत एक के स्थान पर दो प्रमाप मुद्रायें होती हैं, तथा एक मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में तथा दूसरी का रजत के रूप में निश्चित रहता है। द्वि-धातु मान को कार्यशील बनाने के लिए (१) स्वर्ण तथा रजत दोनों का स्वतन्त्र मुद्रण होता है, (२) स्वर्ण और रजत दोनों सिक्के पूर्ण विधि ग्राह्य होते हैं, (३) राज्य यह ध्यान रखता है कि स्वर्ण और रजत दोनों का मूल्य प्रमाप सिक्के के रूप में निश्चित रहे, तथा (४) स्वर्ण और रजत की विनिमय दर स्थिर रहे। इस प्रणाली के अन्तर्गत दोनों धातुओं का आयात-निर्यात स्वतन्त्र रहता है तथा केन्द्रीय बैंक को अपनी दृष्टि न केवल एक धातु के वरन् दोनों धातुओं के मूल्य पर रखनी होती हैं तथा दोनों प्रमाप मुद्राओं के परिचलन का नियन्त्रण करना होता है।

द्वि-धातु मान के सम्भावित लाभ हैं: (१) चूँकि न तो स्वर्ण की और न रजत की पूर्ति पर्याप्त रहती है जिससे चलन निधि की आवश्यकताएँ तथा लोगों की निजी आवश्यकताएँ पूरी हो सकें, इसलिए दोनों की सम्मिलित पूर्ति के द्वारा सम्भवत: ये सब आवश्यकतायें पूरी की जा सकें, तथा (२) इससे समायोजन की अन्तर्राष्ट्रीय कार्य विधि द्रुत तथा सुगम हो सकती है क्योंकि देश की चलन में प्रसार तथा संकुचन किसी एक धातु के आयात तथा निर्यात के आधार पर नहीं होता वरन् दोनों धातुओं पर निर्भर होता है।

यद्यपि ये सैद्धान्तिक लाभ होते हैं परन्तु वास्तविक व्यवहार में द्वि-धातु मान की कार्य पद्धति केन्द्रीय बैंकिंग प्राधिकारी के लिए स्वर्ण या रजत मान की अपेक्षा अधिक कठिनाइयाँ तथा जटिलतायें उत्पन्न करती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि स्वर्ण मान की सुगम कार्य विधि के लिए यह आवश्यक है कि स्वर्ण तथा रजत सिक्कों के वैधानिक मूल्य और बाजार मूल्य में समानता स्थापित रहे तथा दोनों प्रमाप मुद्राओं की विनिमय दर भी स्थिर रहे। वास्तविक व्यवहार में यह स्थिर सम्बन्ध रखना बड़ा कठिन कार्य है। यदि केन्द्रीय बैंक दोनों सिक्कों में या तो अत्याधिक पूर्ति अथवा किसी धातु की दुर्लभता के कारण अथवा परिवर्तनशील दशाओं का सामना करने की असमर्थता के कारण, स्थिर विनिमय दर नहीं रख पाता तो विनिमय दर का निर्धारण दोनों धातुओं के बाजार मूल्य के आधार पर होगा। इसके परिणामस्वरूप प्रत्येक वस्तु की दो कीमतें होंगी: एक तो स्वर्ण सिक्कों के रूप में और दूसरी रजत सिक्कों के रूप में, यदि स्वर्ण और रजत दो धातु हैं जिन पर द्वि-धातुमान आधारित है। इसका परिणाम चलन की अस्तव्यस्तता होगी।

द्वि-धातु मान को व्यावहारिक बनाने के लिये केन्द्रीय बैंक को स्वर्ण और रजत के सिक्कों के वैधानिक मूल्य तथा बाजार मूल्य में स्थिर सम्बन्ध बनाये रखना होता है। व्यवहार में, स्थिति को नियन्त्रित करने की केन्द्रीय बैंक की असमर्थता के कारण थोड़े समय के लिये एक का बाजार मूल्य उसके वैधानिक मूल्य से कम तथा दूसरे सिक्के का बाजार मूल्य उसके वैधानिक मूल्य से अधिक हो सकता है।

मान लीजिए स्वर्ण सिक्के का बाजार मूल्य स्वर्ण की दुर्लभता के कारण उसके वैधानिक मूल्य से अधिक हो जाता है तथा केन्द्रीय बैंक चांदी के सिक्कों के बदले में स्वर्ण सिक्कों की पर्याप्त मात्रा की पूर्ति करने में असमर्थ है। ऐसी स्थिति में स्वर्ण सिक्के निम्न-मूल्यित (under-valued) हो कर परिचलन से बाहर हो जाते हैं तथा लोग उनका संचय करने लगते हैं अथवा उन्हें गलाकर अधिक मूल्य पर बेचने लगते हैं। रजत सिक्का, जिसकी वैधानिक कीमत उसके बाजार-मूल्य से अधिक है, परिचलन में रहेगा तथा द्वि-धातु मान समाप्त हो जायेगा। यदि

रजत की अपेक्षा स्वर्ण की दुर्लभता अधिक समय तक रहती है तथा केन्द्रीय बैंक स्वर्ण (जिसकी पूर्ति दुर्लभ है) बेचकर, तथा रजत (जिसकी पूर्ति अधिक है) खरीद कर उसे ठीक करने में असमर्थ है तब वह स्वर्ण तथा रजत के सिक्कों में स्थिर विनिमय दर नहीं रख सकता तथा दोनों प्रमाप मुद्राओं के बाजार मूल्य और वैधानिक मूल्य में समानता भी स्थापित नहीं की जा सकती। इसके परिणाम-स्वरूप द्वि-धातु मान असफल हो जायेगा। इन सभी समायोजनों को करने में केन्द्रीय बैंक पर काफी भार पड़ता है और द्वि-धातु मान से इतना पर्याप्त लाभ भी नहीं होता कि इन कठिनाइयों को उठाया जाये। इसी कारण द्वि-धातु मान कभी भी प्रसिद्ध नहीं हो सका है।

कागज चलन मान

कागज चलन मान के अन्तर्गत प्रमाप मुद्रा—जो भारत में रुपया है—करेंसी नोट होती है तथा इसका मूल्य स्वर्ण अथवा रजत इत्यादि किसी धातु से सम्बद्ध नहीं रहता। पांच रुपये, दस रुपये तथा सौ रुपये के नोट इत्यादि अन्य प्रकार की मुद्रायें प्रमाप मुद्रा में, जो स्वयं करेंसी नोट होती है, परिवर्तनशील होते हैं। इसे 'व्यवस्थित चलन' (managed currency) भी कहते है क्योंकि इस चलन के मूल्य की व्यवस्था केन्द्रीय बैंक परिचलित चलार्थ की मात्रा पर नियन्त्रण करके करता है। यदि मुद्रा की कीमत घट जाती है तथा मूल्य स्तर में वृद्धि होती है तब इसका अर्थ यह हुआ कि वस्तुओं और सेवाओं की अपेक्षा परि-चलित मुद्रा की मात्रा अधिक है तथा केन्द्रीय बैंक कुछ मुद्रा को खीच लेता है। इसके विपरीत यदि मुद्रा की कीमत में वृद्धि होती है तथा मूल्य स्तर में कमी हो जाती है तब इसका अर्थ हुआ कि बहुत कम चलन की मात्रा परिचलित है तथा केन्द्रीय बैंक मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करता है।

जनता का विश्वास. कागज चलन में जनता का विश्वास इस बात पर आधा-रित है कि (१) राज्य इसके मूल्य की गारण्टी करता है। चूँकि लोगों का विश्वास सरकार में होता है अतः उसके द्वारा गारंटी की हुई चलन में भी विश्वास रहता है, तथा (२) राज्य इस बात का ध्यान रखता है कि केन्द्रीय बैंक की मौद्रिक नीति के द्वारा वस्तुओं और सेवाओं के रूप में मुद्रा के मूल्य का नियन्त्रण भली भांति हो। यद्यपि जनता का विश्वास सरकार में होता है, फिर भी उसका विश्वास ऐसी मुद्रा में नहीं हो सकता जिसके अर्घ में सदैव गम्भीर परिवर्तन होते रहते है। अतः यह अत्यन्त आवश्यक है कि मूल्य स्तर में कमी अथवा वृद्धि और साथ साथ मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन सदैव बार-बार नहीं होने चाहिए और न अधिक समय तक ही रहने चाहिए। किसी भी दशा में परिवर्तन अधिक सीमा तक नहीं होने चाहिए।

गुण तथा दोष. व्यवस्थित चलन के लाभ निम्नलिखित हैं : (१) यह सस्ती होती है क्योंकि चलन प्राधिकारी को स्वर्ण या रजत के महंगे कोषों को रखना आवश्यक नहीं होता; (२) यह लोगों के लिए अधिक सुविधाजनक होती है; तथा (३) इसकी व्यवस्था अत्यन्त सुगमता के साथ की जा सकती है और चलन प्राधिकारी को स्वर्ण तथा रजत की पूर्ति और उनके मूल्यों के विषय में अधिक कठिनाई नहीं उठानी पड़ती।

व्यवस्थित चलन की कठिनाइयाँ निम्न हैं: अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों के लिये एक देश की कागज मुद्रा दूसरे देश के लिये बिल्कुल बेकार होती है। स्वर्ण और रजत मान में यह बात नहीं होती क्योंकि धातु या सोने और चांदी के सिक्कों के द्वारा भुगतान असन्तुलन की स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान किया जा सकता है। ऐसी सुविधा व्यवस्थित चलन में उपलब्ध नहीं है। परन्तु इस स्थिति में राज्य को इस बात का ध्यान रखना होता है कि न केवल मुद्रा का आन्तरिक मूल्य ही स्थिर रहे वरन् भुगतान सन्तुलन की कमी भी, या तो विदेशी मुद्रा उधार लेकर और यदि ऐसा सम्भव नहीं है तो अपनी चलन का अव-मूल्यन करके, ठीक की जा सके। क्योंकि इस प्रकार की कठिनाइयाँ केवल अल्प काल में ही उत्पन्न हो सकती हैं, इस लिए व्यवस्थित चलन पर आधारित देश एक प्रकार का 'विनिमय समानीकरण लेखा' (Exchange Equalisation Account) रखते हैं जिसमें वे अनुकूल भुगतान सन्तुलन के समय अर्जित अतिरिक्त विदेशी चलनों को जमा कर देते हैं और भुगतान असन्तुलन की स्थिति में इसी में से विदेशी चलनों का भुगतान भी कर देते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना से कागज चलन मान के अन्तर्गत भी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान अत्यन्त सरल तथा सुगम हो गया है।

कागज चलन मान का लाभ इसकी लोचपूर्णता है। इसके अतिरिक्त इसकी व्यवस्था भी स्वर्ण, रजत तथा द्वि-धातु मान की अपेक्षा अधिक सुगमता के साथ की जा सकती है। परन्तु भय तो यह है कि यदि कोई राज्य चाहे तो वह मुद्रा की अत्यधिक मात्रा परिचलित करके स्फीतिक दशाओं को तथा मुद्रा की मात्रा में वस्तुओं और सेवाओं की अपेक्षा अत्यधिक कमी करके अवस्फीतिक दशाओं को उत्पन्न कर सकता है, भले ही ये स्थितियाँ देश के सर्वोत्तम हित में न हों तथा विश्व के अन्य देशों में प्रवर्तमान दशाओं के अनुकूल भी न हों। परन्तु इसे मानने का कोई कारण भी नहीं है कि जब तक कोई विशेष उद्देश्य न हो तब तक कोई राज्य अपने देश की चलन के विनिमय मूल्य के साथ खिलवाड़ करेगा। वस्तुतः आज विश्व की सभी चलन कागज मान पर ही आधारित हैं तथा बहुत सुगम और सन्तोषपूर्ण ढंग से कार्य कर रही हैं।

अध्याय ८

व्यापारिक बैंक-व्यवस्था

(Commercial Banking)

बैंक-व्यवस्था की कोई उचित परिभाषा देना कठिन है। १९४९ के भारतीय बेंकिंग कम्पनी विधान के अनुसार बैंक व्यवस्था "वह है जिसमें जनता को ऋण देने अथवा विनियोग के उद्देश्य से जनता का ही धन जमा के रूप में रखा जाय जिसका मांग पर चैक द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार के आदेश के अनुसार भुगतान किया जाय"। व्यापारिक बैंकों के कार्यों को बताना तथा यह दिखाना कि वे किस प्रकार से अन्य वैत्तिक संस्थानों और केन्द्रीय बैंकों से भिन्न होते हैं, सरल कार्य है।

व्यापारिक बैंक-व्यवस्था तथा केन्द्रीय बैंक-व्यवस्था के कार्यों में कुछ प्रमुख भेद हैं: (१) व्यापारिक बैंक लाभ अर्जित करने को प्राथमिकता प्रदान करता है परन्तु केन्द्रीय बैंक सर्वप्रथम इस बात पर ध्यान देता है कि उसके कार्यों का प्रभाव देश की अर्थव्यवस्था पर क्या होगा; (२) व्यापारिक बैंक अधिक भी हो सकते हैं तथा कम भी। उनका कारोबार जनता से होता है। परन्तु एक देश में एक ही केन्द्रीय बैंक होता है और वह जनता के लिये बैंकिंग कार्य नहीं करता। इसका मुख्य कार्य अन्य बैंकों पर नियन्त्रण करना होता है।

विनियोग ट्रस्टों, वैत्तिक निगमों, बीमा कम्पनियों, सहकारी साख समितियों सदृश वैत्तिक संस्थानों तथा व्यापारिक बैंकों में कुछ भेद हैं: (१) यद्यपि वैत्तिक संस्थायें व्यक्तियों तथा संस्थानों से रुपया स्वीकार करती हैं तथा बाद में उनके प्रयोग के लिये उन्हें रुपया देती हैं, परन्तु उन्हें निक्षेपों (deposits) के सृजन, फलतः मुद्रा के सृजन का अधिकार प्राप्त नहीं है। अन्य शब्दों में, वैत्तिक संस्थायें केवल ऋण प्रदान करने के लिए उसी कोष का उपयोग कर सकती हैं जो कि उनके पास लोगों ने जमा कर रखा है। परन्तु, जैसा कि हम अभी देखेंगे, व्यापारिक बैंकों को अपने ऋण प्रदान करने की क्रिया विधि द्वारा निक्षेपों के सृजन करने का अधिकार है जिसके परिणामस्वरूप मुद्रा की पूर्ति में भी वृद्धि हो जाती है। अतः हम यह कह सकते हैं कि उन्हें मुद्रा के सृजन का भी अधिकार प्राप्त है; तथा (२) व्यापारिक बैंकों के निक्षेपों को चैक द्वारा निकाला भी जा सकता है परन्तु ऐसी बात अन्य वैत्तिक संस्थाओं के बारे में नहीं है। सहकारी बैंक तथा सेविंग्स बैंक जिस सीमा तक चैक द्वारा निक्षेपों को निकालने की अनुमति देते हैं

उस सीमा तक वे व्यापारिक बैंकों की विशेषता ग्रहण किये रहते हैं। व्यापारिक बैंकों को संयुक्त पूंजी बैंक (joint stock banks) भी कहते हैं तथा भारत में अनुसूचित और गैर-अनुसूचित बैंक इस आधार पर कहे जाते हैं कि वे रिजर्व बैंक आफ़ इण्डिया की सूची (schedule) में हैं अथवा नहीं।

विभिन्न प्रकार

शाखा बैंकिंग तथा इकाई बैंकिंग. व्यापारिक बैंक या तो शाखा बैंक व्यवस्था की तरह हो सकते हैं जैसा कि भारत के व्यापारिक बैंक हैं जिसके अन्तर्गत प्रत्येक बैंक की अनेक शाखायें सम्पूर्ण देश में रहती हैं, या इकाई-बैंक-व्यवस्था की तरह हो सकते हैं जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका में हैं जिसमें प्रत्येक बैंक की कार्यवाही एक ही कार्यालय तक सीमित रहती है।

शाखा बैंक व्यवस्था के लाभ निम्न हैं: (१) शाखा बैंक को श्रम विभाजन के सभी लाभ उपलब्ध रहते हैं—इसके कुछ अधिक योग्य कर्मचारी अपना सम्पूर्ण समय परिसंपत्ति (assets) के वितरण, ऋण लेने वाले व्यावसायियों द्वारा प्रदान किए गए समर्थक ऋणाधार (collateral security) सम्बन्धी नियमों के बनाने, कर्मचारियों की भर्ती इत्यादि सम्बन्धी महत्वपूर्ण कार्यों के करने में अपना समय लगा सकते हैं; (२) शाखा बैंकिंग के अन्तर्गत निधि (reserves) में किफायत होती है। यह मितव्ययिता बैंक के लाभ के दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है। बड़े बैंक प्रत्येक कार्यालय में कम राशि सुरक्षित रखकर काम चला सकते हैं क्योंकि एक कार्यालय से दूसरे कार्यालय में निधि आवश्यकता पड़ने पर या तो आदेशों के हस्तान्तरण या ऋण द्वारा भेजी जा सकती है। इस प्रकार का शीघ्र तथा सुविधाजनक हस्तान्तरण एक इकाई बैंक से दूसरे इकाई बैंक में नहीं किया जा सकता; (३) शाखा बैंक प्रणाली में विप्रेषण कार्य (एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजना) बहुत ही सस्ते में सम्पन्न हो जाता है, क्योंकि अन्तर्विभागीय ऋणों का समायोजन सरलता से हो जाता है; (४) भौगोलिक दृष्टि से जोखिमों का फैल जाना (spreading) शाखा बैंक प्रणाली का एक अन्य लाभ है। यह सत्य है कि व्यापार चक्रों की उपस्थिति से कभी अच्छे व्यापार का समय आता है और कभी बुरे व्यापार का। यदि व्यापारिक हानियों का कारण केवल व्यापारिक चक्र (trade cycle) ही होता तब तो इकाई बैंक तथा शाखा बैंक में चुनाव की अधिक आवश्यकता न होती क्योंकि बैंक की सभी शाखाओं को एक साथ हानि उठानी पड़ती। फिर भी, इकाई बैंक प्रणाली में कुछ अधिक हानि रहती है क्योंकि उत्पादक वस्तुओं के उद्योगों (capital goods industries) को अवसाद के समय सब

से अधिक हानि होती है। और चूँकि वे उद्योग एक निश्चित क्षेत्र में स्थानीयकृत हो सकते हैं, अतः उस क्षेत्र विशेष में कार्य करने वाले बैंकों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। परन्तु व्यापारिक चक्रों के अतिरिक्त लोगों के स्वभाव तथा तकनीक इत्यादि में परिवर्तन के फलस्वरूप भी कुछ उद्योगों में लाभ अथवा हानि (जो कभी कभी अत्यन्त तीव्र हो जाती है) हो जाया करती है। जहाँ तक ये अवनतिशील उद्योग एक निश्चित क्षेत्र में स्थानीयकृत होते हैं, इन क्षेत्रों पर आधारित इकाई बैंकों को भी काफी हानि उठानी पड़ती है। परन्तु उस क्षेत्र में शाखा बैंक द्वारा उठायी गई हानि की पूर्ति उसी बैंक की अन्य शाखाओं द्वारा समृद्ध क्षेत्रों में अर्जित लाभ से हो सकती है; तथा (५) शाखा बैंकिंग प्रणाली में एक लाभ यह भी होता है कि इसके अफसरों का व्यक्तिगत लगाव स्थानीय व्यापार में नहीं होता, अतः वे निष्पक्ष तथा निरपेक्ष दृष्टिकोण रखकर बिना किसी हिचक के ऋण देना अस्वीकार कर सकते हैं। इस प्रकार की स्थिति इकाई बैंकिंग प्रणाली में जब व्यवस्थापक उसी क्षेत्र का हो तब उत्पन्न हो सकती है।

शुद्ध तथा मिश्रित प्रणाली. दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि व्यापारिक बैंक शुद्ध (pure) अथवा मिश्रित (mixed) प्रकार के होने चाहिए। मिश्रित बैंक व्यवस्था का अर्थ उस दशा से होता है जब व्यापारिक बैंक व्यक्ति तथा उद्योग को कार्यशील पूँजी के लिये न केवल अल्पकालीन ऋण वरन् अचल पूँजी (fixed capital) के लिए दीर्घकालीन ऋण भी प्रदान करते हैं। मिश्रित बैंक व्यवस्था जर्मनी में चलाई गई थी परन्तु वहाँ सन्तोषजनक कार्य नहीं हुआ। मिश्रित बैंकिंग के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि व्यापारिक बैंकों के पास पर्याप्त 'निष्क्रिय' कोष (idle funds) पड़ा रहता है जिसका भली भाँति उपयोग हो सकता है तथा बैंक लाभ अर्जन भी कर सकते हैं यदि इनका विनियोग उद्योग में किया जाये; और साथ साथ उद्योगों को दीर्घकालीन वित्त भी सस्ते में मिल जाता है।

परन्तु मिश्रित बैंक व्यवस्था के गम्भीर दोष होते हैं: (१) व्यापारिक बैंक की जमा (deposits) अधिकांश अल्पकालीन होती हैं। चूँकि जमा-कर्त्ता (depositors) अपनी जमा को यदि 'मांग जमा' (demand deposit) है तो मांगने पर (on demand) और यदि सावधि जमा (time deposit) है तो आवश्यक सूचना देकर निकाल सकते हैं, अतः व्यापारिक बैंकों के लिये यह उचित नहीं है कि उनकी परिसंपत्ति को दीर्घकाल तक रोक कर रखें। अन्य शब्दों में, व्यापारिक बैंकों का सिद्धान्त यह आवश्यक मानता है कि बैंकों की देयता (liabilities) की अवधि पूर्ण होने (maturity) के दृष्टिकोण से बैंक के

दायित्व तथा परिसंपत्ति में समुचित सन्तुलन रहे। इस प्रकार का सन्तुलन मिश्रित बैंक व्यवस्था के अन्तर्गत सरलतापूर्वक सम्भव नहीं है। (२) विभिन्न उद्योगों के शेयरों में सफलतापूर्वक विनियोग करने अथवा अन्य दीर्घकालीन विनियोग करने के लिये यह आवश्यक है कि उन सभी औद्योगिक इकाइयों तथा संस्थापनों की प्राविधिक तथा अन्य सम्भावनाओं के विषय में भली भाँति जानकारी प्राप्त कर ली जायें जो दीर्घकालीन ऋण लेना चाहते हैं। इस प्रकार का अध्ययन करने में व्यापारिक बैंक बहुधा समर्थ नहीं होते। यदि इस कार्य के लिए ये अतिरिक्त कर्मचारियों को लगा लेते हैं तब उनकी कार्य विधि की लागत में वृद्धि हो जायेगी। (३) व्यापारिक बैंक औद्योगिक वित्त प्रदान करने के लिए उपयुक्त नहीं होते क्योंकि इसमें विशेष प्रकार की समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं जो भली भाँति विशिष्ट संस्थाओं, जैसे औद्योगिक बैंक विनियोगिक वित्त निगम तथा विनियोग ट्रस्टों, द्वारा ही सुलझाई जा सकती हैं।

व्यापारिक बैंकों के कार्य

व्यापारिक बैंक अनेक कार्य करते हैं जिन्हें हम व्यापक रूप में दो प्रकार से विभाजित कर सकते हैं: (अ) सामान्य बैंकिंग कार्य तथा (ब) गैर-बैंकिंग कार्य। व्यापारिक बैंकों के गैर-बैंकिंग कार्य के अन्तर्गत सम्मिलित हैं: (१) परिवार ट्रस्टों के प्रबन्धक के रूप में कार्य करना, (२) अपने प्रतिनियोक्ताओं के लिए शेयरों, प्रतिभूतियों (securities) इत्यादि को खरीदना तथा बेचना; (३) अपने प्रतिनियोक्ताओं (constituents) के बहुमूल्य सामानों जैसे स्वर्ण, रजत, आभूषण तथा प्रतिभूतियों इत्यादि को सुरक्षित रूप में रखना; तथा (४) इस प्रकार के विविध कार्य जैसे अपने प्रतिनियोक्ताओं के जीवन बीमा की किश्त देना, मकान का किराया देना तथा उनके वेतन, लाभांश की वसूली (collecting) तथा उनकी यात्रा और विदेशी विनिमय की व्यवस्था करना।

परन्तु व्यापारिक बैंकों के वास्तविक कार्य उनके प्रसामान्य बैंकिंग कार्य होते हैं जो यह हैं: "नकद को बैंक-जमा में तथा बैंक-जमा को नकद में परिवर्तित करना; बैंक-जमा को एक व्यक्ति अथवा निगम से दूसरे को हस्तान्तरित करना; विनिमय बिलों और सरकारी बाण्डों के बदले में बैंक-जमा प्रदान करना; व्यावसायियों के भुगतान करने के वादों की गारंटी देना इत्यादि"। प्रसामान्य बैंकिंग कार्य निम्नलिखित हैं:—

निक्षेपों को स्वीकार करना. लोग अपना रुपया व्यापारिक बैंक में जमा करते हैं। ये निक्षेप या तो चालू खाते के अन्तर्गत जिसे 'मांग निक्षेप कहते हैं, अथवा

सावधि जमा खाते के अन्तर्गत जिसे 'अवधि निक्षेप'' कहते हैं, या सेविंग्स बैंक खाते में जिसमें से सप्ताह में कुछ सीमित दिनों में ही रुपया निकाल सकते हैं, जमा किये जा सकते हैं।

माँग निक्षेपों का सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इन्हें चैक के द्वारा निकाला जा सकता है। ये निक्षेप या तो लोगों द्वारा नकद के रूप में जमा किये जा सकते हैं (तब उन्हें 'नकद निक्षेप' कहते हैं) अथवा बैंक द्वारा उसके प्रतिनियोक्ताओं को उनके चालू खाते में उतना रुपया जमा करके रुपया उधार दिया जा सकता है (इस दशा में उसे हम 'साख निक्षेप' कहेंगें)। परन्तु इन दोनों स्थितियों में बैंक निक्षेप एक प्रकार के ऋण होते हैं जिसे बैंक को अपने निक्षेपकों (depositors) को देना रहता है। ये बैंक निक्षेप 'बैंक मुद्रा' भी कहे जाते हैं क्योंकि इनका प्रयोग उन व्यक्तियों द्वारा खरीदी गई वस्तुओं तथा सेवाओं के भुगतान करने के लिये भी किया जा सकता है जिन्होंने इन निक्षेपों को बैंक में दिया है।

यहाँ पर इस बात को भली भाँति समझ लेना चाहिए कि बैंक निक्षेप मुद्रा कहे जाते हैं, चैक नहीं। चैक तो केवल एक वैधानिक यन्त्र है जिसके द्वारा निक्षेप का हस्तान्तरण एक नाम से दूसरे नाम को होता है। इस बात को भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि 'सावधि निक्षेप' मुद्रा नहीं होते तथा सेविंग्स बैंक निक्षेप भी मुद्रा नहीं कहे जा सकते यदि उन्हें चैक के द्वारा निकाला नहीं जा सकता। केवल 'मांग निक्षेप' तथा उस सीमा तक सेविंग्स बैंक निक्षेप मुद्रा कहे जा सकते हैं जहाँ तक उन्हें चैक द्वारा निकाला जा सकता हैं। ये निक्षेप तथा परिचलित चलार्थ की मात्रा मिलाकर अर्थव्यवस्था की सम्पूर्ण मुद्रा होती है।

ऋण तथा अग्रिम प्रदान करना. यदि व्यापारिक बैंक अपने ग्राहकों को केवल नक़द निक्षेपों में से—जो लोगों ने चालू तथा सावधि खाते के अन्तर्गत जमा कर रखा है—ऋण देने लगें तब तो बैंक अपने कार्य संचालन तक के लिए भी पर्याप्त ब्याज नहीं प्राप्त कर सकते। ऐसी स्थिति में इनका कोई विशेष महत्व नहीं है और ये अन्य वैत्तिक संस्थाओं के सदृश हो जायेंगें। व्यापारिक बैंकों का वास्तविक महत्व तो बैंक निक्षेपों के सृजन करने में है। निक्षेपों के सृजन से तात्पर्य होता है ऋण लेने वालों को साख सृजन के द्वारा ऋण प्रदान करना। साख सृजन की प्रक्रिया पर हम आगे चलकर विचार करेंगे।

यहाँ पर इस बात को बतला देना चाहिए कि बैंक द्वारा उधारकर्त्ताओं को ऋण अथवा अग्रिम या तो (१) ऋण की उतनी राशि उधारकर्ता के चालू लेखे के अन्तर्गत जमा करके जिससे वह जब चाहे तब चैक द्वारा उतना रुपया

निकाल सके, अथवा (२) ओवर ड्राफ्ट (overdraft) की सुविधा देकर प्रदान किये जा सकते हैं। इसका अर्थ यह होता है कि प्रतिनियोक्ता चैक के द्वारा अपने नक़द निक्षेप से अधिक ओवर-ड्राफ़्ट की मात्रा तक रुपया ले सकता है। मान लीजिए किसी व्यापारिक बैंक में चालू खाते के अन्तर्गत एक प्रतिनियोक्ता ने १०,००० रुपये जमा कर रखे हैं तथा उसे बैंक द्वारा ३,००० रुपये का ओवर ड्राफ्ट स्वीकृत हुआ है, तो वह १३,००० रुपये चैक के द्वारा निकाल सकता है। यदि किसी महीने में वह चैक द्वारा ११,००० रुपये लेता है तब उसे केवल १,००० रुपये पर ही ब्याज देना होगा। परन्तु यदि ३,००० रुपया उसके चालू खाते में जमा कर दिया गया है तब प्रतिनियोक्ता को ऋण की पूरी मात्रा पर ब्याज देना पड़ेगा चाहे उसने उसका प्रयोग किया हो अथवा नहीं।

पूर्व प्रापण (discounting). क्रेता द्वारा खरीदी गई वस्तुओं के लिए उससे नकद रुपया लेने के स्थान पर व्यापारी भविष्य की किसी तिथि पर भुगतान पाने के लिये एक विनिमय बिल (bill of exchange) भी स्वीकार कर सकता है। विनिमय बिल की जमानत पर व्यापारिक बैंक रुपया प्रदान कर सकता है। विक्रेता को रुपया शीघ्र मिल जाता है जब कि क्रेता भविष्य में उस समय भुगतान करता है जब विनिमय बिल की अवधि पूरी होती है और बैंक उससे पूरा रुपया एकत्रित कर लेता है। विनिमय बिल की जमानत पर इस प्रकार रुपया अग्रिम के रूप में प्रदान करना पूर्व-प्रापण कहलाता है। वास्तव में यह उधारकर्त्ता को उसके द्वारा खरीदी गई वस्तुओं के भुगतान करने के लिये दिया गया ऋण ही है।

बैंक निक्षेपों का हस्तान्तरण. व्यापारिक बैंक एक ही स्थान पर एक नाम से दूसरे नाम को तथा विभिन्न स्थानों पर एक नाम से दूसरे नाम को रुपया हस्तान्तरण करते हैं। मान लीजिए इलाहाबाद का एक व्यक्ति कलकत्ते के एक व्यक्ति को भुगतान करना चाहता है। या तो वह चैक अथवा बैंक ड्राफ़्ट (जिसका अर्थ है कि एक बैंक द्वारा उसकी दूसरी जगह की शाखा को यह आदेश कि अमुक व्यक्ति अथवा उसके द्वारा निर्देशित व्यक्ति को निश्चित मात्रा का भुगतान ड्राफ़्ट दिखाने पर किया जाये) से कलकत्ते के व्यक्ति को भुगतान करे अथवा उसकी प्रार्थना पर उसका इलाहाबाद का बैंक कलकत्ते वाले व्यक्ति को प्रत्यक्ष भुगतान करने के लिए सूचना दे सकता है। यह भुगतान उसके चालू खाते में उतना रुपया जमा कर देने से हो जायेगा। व्यापारिक बैंक ने इन सभी स्थितियों में इलाहाबाद में अ के नाम से कलकत्ते में ब को बैंक निक्षेपों के हस्तान्तरित करने का कार्य किया है। बैंक निक्षेपों के हस्तान्तरण की सुविधा प्रदान करने के लिये बैंक कुछ कमीशन ले लेता है। यदि चैक है तब यह कमीशन कलकत्ता के भुगतान प्राप्त करने वाले

व्यक्ति के हिसाब से काट लिया जाता है और यदि बैंक ड्राफ़्ट अथवा सूचना (advice) होती है तब यह कमीशन इलाहाबाद वाले व्यक्ति के चालू खाते से काट लिया जाता है जिसने बैंक ड्राफ़्ट प्राप्त किया अथवा इलाहाबाद के बैंक से कलकत्ता के बैंक को उस व्यक्ति को भुगतान करने के लिए सम्मति प्रदान करने के लिये प्रार्थना की।

व्यापारिक बैंक किस प्रकार निक्षेपों का सृजन करते हैं?

केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित कुल मुद्रा में से लोग कुछ अंश अपने लेने-देन, पूर्वोपाय तथा पूर्वकल्प सम्बन्धित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये रखते हैं तथा कुछ भाग वे बैंक में जमा कर देते हैं क्योंकि ऐसा या तो अधिक सुविधाजनक रहता है अथवा अधिक सुरक्षित। अपने पास रखे जाने वाली मुद्रा तथा बैंक में जमा की जाने वाली मुद्रा का अनुपात राष्ट्रीय प्रदा तथा आय के स्तर, लोगों द्वारा भुगतान करने की प्रणाली, लोगों की बैंकिंग तथा मौद्रिक प्रकृति इत्यादि पर आधारित है। मान लीजिए किसी एक वर्ष में रिजर्व बैंक आफ इण्डिया १५०० करोड़ रुपये का चलन निर्गमित करता है। समष्टि दृष्टिकोण से, मान लीजिए, लोग १२०० करोड़ रुपया अपने पास रखने का तथा ३०० करोड़ रुपया बैंक में जमा करने का निर्णय करते हैं। जब यह ३०० करोड़ रुपया लोगों के नकद निक्षेपों के रूप में बैंक के पास पहुँचता है तब इस सभी मात्रा को बैंक अपने पास रखना न तो आवश्यक ही समझते हैं और न मितव्ययी ही क्योंकि यदि बैंक अपने पास बेकार रुपया रखे रहेंगे तब वे लाभ अर्जन नहीं कर सकते। अनुभव द्वारा बैंकों को यह ज्ञात हो गया है कि नकद निक्षेपों को बैंक में रखने के उपरान्त लोग औसतन उसके १० प्रतिशत से अधिक किसी समय नक़द के रूप में वापस नहीं लेते। इस अनुभव के आधार पर पाश्चात्य देशों में बैंक १० प्रतिशत ही नकद निक्षेप के रूप में रखते हैं जिससे वे अपने निक्षेपकों को भुगतान कर सकें।

सभी व्यापारिक बैंकों की परिसंपत्ति तथा देयता
(करोड़ रुपये में)

प्रथम स्थिति

परिसंपत्ति (assets)		देयता (liabilities)	
बैंक द्वारा नक़द के रूप में रखी गई	३००	लोगों के बैंक में नक़द निक्षेप	३००
	३००		३००

द्वितीय स्थिति

परिसंपत्ति		देयता	
बैंक द्वारा नक़द के रूप में रखी गई	३००	लोगों के बैंक में नक़द निक्षेप	३००
उनके द्वारा जमा की गई सहायक प्रतिभूतियाँ जिनके लिये साख निक्षेपों का सृजन किया गया है	२७००	बैंकों द्वारा सृजित निक्षेप (साख निक्षेप)	२७००
योग	३०००		३०००

यदि लोगों ने ३०० करोड़ रुपये बैंक में जमा किये हैं तब बैंक ३० करोड़ रुपये अपनी ३०० करोड़ रुपये की प्राथमिक देयता के लिये अपने पास नक़द के रूप में रखेंगे तथा शेष २७० करोड़ रुपये का प्रयोग वे जिस प्रकार से उचित समझें कर सकते हैं। परन्तु यदि बैंक अपने पास ३० करोड़ रुपये सुरक्षित रखने के उपरान्त शेष २७० करोड़ रुपये को नक़द रूप में ऋण देने लगें तब बैंक के पास ऋण तथा अग्रिम प्रदान करने तथा विनियोग इत्यादि करने के लिये पर्याप्त संसाधन शेष नहीं रह पायेंगे। और इस प्रकार की क्रियायें बैंक को पर्याप्त लाभ अर्जित करने के लिये करनी ही पड़ती हैं। अतः बैंक साख का सृजन करते हैं। उपरोक्त उदाहरण में चूंकि ३० करोड़ (अर्थात ३०० करोड़ की नक़द जमा का १०%) नक़द सुरक्षित रखना पर्याप्त होता है अतः बैंक केवल २७० करोड़ रुपये अपने पास सुरक्षित रख कर २७०० करोड़ रुपये तक नवीन बैंक निक्षेपों का सृजन कर सकतें हैं, जैसे कि द्वितीय स्थिति में दिखलाया गया है।

बैंक ये सब अपने प्रतिनियोक्ताओं को ऋण, अग्रिम तथा ओवर-ड्राफ्ट सम्बन्धित सुविधायें २७०० करोड़ रुपये तक प्रदान कर कार्य करने में समर्थ होते हैं। बैंकों द्वारा ऋण तथा अग्रिम नक़द भी दिये जा सकते हैं परन्तु हम लोगों ने यह मान लिया है कि प्रत्येक का बैंक लेखा है तथा भुगतान चैक के माध्यम से होता है। अतः बहुधा बैंक ऋण की मात्रा उधारकर्त्ता के चालू खाते में जमा कर देते हैं। ओवर-ड्राफ्ट की स्थिति में तो उधारकर्त्ता के चालू खाते में ऋण की मात्रा को जमा करने के अतिरिक्त और कोई सम्भावना ही नहीं है। साख का सृजन बैंक इस परिकल्पना पर करते हैं कि जब लोग अपने नक़द निक्षेपों की १० प्रतिशत से अधिक मांग नहीं करते तब वे (किसी दिये हुए समय में) बैंक द्वारा सृजित साख निक्षेपों के भी १० प्रतिशत से अधिक मांग नक़द के रूप में नहीं करेंगे। चूंकि बैंक के पास २७० करोड़ रुपये के बराबर नक़द विद्यमान हैं, अतः वे २७०० करोड़ रुपये

परन्तु इस प्रक्रिया की एक सीमा होती है । कोई ऐसा भी होना चाहिए जो बैंक के चैक को स्वीकार करे तथा उसे अपने चालू खाते में जमा कर दे जिससे बैंक निक्षेपों का सृजन करने में समर्थ हो सके ।

बैंक द्वारा सृजित निक्षेपों के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि 'बैंक साख' कुल परिचलित मुद्रा का एक भाग होती है । बैंक निक्षेपों के सृजन के उपरान्त मुद्रा की पूर्ति की स्थिति हमारे उदाहरण में निम्नलिखित प्रकार से होगी:—

लोगों के पास नकद		१,२०० करोड़ रुपये
बैंकों के पास निक्षेप		३,००० करोड़ रुपये
लोगों द्वारा जमा की गई नक़द	३०० करोड़ रुपये	
बैंकों द्वारा सृजित निक्षेप	२,७०० करोड़ रुपये	
योग		४,२०० करोड़ रुपये

केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित चलन की कुल मात्रा १,५०० करोड़ रुपये थी परन्तु अब कुल परिचलित मुद्रा की मात्रा ४,२०० करोड़ रुपये हो गई क्योंकि केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित मुद्रा की मात्रा में बैंक साख (सृजित मुद्रा) की मात्रा भी मिला दी गई जो २,७०० करोड़ रुपये के बराबर थी। यहाँ यह स्पष्टतया ध्यान देना चाहिए कि यद्यपि बैंक निक्षेपों का सृजन केन्द्रीय बैंक द्वारा निर्गमित मुद्रा की सहायता से ही हुआ है फिर भी ये उससे अतिरिक्त हैं तथा इन्हें चलन नहीं समझ लेना चाहिए । चूंकि ये वही कार्य करते हैं जो चलन करती है, इसलिये ये कुल मुद्रा की पूर्ति के एक महत्वपूर्ण अंग होते हैं ।

चूंकि बैंक साख मुद्रा पूर्ति का एक आवश्यक अंग होता है इसलिए केन्द्रीय बैंकिंग प्राधिकारी के लिये बैंक साख पर नियन्त्रण करना आवश्यक हो जाता है । इसी उद्देश्य से प्रत्येक देश के बैंकिंग विधान में व्यावसायिक बैंकों के लिये यह आवश्यक कर दिया गया है कि वे एक निश्चित नक़द-अनुपात तथा नक़द-निक्षेप केन्द्रीय बैंक के पास जमा रखें । इसके अतिरिक्त, कुछ देशों में तो केन्द्रीय बैंक प्राधिकारी को यह अधिकार प्राप्त रहता है कि वे व्यापारिक बैंकों पर परीक्षण एवं नियन्त्रण रखें तथा उनके हिसाब-किताब की जाँच करें और समय समय पर उनके मामलों की देख-रेख किया करें ताकि व्यापारिक बैंकों का कार्य केन्द्रीय बैंक द्वारा अनुसरित नीति के अनुकूल हो सके । इन सभी सतर्कताओं के होते हुए भी कभी कभी व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक प्राधिकारी को चकमा भी देते रहते हैं। इस प्रकार की एक विधि है जिसे अभिविन्यसन (window dressing) कहते हैं, जिससे व्यापारिक बैंक प्रकाशित नक़द अनुपात जो न्यायोचित समझा जाता है उसमें बिना

परिवर्तन किये ही अपने वास्तविक नकद अनुपात को परिवर्तित कर सकते हैं। जिस तारीख को हिसाब देना रहता है उस तारीख को बैंक अल्पकालीन तथा शीघ्र सूचना पर (at call and short notice) मुद्रा वापस लेकर तथा दूसरे दिन फिर ऋण देकर मुद्रा को वापिस कर देते हैं। इससे उस दिन तो बैंक के नक़द साख का अनुपात बढ़ जाता है परन्तु वास्तव में नक़द साख का अनुपात कम ही रहता है। ऐसा बैंकिंग अधिनियमों को तोड़ने के लिये नहीं किया जाता और न केन्द्रीय बैंकिंग प्राधिकारी के आदेशों की अवहेलना करने के लिये किया जाता है वरन् ऐसा बैंक के लिये अधिक लाभ अर्जित करने के लिये किया जाता है। परन्तु यह ठीक व्यवहार नहीं होता। कुछ कठिनाइयों के बाद ही केन्द्रीय बैंकिंग प्राधिकारी अधिक व्यवस्थित मौद्रिक तथा साख नियन्त्रण की नीति के द्वारा इस प्रथा को रोकने में समर्थ हो पाया है।

परिसंपत्ति तथा देयता को सन्तुलित करना

व्यापारिक बैंकों के बारे में जो सबसे महत्वपूर्ण बात है वह यह है कि परिसंपत्ति (assets) तथा देयता (liabilities) को इस ढंग से सन्तुलित किया जाय कि एक ओर तो बैंक लाभपूर्ण विनियोग कर सकें और लाभ भी अर्जित कर सकें (जिससे वे निक्षेपकों को ब्याज तथा शेयरहोल्डरों को लाभांश दे सकें) और दूसरी ओर उनके पास पर्याप्त तरलता हो जिससे कि वे अपने प्रतिनियोक्ताओं की समय समय की नकद सम्बन्धी माँगों की पूर्ति भी कर सकें। किस प्रकार की परिसंपत्ति रखनी चाहिए इसका निर्णय करने में व्यापारिक बैंकों को सतर्कता तथा लाभ की इच्छा इन दो प्रतिकूल शक्तियों से प्रभावित होना पड़ता है। सतर्कता की मांग यह है कि परिसंपत्ति का अधिकांश अनुपात तरल रूप में रखना चाहिए। लाभ की इच्छा बैंक को अपनी परिसंपत्ति का अधिकांश भाग कम तरल रूप में रखने को प्रेरित करती है।

प्रत्येक व्यापारिक बैंक को अपनी परिसंपत्ति की तरलता तथा लाभप्रदता का सन्तुलन रखना होता है तथा व्यापारिक बैंकों की सफलता इन दोनों में उचित सन्तुलन स्थापित रखने की क्षमता पर आधारित है। दूसरी महत्वपूर्ण बात जो व्यापारिक बैंकों को ध्यान में रखनी होती है वह है परिसंपत्ति की परिपक्वता की अवधि तथा उसके नकद के रूप में सम्भावित मांग की अवधि में सन्तुलन स्थापित हो। अनुभव द्वारा व्यापारिक बैंकों को वह समय ज्ञात रहता है जब कि माँग निक्षेपों तथा सावधि निक्षेपों को रखने वाले व्यक्ति अधिक नक़द की मांग कर सकते हैं। एक सफल व्यापारिक बैंक अपनी परिसंपत्ति की परि-

पक्वता को इस प्रकार से व्यवस्थित रखता है कि जब भी उसके प्रतिनियोक्ता नकद की मांग करें तब उन्हें नकद उपलब्ध हो सकता है। अन्त में, व्यापारिक बैंकों को यह भी ध्यान में रखना होता है कि उनका विनियोग अधिक सुरक्षित तथा लाभपूर्ण ढंग से हो सके, यद्यपि यह व्यापारिक बैंकों के लिए उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि अन्य वैत्तिक संस्थानों के लिये। इसलिए वे तरल संसाधनों को पर्याप्त मात्रा में रखते हैं जिससे कि अवसर आने पर वे उसका विनियोग लाभपूर्ण दिशाओं में कर सकें।

व्यापारिक बैंक को परिसंपत्ति की तरलता के विषय में महत्वपूर्ण विचार यह होता है कि जब भी उसके प्रतिनियोक्ता चाहें तभी वे नकद प्राप्त कर सकें। यदि व्यापारिक बैंक नकद की मांग की पूर्ति करने में असमर्थ रहता है तब यह सम्भव है कि वह जनता का विश्वास खो दे और अन्त में ऐसा भी हो सकता है कि उसका परिसमापन (liquidation) भी हो जाये। अतीत में ये कठिनाइयाँ वर्तमान की अपेक्षा बहुत अधिक थीं क्योंकि अब अधिकांश देशों की केन्द्रीय बैंक प्रणाली में अत्यधिक सुधार हो गया है तथा केन्द्रीय बैंक 'अन्तिम ऋणदाता के रूप में' किसी भी व्यापारिक बैंक की नकद की आवश्यकता पूर्ति करने के लिए प्रस्तुत रहता है यदि उनके (व्यापारिक बैंकों) विनियोग अच्छी दिशा में हुए हों तथा वे स्वस्थ बैंकिंग नीति का अनुसरण कर रहे हों। आधुनिक युग में उतना अधिक जोर तरलता पर नहीं दिया जाता जितना एक सुस्थिर बैंकिंग नीति पर।

अध्याय ९

केन्द्रीय बैंक व्यवस्था

(Central Banking)

मुद्रा के बाह्य तथा आन्तरिक मूल्य में हुए परिवर्तनों का प्रभाव देश के उद्योग, वाणिज्य, व्यावसायिक दशाओं तथा लेनदार और देनदार (ऋणी) के सम्बन्ध पर बहुत महत्वपूर्ण होता है। अतः केन्द्रीय बैंक का सर्वप्रमुख कार्य यह होता है कि इन मूल्यों का नियन्त्रण इस प्रकार से करे जिससे आर्थिक स्थिरता तथा प्रगति एवं राष्ट्र का कल्याण सुनिश्चित हो सके। दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है व्यावसायिक बैंकों के हितों की सुरक्षा करना तथा 'अन्तिम ऋणदाता' के रूप में कार्य करना। चूँकि व्यावसायिक बैकों के कार्यो का आधार सृजित मुद्रा होती है, अतः ये बैंक कभी कभी अस्थायी कठिनाइयों में भी फंस जाते हैं। बहुधा उस समय ऐसा होता है जब कि 'नक़द' की मांग उनके पास विद्यमान तरल संसाधनों की अपेक्षा काफी बढ़ जाती है यद्यपि मूलतः बैंक की स्थिति अच्छी भी हो सकती है तथा उसकी कुल लेनदारियाँ उसकी देनदारियों का भुगतान करने के लिये पर्याप्त भी होती हैं। व्यापारिक बैंक विशेषतः उस समय जटिल कठिनाइयों में पड़ जाते है जब वे अपनी देनदारियों (liabilities) का भुगतान उचित समय पर नहीं कर पाते। ऐसी स्थिति बैंक द्वारा अपनी लेनदारियों को उचित समय पर वसूल करने की असमर्थता के कारण उत्पन्न होती है क्योंकि कुछ कारणों से लोगों को बैंक की सुस्थिरता पर सन्देह होने लगता है और वे अपनी जमा बैंक से निकालने लगते हैं। केन्द्रीय बैंक का यह कार्य होता है कि वह व्यापारिक बैंकों को उचित समय पर सहायता कर के उन्हें फेल होने से बचाये। ऐसा वह उन्हें अपने तरल संसाधनों में वृद्धि करवा के करता है जिससे वे अपनी देनदारियों की पूर्ति करके जनता के भय को दूर करने में समर्थ होते हैं। हम अभी उस कार्य विधि पर विचार करेंगें जिससे केन्द्रीय बैंकिंग प्राधिकारी इस महत्वपूर्ण कार्य को करता है। केन्द्रीय बैंक का एक सहायक कार्य है सरकार की ओर से रुपया प्राप्त करना तथा वितरण करना और सार्वजनिक ऋणों की व्यवस्था करना।

इस प्रकार केन्द्रीय बैंक एक संस्था है जो सरकार के तथा साथ-साथ अन्य बैंकों के बैंकर का कार्य करता है और देश का मौद्रिक प्राधिकारी भी होता है।

कार्य विधि का आधार. केन्द्रीय बैंक लाभ के आधार पर कार्य नहीं करता: इसका प्रमुख उद्देश्य लाभ अर्जित करना नहीं वरन् जनता के हितों की सुरक्षा तथा राष्ट्र का आर्थिक हित सुनिश्चित करना होता है। अपने कार्य की प्रकृति के कारण केन्द्रीय बैंक वास्तव में लाभ भी अर्जित कर सकता है । परन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि उसकी नीति तथा कार्य विधि अन्य व्यापारिक बैंकों की भाँति लाभ की भावना द्वारा नहीं प्रेरित होती । इसका अर्थ यह हुआ कि केन्द्रीय बैंक ऐसी नीति का भी अनुसरण कर सकता है जिससे उसे वास्तव में हानि हो यदि वह नीति राष्ट्र के सर्वोत्तम हित में हो ।

केन्द्रीय बैंकिंग का दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त है कि इसे अपनी नीति का निर्माण निष्पक्ष भाव से करना चाहिए । केन्द्रीय बैंकिंग प्राधिकारी को शुद्ध आर्थिक तथा वैत्तिक विचारधाराओं से प्रेरित होना चाहिए, गुटबन्दी अथवा सरकार की इच्छा द्वारा नहीं । इसका अर्थ यह हुआ कि केन्द्रीय बैंक को शेयर होल्डरों का बैंक नहीं होना चाहिए जिससे संचालकों के अपने हितों तथा कुछ निश्चित वर्ग के हितों से प्रभावित हो कर कार्य करने का भय न रहे। यदि केन्द्रीय बैंक की शेयर पूँजी सरकार की होती है तथा इसके प्रमुख कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति भी सरकार द्वारा होती है, तब स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष कार्य करने की अधिक सम्भावना है। परन्तु साथ ही साथ केन्द्रीय बैंक को एक सरकारी विभाग भी नहीं होना चाहिए क्योंकि ऐसी स्थिति में राजकोष (exchequer), वित्त मंत्रालय अथवा मन्त्रिमण्डल की इच्छा (whim) से भी केन्द्रीय बैंक की स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता को महान क्षति पहुंच सकती है । देश के अन्य संस्थानों की भाँति केन्द्रीय बैंक को भी सरकार के निर्देशों तथा उसके द्वारा प्रतिपादित वैत्तिक नीतियों के अनुकूल ही कार्य करना होता है ।

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि सरकार की सामान्य नीति का अनुसरण करते समय केन्द्रीय बैंक की नित्य प्रति की क्रियाओं में सरकारी हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। अतः केन्द्रीय बैंक को एक स्वायत्त संस्था होनी चाहिए जिससे यह स्वतन्त्र रूप से निर्णय कर सके तथा समय समय पर ऐसे भी कार्य कर सके जो सरकार को रुचिकर न प्रतीत हों । इसे सरकारी नीति की आलोचना करने में भी समर्थ होना चाहिए तथा सरकार को महत्वपूर्ण विषयों पर अपनी स्वतन्त्र राय भी देनी चाहिए। प्रायः सभी देशों तथा भारत के भी केन्द्रीय बैंक को उनके स्वायत्त होने पर भी जो कठिनाइयाँ उठानी होती हैं वे ये हैं कि केन्द्रीय बैंक बहुधा स्वतन्त्र रूप से कार्य करने में समर्थ नहीं होते क्योंकि राजकोष तथा वित्त मन्त्रालय इनके नित्य प्रति के कार्यों में अत्यधिक हस्तक्षेप करते रहते हैं तथा केन्द्रीय बैंकिंग प्राधिकारी जो

एक विशेषज्ञ है तथा जो अपने कार्यों को भली भाँति समझता है उसके विचारों के ऊपर अपने ही विचारों को प्रधानता देना चाहते हैं।

केन्द्रीय बैंक के कार्य

चलन नियन्त्रण. अतीत काल में नोट निर्गमित करने का अधिकार न केवल केन्द्रीय बैंक को था वरन् व्यापारिक बैंकों को भी था परन्तु आधुनिक युग में नोट निर्गमित करने का अधिकार केवल केन्द्रीय बैंक को है। ऐसा इसलिए है क्योंकि परिचलित मुद्रा की मात्रा मूल्य स्तर को तथा इस के द्वारा राष्ट्रीय प्रदा, आय एवं वृत्ति के स्तर को निर्धारित करती हैं।

केन्द्रीय बैंक को यह सुनिश्चित करना होता है कि (१) लोगों का चलन में पूर्ण विश्वास बना रहे; (२) चलन की पूर्ति लोचपूर्ण हो जिस से व्यवसाय तथा अन्य प्रकार के लेन-देन करने के लिए यदि अधिक चलन की आवश्यकता हो तो इस की मात्रा में सरलतापूर्वक वृद्धि की जा सके और यदि देश में अत्यधिक चलन की मात्रा हो गई हो तो इस की मात्रा में सरलतापूर्वक कमी भी की जा सके; तथा (३) मुद्रा की पूर्ति देश की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये पर्याप्त हो तथा उसका मूल्य अधिक से अधिक स्थिर रहे। ऐसा मूल्य स्तर में हुए अत्याधिक परिवर्तनों को रोक कर किया जा सकता है जिससे स्फीति तथा अवस्फीति दोनों को रोका जा सके।

यदि देश स्वर्ण मान पर है तब केन्द्रीय बैंक का कार्य यह सुनिश्चित करना होता है कि देश में स्वर्ण प्रहार के फलस्वरूप चलन की मात्रा में वृद्धि हो जाये तथा देश से स्वर्ण बाहर जाने के परिणामस्वरूप चलन की मात्रा में कमी हो जाये। यदि राष्ट्रीय हित के लिये केन्द्रीय बैंक यह निर्णय करता है कि उसे स्वर्ण मान के नियमों का पालन नहीं करना है तब उस के लिए स्वर्ण की मात्रा में हुए परिवर्तनों के अनुसार चलन की मात्रा में परिवर्तन करते रहना आवश्यक नहीं है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक उस समय स्वर्ण भी प्रदान कर सकता है जब स्वर्ण का प्रवाह देश से बाहर हो रहा हो और चलन की मात्रा में कमी न होने दे, यदि चलन में कमी हो जाने के परिणामस्वरूप अवस्फीतिक दशायें उत्पन्न हो सकती हैं जो राष्ट्र के सर्वोत्तम हित में न हों।

व्यवस्थित चलन के अन्तर्गत चलन व्यवस्था सम्बन्धित प्रमुख समस्या उस समय उत्पन्न होती है जब केन्द्रीय बैंक को न केवल प्रचलित प्रवृत्तियों में केवल संशोधन ही करना होता है—जैसा स्वर्ण मान के अन्तर्गत होता है—वरन् उसे स्वर्ण तथा अन्य मौद्रिक मानों से स्वतन्त्र अपनी नीति का निर्णय करना होता है।

केन्द्रीय बैंक जो चलन के प्रसार तथा संकुचन सम्बन्धित सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं उसका सार यह है कि परिचलित चलार्थ की मात्रा उद्योग तथा वाणिज्य की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये पर्याप्त हो तथा मुद्रा के मूल्य में न तो कृत्रिम वृद्धि या सामान्य मूल्य स्तर में कमी हो, और न देश में अत्यधिक चलन की मात्रा परिचलित हो और उसके मूल्य में कृत्रिम कमी तथा सामान्य मूल्य स्तर में वृद्धि (स्फीति) न हो। चलन का नियन्त्रण करते समय केन्द्रीय बैंक मूल्य स्थिरता स्थापित करने का प्रयास करता है—उतनी मूल्य स्थिरता जितनी देश के आर्थिक विकास के लिये अनुकूल हो।

साख नियन्त्रण. नियन्त्रण के चार प्रमुख प्रकार हैं जिनका प्रयोग केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों पर कर सकता है। सभी विधियों का प्रयोग बैंकिंग प्रणाली में किया जाना आवश्यक नहीं है परन्तु केन्द्रीय बैंक नियन्त्रण की अधिकांश प्रभावशाली प्रणालियों में कम से कम कुछ तो समानता है ही। (१) एक प्रकार का नियन्त्रण तो वह है जो केन्द्रीय बैंक को प्रवर्तमान ऋणपत्रों के क्रय तथा विक्रय सम्बन्धित प्राप्त अधिकारों द्वारा उत्पन्न होता है। (२) केन्द्रीय बैंक को यह अधिकार प्राप्त है कि वह उस समय कुछ शर्तें भी लगा सकता है जब वह अन्य बैंकों की सहायता कर रहा हो। (३) बहुधा केन्द्रीय बैंकों को यह भी अधिकार प्राप्त रहता है कि वे अन्य व्यापारिक बैंकों पर निधि सम्बन्धित शर्तें पूरी करने के लिये बाध्य कर सकें। केन्द्रीय बैंक को ऐसे अनेक अधिकार प्राप्त रहते हैं (जिनमें अनेक देशों में पिछले दो दशकों में काफी वृद्धि हो गई है) जिनसे वह व्यापारिक बैंकों को ऐसे विशेष आदेश प्रदान कर सकता है कि उन्हें कितने और किस प्रकार के व्यापार करने हैं।

केन्द्रीय बैंक के पास बैंक साख पर विनियमन तथा नियन्त्रण करने के लिये चार शस्त्र—बैंक-दर नीति, खुले बाजार की क्रियायें (open market operations), गुणात्मक साख नियन्त्रण तथा मैत्रीपूर्ण सलाह— होते हैं। केन्द्रीय बैंक के इस अधिकार का स्रोत यह है कि सभी व्यापारिक बैंक अपनी नक़द निधि का एक अंश जिसे बैंक निक्षेप कहते हैं केन्द्रीय बैंक के पास रखते हैं। देश के अधिनियम के द्वारा प्रत्येक व्यापारिक बैंक अपने सावधि तथा मांग देनदारियों का एक निश्चित अंश केन्द्रीय बैंक के पास जमा के रूप में रखने के लिये बाध्य रहते हैं। कुछ देशों में तो इस अनुपात में परिवर्तन करने का भी अधिकार केन्द्रीय बैंक को प्राप्त रहता है। और अंत में, व्यापारिक बैंकों को तो अपने संसाधनों में वृद्धि तथा विपत्तियों के समय सहायता के लिये केन्द्रीय बैंक पर आधारित होना ही पड़ता है।

साख नियन्त्रण के साधन

(१) **बैंक-दर नीति.** बैंक दर उस दर को कहते हैं जिस पर केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों अथवा बट्टा घरों (discount houses) के पास रखी गई अनुमोदित प्रतिभूतियों को भुनाने के लिये तैयार रहता है। यदि केन्द्रीय बैंक बैंक साख में प्रसार करना चाहता है तब वह बैंक दर को घटा देता है। इससे व्यापारिक बैंकों तथा बट्टाघरों को अनुमोदित प्रतिभूतियों की जमानत पर केन्द्रीय बैंक से ऋण सस्ते में ही प्राप्त हो जाता है। यह केन्द्रीय बैंक का प्रतिभूतियों को भुनाने का कार्य है। इससे व्यापारिक बैंक अपने प्रतिनियोक्ताओं को सस्तेमें ही साख प्रदान करने में समर्थ हो जाते हैं। दूसरे, उन स्थितियों में जिनमें बैंक दर तथा मुद्रा बाजार की अन्य दरों में एक निश्चित सम्बन्ध रहता है—जिसे अन्तर्वर्ती सम्बन्ध कहते हैं—वहाँ बैंक दर में हुए परिवर्तनों का प्रभाव अन्य प्रकार की ब्याज दरों पर भी प्रतिबिम्बित होता है, तथा केन्द्रीय बैंक की बैंक दर नीति अधिक प्रभावपूर्ण होती है। यदि केन्द्रीय बैंक साख में प्रसार करना चाहता है तब वह बैंक दर घटा देता है और परिणामतः अन्य ब्याज दरें भी कम हो जाती हैं जिससे साख सस्ती हो जाती है। इससे व्यापारी तथा अन्य लोग बैंक से अधिक रुपया लेने के लिये प्रेरित होते हैं। यदि केन्द्रीय बैंक साख में संकुचन करना चाहता है तो वह बैंक दर में वृद्धि कर देता है। इससे अन्य ब्याज दरें भी बढ़ जाती हैं और लोग बैंक से अधिक रुपया उधार लेने में हिचकते हैं।

परिसीमायें. परन्तु साख नियन्त्रण करने में बैंक दर नीति की कुछ गम्भीर सीमायें भी होतीं हैं :

(१) बैंक दर के परिवर्तन न केवल मुद्रा बाजार की दरों में परिवर्तन उत्पन्न कर देश के भीतर बैंक साख की मांग और पूर्ति को प्रभावित करते हैं, वरन् कुछ विशेष परिस्थितियों में तो पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह को भी व्यापक रूप से प्रभावित करते हैं। यदि पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह पर कोई प्रतिबन्ध न लगाया जाये और किसी देश का, जो विनियोग के लिए सुरक्षित है, केन्द्रीय बैंक बैंक दर में वृद्धि कर देता है तब उस देश में विदेशी पूँजी का आगमन अधिक मात्रा में होने लगेगा। इसका परिणाम यह होगा कि विदेशी विनिमय बाजार में अन्य देशों की मुद्राओं की पूर्ति उस देश की मुद्रा की पूर्ति की अपेक्षा अधिक होगी जिसमें विदेशी पूँजी का गमन हो रहा है। इससे इस देश की चलन के विदेशी विनिमय मूल्य में वृद्धि हो जायेगी तथा अस्थायी रूप से यह चलन अधिमूल्यित

(over-valued) हो जायेगी। इससे इस देश के निर्यात में कमी हो जायेगी और यह इस देश के राष्ट्रीय हित के प्रतिकूल होगा । चूँकि बैंक दर में हुए परिवर्तन पूँजी के अन्तर्प्रवाह तथा वाह्य प्रवाह को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं और इनका विनिमय दर पर बहुत गम्भीर प्रभाव पड़ता है, इसलिये बैंक दर में परिवर्तन बिना सोचे विचारे नहीं किये जाते।

(२) बैंक दर के परिवर्तन सरकारी प्रतिभूतियों की कीमतों को भी प्रभावित करते हैं। बैंक दर में वृद्धि हो जाने से सरकारी प्रतिभूतियों की कीमतें घट जायेंगी। इससे न केवल सरकार की साख पर वरन् व्यापारिक तथा अन्य बैंकों की परिसंपत्ति की कीमतों पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है क्योंकि आधुनिक युग में ये बैंक सरकारी प्रतिभूतियों को अपने सम्भाग (portfolio) में रखते हैं। इस लिये केन्द्रीय बैंक आसानी से बैंक दर में परिवर्तन नहीं कर देते वरन् उन्हें काफी सोच विचार कर कि उनकी नीति का प्रभाव बैंकों की परिसम्पत्ति पर क्या पड़ेगा, ऐसा करना चाहिए ।

(३) बैंक दर की **प्रभावपूर्णता** देश के मुद्रा बाजार की विकास की स्थिति पर तथा विभिन्न मुद्रा बाजार की दरों में अनुरूप परिवर्तन की सरलता पर आधारित है। भारत जैसे देश में जहाँ मुद्रा बाजार अभी भी अविकसित है, तथा मुद्रा बाजार की दर बैंक दर पर आश्रित नहीं है, और जहाँ पर एक ऐसा विशाल अमुद्रीकृत क्षेत्र है जिस पर केन्द्रीय बैंकिंग प्राधिकारी का कोई नियन्त्रण नहीं है, बैंक दर साख नियन्त्रण करने में बहुत कम सफल हो पाती है। ऐसा इसलिये है कि साहूकार तथा अन्य लोग जो अमुद्रीकृत क्षेत्र (non-monetised sector) का अर्थ-प्रबन्धन करते हैं, वे लोग बैंक दर द्वारा अधिक प्रभावित नहीं होते क्योंकि उन्हें केन्द्रीय बैंक से पुनः पूर्वप्रापण की सुविधायें नहीं लेनी रहतीं। इसलिये बैंक साख कम करने के लिये यदि केन्द्रीय बैंक बैंक-दर में वृद्धि करता है तो साहूकार तथा अमुद्रीकृत क्षेत्र के अन्य संस्थानों द्वारा किये गए साख की पूर्ति पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ सकता। इसी प्रकार केन्द्रीय बैंक द्वारा बैंक-दर में कमी किये जाने पर भी अर्थ व्यवस्था के अमुद्रीकृत क्षेत्र में साख की पूर्ति पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता।

(२) **खुले बाजार की क्रियायें.** साख नियन्त्रण की दूसरी विधि है केन्द्रीय बैंक द्वारा की गई खुले बाजार की क्रियायें (open market operations)। इसका अर्थ है परिचलित मुद्रा की मात्रा को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियों का क्रय तथा विक्रय किया जाना । यदि केन्द्रीय बैंक परिचलित मुद्रा की मात्रा में कमी करना चाहता है तब वह प्रतिभूतियों का विक्रय जनता को करता है जिसके बदले में उसे या तो नक़द (ऐसी स्थिति

में जनता के पास मुद्रा की पूर्ति में इस स्तर तक स्वतः कमी हो जाती है) अथवा व्यापारिक बैंकों को दिये गए चैक से भुगतान प्राप्त होता है—इस स्थिति में केन्द्रीय बैंक के पास व्यापारिक बैंकों द्वारा रखे गए नक़द की मात्रा में इस सीमा तक कमी हो जाती है और इसी सीमा तक उनके साख सृजन की शक्ति में भी कमी हो जाती है । यदि व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक के पास उससे अधिक नक़द जमा रखते हैं जितना कि विधानतः उन्हें रखना चाहिए, जैसा कि अधिकाँश भारत में होता है, तब केन्द्रीय बैंकिंग प्राधिकारी को वांछित प्रभाव उत्पन्न करने के लिए अधिक मात्रा में खुले बाजार की क्रियायें करनी होती हैं।

इसके विपरीत, यदि मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि करनी है तब केन्द्रीय बैंक अनुमोदित प्रतिभूतियों को बाजार से खरीदता है और या तो प्रतिभूतियों के विक्रय करने वाले व्यक्तियों को नक़द भुगतान करता है (इस स्थिति में जनता के पास मुद्रा की पूर्ति बढ़ जाती है) अथवा अपने ही नाम पर उन्हें चैक देता है जिसे लोग अपने बैंक लेखा में जमा कर देते हैं (इस स्थिति में व्यापारिक बैंकों के पास नक़द में वृद्धि हो जायेगी जिससे वे और भी अधिक मात्रा में बैंक साख का सृजन करने में समर्थ हो सकते हैं) ।

मान लीजिए केन्द्रीय बैंक अपने द्वारा खरीदी गई प्रतिभूतियों के भुगतान के लिये कुल १० लाख रुपये के चैक देता है और जो व्यक्ति इन चैकों को प्राप्त करते हैं वे उन्हें बैंक में जमा कर देते हैं। परिणामतः व्यापारिक बैंकों की कुल देन-दारियों में १० लाख रुपये की वृद्धि हो जाती है और साथ साथ उनके पास १० लाख तक का नक़द भी हो जाता है जो वे केन्द्रीय बैंक से उसके द्वारा निर्गमित चैकों के लिये नक़द निक्षेपों के रूप में प्राप्त करते हैं । जैसा कि पिछले अध्याय में समझाया जा चुका है, व्यापारिक बैंक १० लाख रुपये के इस अतिरिक्त नक़द से १०० लाख रुपये तक अपनी कुल देनदारियाँ बढ़ाने में समर्थ हो सकते हैं यदि वे अपनी कुल देनदारियों का दस प्रतिशत नक़द के रूप में रखें और लोग इन बैंकों से ऋण लेने के लिये तैयार हों। चूँकि लोगों के निक्षेपों के द्वारा व्यापारिक बैंकों की देनदारियों में १० लाख रुपये की वृद्धि हो गई है अतः वे अपनी कुल देनदारियों को १०० लाख रुपये बढ़ाने के लिए ९० लाख रुपये तक के बैंक निक्षेपों का सृजन कर सकते हैं और इस सीमा तक खुले बाजार की क्रियाओं के फलस्वरूप मुद्रा की कुल पूर्ति में वृद्धि हो जाती है । इसके विपरीत, केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रतिभूतियों के बेचे जाने से व्यापारिक बैंक बैंक-साख की कुल मात्रा में कमी करने के लिए बाध्य हो जायेंगे जिससे मुद्रा की पूर्ति घट जायेगी । यह इस बात को भली भाँति प्रदर्शित करता है कि केन्द्रीय बैंक द्वारा की गई खुले बाजार की क्रियाओं से

किस प्रकार की परिचलित मुद्रा की कुल मात्रा में कमी तथा वृद्धि होती रहती है ।

बैंक दर नीति से तुलना. कुछ विशेष परिस्थितियों में खुले बाजार की क्रियायें बैंक दर नीति से अधिक प्रभावपूर्ण होती हैं :

(१) खुले बाजार की क्रियायें प्रत्यक्ष रूप से मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि अथवा कमी उत्पन्न करती हैं जब कि बैंक दर नीति बाजार की अन्य ब्याज दरों में परिवर्तन उत्पन्न करके अप्रत्यक्ष रूप में ऐसा करती है । इस प्रकार खुले बाजार की क्रियायें बैंक दर में परिवर्तनों की अपेक्षा अधिक शीघ्र तथा निश्चित प्रभाव उत्पन्न करती हैं ।

(२) बैंक दर में हुए परिवर्तन व्यापारिक बैंकों को केन्द्रीय बैंक का अनुसरण करने के लिये प्रेरित नहीं भी कर सकते परन्तु खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा उत्पन्न हुए नक़द अनुपात के परिवर्तनों की अवहेलना व्यापारिक बैंक कर ही नहीं सकते ।

(३) खुले बाजार की क्रियायें बैंक दर के परिवर्तनों की अपेक्षा कम हानि-कारक होती हैं । ये (खुले बाजार की क्रियायें) उन जटिलताओं को उत्पन्न होने नहीं देतीं जो पूँजी के अन्तर्राष्ट्रीय प्रवाह से उत्पन्न होती हैं और जो बैंक दर के परिवर्तनों के कारण सम्भव होती हैं ।

परिसीमायें. परन्तु खुले बाजार की क्रियाओं की कुछ गम्भीर सीमायें होती हैं:

(१) इन दिनों केन्द्रीय बैंक तथा व्यापारिक बैंक—विशेषतया भारत जैसे आर्थिक दृष्टि से अर्धविकसित देश में—अपने संविभागों में सरकारी प्रतिभूतियों को रखते हैं जिन्हें केन्द्रीय बैंकिंग प्राधिकारी स्वतन्त्रतापूर्वक इस भय के कारण नहीं बेच सकता कि इससे इनकी कीमतें घट जायेंगी तथा लोगों का विश्वास सर-कार के ऋण लेने वाले कार्यक्रम में कम हो जायेगा । परन्तु वास्तव में यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना दृष्टिगोचर होता है क्योंकि यदि केन्द्रीय बैंक सतर्कता से स्थिति पर नियन्त्रण रखे तब खुले बाजार की क्रियाओं के फलस्वरूप सरकारी प्रतिभूतियों की कीमतों में हुए अत्यधिक परिवर्तनों को रोका भी जा सकता है ।

(२) केन्द्रीय बैंक केवल कुछ अनुमोदित प्रतिभूतियों का ही क्रय तथा विक्रय कर सकता है । खुले बाजार की क्रियाओं पर केन्द्रीय बैंक द्वारा लगाये गए परिसीमन की समस्या इसलिये उत्पन्न होती है क्योंकि इसके पहिले कि वह बाजार में खुली क्रियायें करे उसके पास क्रियाओं के करने के लिए कुछ होना चाहिए और साथ साथ बाजार भी होना चाहिए जहाँ पर क्रियायें की जा सकें । बहुधा केन्द्रीय बैंक के पास ऐसी पर्याप्त प्रतिभूतियाँ होती है जिन्हें खरीदने के लिये लोग तैयार रहते हैं क्योंकि इनमें विनियोग अधिक लाभपूर्ण होता है तथा ये उचित

कीमतों पर उपलब्ध भी रहती हैं। परन्तु यह सदा आवश्यक नहीं है कि केन्द्रीय बैंक द्वारा बेची जाने वाली प्रतिभूतियों को खरीदने के लिए लोग तैयार हों ही। यदि ऐसा होता है तब इस सीमा तक केन्द्रीय बैंक की मुद्रा पूर्ति नियन्त्रित करने की क्षमता कम हो जायेगी। यह भी सम्भव है कि व्यक्ति तथा बैंकों द्वारा बेची जाने वाली प्रतिभूतियों को खरीदने के लिए केन्द्रीय बैंक प्रस्तुत न हो क्योंकि वे अनुमोदित प्रतिभूतियों की श्रेणी में न आ रही हों। इससे केन्द्रीय बैंक की मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि करने की शक्ति कम हो जाती है। फिर भी, ये तो केवल सैद्धान्तिक बातें हैं और वास्तविक व्यवहार में ऐसा बहुत कम होता है।

(३) खुले बाजार की क्रियायें बहुधा बैंक दर नीति के परिवर्तनों की सहायता के लिए की जाती हैं तथा केन्द्रीय बैंकिंग प्राधिकारी खुले बाजार की क्रियाओं को करेगा भी नहीं यदि ये उसकी बैंक दर नीति के प्रतिकूल सिद्ध होती हैं। "केन्द्रीय बैंक या तो ब्याज की दर निश्चित कर सकता है अथवा व्यापारिक बैंकों की 'नक़द निधि' की मात्रा का निर्धारण कर सकता है; परन्तु यह मनमानी ढंग से दोनों निश्चित नहीं कर सकता। यदि वह ब्याज दर निश्चित करना चाहता है तब उसे इस परिणाम को भी स्वीकार करना होगा कि इन दरों को निश्चित करने में जो उसे क्रय अथवा विक्रय करने पड़ते हैं वे व्यापारिक बैंकों के नक़द निधि को प्रभावित करेंगें जिससे बैंक द्वारा ऋण दी जाने वाली मात्रा भी प्रभावित होगी। उदाहरणार्थ, यदि केन्द्रीय बैंक ब्याज की दर कम निश्चित करना चाहता है तब सम्भवतः उसे प्रतिभूतियों को अधिक मात्रा में खरीद कर उनकी ऊँची कीमत उसी अनुपात में रखनी होगी। इन क्रयों से व्यापारिक बैंकों की नक़द निधि में प्रसार होगा जिससे देश की मौद्रिक पूर्ति में भी प्रसार होने की प्रवृति होगी। इसके विपरीत, केन्द्रीय बैंक यह निर्णय कर सकता है कि कितनी सीमा तक वह बैंक ऋणों को अनुमति दे सकता है। परन्तु ऐसा करने में उसे प्रतिभूतियों पर उस ब्याज दर को स्वीकार करना पड़ता है जो वांछित मुद्रा के परिमाण के फलस्वरूप निश्चित हो जाये।

(३) नक़द अनुपात में परिवर्तन. केन्द्रीय बैंक को व्यापारिक बैंकों द्वारा रखे जाने वाले न्यूनतम नक़द अनुपात को निश्चित करने का अधिकार प्राप्त है। इससे वह बैंक साख पर नियन्त्रण करने में समर्थ होता है परन्तु इस विधि की दोहरी कमियाँ हैं : (१) "यह नियम कि नक़द को एक निश्चित अनुपात से कम किसी भी स्थिति में नहीं होना चाहिए, नक़द निधि को अपने कार्यों से—भीषण कठिनाइयों के समय उपधान (cushion) का कार्य करना—वंचित कर देता है।" इसका अर्थ यह

है कि यदि व्यापारिक बैंकों को अपनी देनदारियों का एक निश्चित न्यूनतम अनुपात नकद निधि के रूप में केन्द्रीय बैंक के पास आवश्यक रूप से रखना होता है तो वे संक्रमण काल में भी नकद शेष को इस सीमा से घटा कर कम नहीं कर सकते। इस कठिनाई को दूर करने का उपाय यह नहीं है कि नकद शेष को एक निश्चित न्यूनतम अनुपात से कभी भी कम न होने दिया जाय, वरन् ऐसा होने पर उन पर जुर्माना लगा देना चाहिए। ऐसी नीति नकद अनुपात को अधिक परिदृढ़ तथा अलोचपूर्ण बनाये बिना सुस्थिर बैंकिंग नीति की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। (२) कुछ व्यापारिक बैंक केन्द्रीय बैंक के पास अधिनियम से स्वीकृत नकद निधि की मात्रा से अधिक भी रख सकते हैं। ऐसी स्थिति में केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की क्रियाओं को एक प्रकार की कठिनाई का सामना करना पड़ता है क्योंकि मुद्रा की पूर्ति में कमी करने के लिए अब केन्द्रीय बैंक को उससे कहीं अधिक प्रतिभूतियों का विक्रय करना पड़ेगा जितना उसे व्यापारिक बैंकों की नक़द निधि को सफलता-पूर्वक घटाने के लिए करना होता। इसके विपरीत, यदि केन्द्रीय बैंक मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि करने के उद्देश्य से प्रतिभूतियों को खरीदना प्रारम्भ करता है तब व्यापारिक बैंक अपने अतिरिक्त नक़द को सुरक्षित रख कर बैंक साख में वृद्धि नहीं कर सकते हैं। ऐसा होने से रोकने के लिये अधिकाँश देशों के अधिनियमों के अनुसार केन्द्रीय बैंकिग प्राधिकारी को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वे एकाएक नक़द अनुपात को परिवर्तित कर सकते हैं जिससे खुले बाजार की क्रियायें एक न्यायोचित सीमा के भीतर ही की जा सकें तथा अधिक प्रभावपूर्ण हों।

भारत में १९३४ के रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ऐकट के अनुसार अनुसूचित बैंकों को अपनी मांग देयता (demand liabilities) का ५ प्रतिशत तथा सावधि देयता (time liabilities) का २ प्रतिशत नक़द निक्षेप के रूप में रिजर्व बैंक के पास रखना पड़ता था। १९४९ के बैंकिंग कम्पनी ऐक्ट ने गैर-अनुसूचित बैंकों के लिये भी यह आवश्यक कर दिया कि वे अपने पास माँग तथा सावधि देयता का वही अनुपात नक़द निक्षेप के रूप में रखें जो अनुसूचित बैंक रिजर्व बैंक के पास रखते हैं। कालान्तर में रिजर्व बैंक ऐक्ट में संशोधन हुआ जिसमें रिजर्व बैंक को यह अधिकार प्रदान किया गया कि वह मांग देयता का २० प्रतिशत तथा सावधि देयता का ८ प्रतिशत अपने पास रखवा सकता है तथा यदि रिजर्व बैंक चाहे तो कुछ विशेष परिस्थितियों में वह बैंकों के निक्षेपों का निशचालन (freeze) भी कर सकता है। विश्व के अन्य देशों के सदृश भारत में नक़द अनुपात साख नियन्त्रण करने की एक स्वतन्त्र विधि नहीं है वरन् इसका प्रयोग केन्द्रीय बैंक की खुले बाजार की क्रियाओं तथा अन्य नीतियों को अधिक प्रभावपूर्ण बनाने के लिये किया जाता है।

(४) **गुणात्मक नियन्त्रण.** साख नियन्त्रण की उपरोक्त तीन विधियाँ परिमाणात्मक (quantitative) नियन्त्रण के अन्तर्गत आती हैं क्योंकि इनका प्रमुख उद्देश्य मुद्रा की कुल पूर्ति में या तो प्रसार अथवा संकुचन करना होता है। इसके विपरीत गुणात्मक नियन्त्रणों (qualitative controls) का उद्देश्य व्यापारिक बैंकों द्वारा स्वीकृत ऋणों से संलग्न शर्तों का नियन्त्रण करना होता है जिससे अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में तो साख का संकुचन हो और अन्य क्षेत्रो मे वृद्धि।

केन्द्रीय बैंकिग प्राधिकारी गुणात्मक नियन्त्रण निम्न प्रकार से लगाते हैं:—(१) कुछ विशेष प्रकार की सहायक (collateral) जैसे विदेशी प्रतिभूतियाँ, कुछ वस्तुये जैसे गेहूँ, चावल तथा कपास अथवा निर्मित पदार्थों की जमानत पर ऋण नियन्त्रण करके अथवा ऋण बिल्कुल बन्द करके। इन सभी प्रकार के नियंत्रणो का उद्देश्य बैंक साख की सहायता से इन वस्तुओं के संचय को रोकना होता है। (२) ऋण प्रदान करने की सीमाओं (margins) या मात्रा पर नियन्त्रण लगाकर। मान लीजिए कोई व्यक्ति व्यापारिक बैंक से प्रवर्तमान मूल्य पर १,००० रुपये के बराबर स्वर्ण की जमानत पर ऋण लेना चाहता है। बैंक उसे १,००० रुपये ऋण नहीं देगा वरन्, मान लीजिए, बैंक के पास रखे जाने वाले स्वर्ण के मूल्य के केवल ७५ प्रतिशत के बराबर ही ऋण देगा। इस स्थिति मे 'सीमा' (margin), अर्थात ऋण देते समय सहायक जमानत के रूप में रखे जाने वाले स्वर्ण का मूल्य तथा ऋण की वास्तविक मात्रा का अन्तर, २५ प्रतिशत होगा। केन्द्रीय बैंकिंग प्राधिकारी यदि बैंक साख को घटाना चाहता है तब वह अधिक 'सीमा' निर्धारित कर सकता है और यदि बैंक साख में वृद्धि करना चाहता है तब वह 'सीमा' में कमी कर सकता है। (३) 'आंशिक नकद भुगतान' (down payment)—अर्थात प्रारम्भिक भुगतान जो किसी व्यक्ति को बैंक को करना पड़ता है जब बैंक स्थायी उपभोग पदार्थों को किश्त पर खरीदने का अर्थप्रबन्धन करता है—उसके स्वरूप, विभिन्न किश्तों की मात्रा तथा ऋण से सम्बद्ध अन्य दशाओं पर नियन्त्रण करके।

भारत में रिजर्व बैंक की वरणात्मक साख नियन्त्रण (selective credit control) की नीति गुणात्मक नियन्त्रण श्रेणी के अन्तर्गत आती है। स्फीतिक दशाओं को रोकने के ध्येय से रिजर्व बैंक १९५६ के संशोधित बैंकिंग कम्पनी ऐक्ट के अनुसार अनुसूचित बैंकों को यह निर्देश भेज सकता है कि वे कुछ विशेष पदार्थों के बदले में नवीन साख का सृजन न करें, या 'सीमा' में वृद्धि करें या कुछ वस्तुओं के बदले में साख का सृजन बिल्कुल ही न करें। इस प्रकार का प्रथम निर्देश सभी अनुसूचित बैंकों को मई १९५६ में भेजा गया कि वे चावल तथा धान के बदले

में किसी एक पार्टी को ५०,००० रुपये से अधिक नवीन साख न प्रदान करें। कालान्तर में ऐसे कई निर्देश भेजे गये, स्थगित भी किए गए तथा खाद्यान्नों, चीनी और रूई के लिए पुनः जारी भी किए गए।

गुणात्मक नियन्त्रण का औचित्य यह है कि अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में तो साख की पूर्ति अत्यधिक हो जिससे वहाँ स्फीतिक दशायें उत्पन्न हो गई हों तथा साथ ही साथ कुछ क्षेत्रों में साख की न्यूनता के कारण अवस्फीतिक दशायें उत्पन्न हो गई हों। अतः इस प्रकार की नीति का आधार यह है कि अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में साख की मांग तथा पूर्ति में सन्तुलन रखा जा सके। भारत में रिजर्व बैंक की वरणात्मक साख नियन्त्रण की नीति इस परिकल्पना पर आधारित है कि कृषि क्षेत्र में तो स्फीतिक दशायें हैं क्योंकि ऋण लेने वाले लोग बैंक साख का प्रयोग कृषि पदार्थों के संचय करने के लिये करते हैं जब कि उद्योगों को औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि करने के लिये साख की न्यूनता का अनुभव होता है। रिजर्व बैंक की नीति का उद्देश्य पूर्वकल्पी (speculative) कार्यों, खाद्यानों तथा कृषि सम्बन्धी कच्चे पदार्थों के संचय के लिए साख की पूर्ति घटाना तथा औद्योगिक कार्यों के लिए बैंक साख की मात्रा में वृद्धि करना है।

परिसीमायें. बैंक साख पर गुणात्मक नियन्त्रण, जैसे भारत में वरणात्मक साख नियन्त्रण, मुद्रा स्फीति तथा अवस्फीति को रोकने में सदैव सफल सिद्ध नहीं होते क्योंकि ये कुछ परिकल्पनाओं पर आधारित होते हैं जो सदा सत्य नहीं होतीं। सर्वप्रथम तो इस नीति की मौलिक परिकल्पना यह है कि किसी विशेष सहायक जमानत के आधार पर किसी व्यवसायी द्वारा व्यापारिक बैंक से लिए गए ऋण का प्रयोग उसी कार्य के लिये किया जाता है जिसके लिए वह लिया गया है। परन्तु वास्तविक व्यवहार में स्वर्ण, शेयरों तथा खाद्यान्नों की जमानत पर लिये गए ऋण का प्रयोग कच्चे माल को खरीदने, श्रम को भुगतान करने तथा अन्य औद्यौगिक कार्यों के लिये भी किया जाता है। स्फीति की स्थिति में, स्वर्ण, शेयरों अथवा कृषि सम्बन्धी पदार्थों के आधार पर निर्गमित होने वाले बैंक साख पर नियन्त्रण न केवल स्फीति को रोकने में असमर्थ होगा वरन् उस समय तो स्फीतिक शक्तियाँ और भी जटिल हो सकती हैं जब कृषि सम्बन्धी पदार्थों के आधार पर निर्गमित की जाने वाली बैंक साख में की गई कटौती अप्रत्यक्ष रूप में उद्योग के लिए बैंक साख में कमी करे और औद्योगिक उत्पादन में बाधा प्रस्तुत करे, जैसा कि वास्तव में भारत में हुआ है। इसके विपरीत यदि उद्योग के लिए साख की उपलब्धि अधिक सरल तथा पर्याप्त हो तब यह आवश्यक नहीं है कि साहसोद्यमी अधिक मात्रा में मुद्रा उधार लेंगें ही। यदि बाजार की स्थिति अच्छी नहीं है तब निर्मित पदार्थों की

भावी मांग में अधिक वृद्धि होने की सम्भावना नही होगी । इस स्थिति में वरणात्मक साख नियन्त्रण अवस्फीतिक शक्तियों से संघर्ष करने में पर्याप्त नहीं होगा। दूसरे, गुणात्मक विनियमन की नीति यह मान लेती है कि अर्थव्यवस्था ऐसे नियन्त्रणों के लिए सुग्राही (sensitive) है। भारत जैसे आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देश में जहाँ पर विशाल अमुद्रीकृत क्षेत्र (non-monetised sector) है, और जहाँ पर खाद्यान्नों, अन्य कृषि पदार्थों, तथा निर्मित वस्तुओं का संचय स्वयं उत्पादकों द्वारा, या अधिकांश लोगों द्वारा निजी मुद्रा के द्वारा, अथवा देशी बैंकरों तथा साहूकारों से ऋण लेकर, किया जाता है और बैंक साख का अधिक प्रयोग भी नहीं किया जाता, वहाँ पर सुग्राही गुणात्मक नियन्त्रण साख की पूर्ति को अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों की न्यायोचित मांग के साथ सन्तुलित करने में अधिक सफल नहीं सिद्ध होते।

(५) **मैत्रीपूर्ण परामर्श की विधि.** परिमाणात्मक तथा गुणात्मक नियन्त्रण के साथ केन्द्रीय बैंकिग प्राधिकारी कानूनी विधियों का ही सदा प्रयोग नहीं करता। बहुधा वह व्यापारिक बैंकों तथा अन्य वैत्तिक संस्थानों को यह परामर्श दिया करता है कि वे अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में अधिक साख की सीमा बढ़ायें या कम साख प्रदान करें तथा अन्य क्षेत्रों को अधिक साख प्रदान करें अथवा ऋण सम्बन्धित दशाओं को या तो सरल करें या दृढ़। अधिकांश दशाओं में व्यापारिक बैंक तथा अन्य संस्थायें केन्द्रीय बैंक की राय को स्वीकार कर लेते हैं, अतः केन्द्रीय बैंक को निर्देशनों की शरण नहीं लेनी होती। केन्द्रीय बैंक का वैधानिक अधिकार पूर्ववत बना रहता है और कुछ सीमा तक वह व्यापारिक बैंकों तथा अन्य वैत्तिक संस्थानों को केन्द्रीय बैंक की राय मनवाने में भी सहायक सिद्ध होता है। मैत्रीपूर्ण परमार्श अधिक लोचपूर्ण होती है तथा यह वैधानिक निर्देशनों की अपेक्षा अधिक शीघ्र और सुन्दर परिणाम उत्पन्न करती है।

केन्द्रीय बैंकिग नीति की प्रभावशालिता

केन्द्रीय बैंकिग नीति की प्रभावशालिता अनेक जटिल शक्तियों तथा संस्थानिक कारकों पर आधारित है, जो बैंकिग प्राधिकारी या सरकार के भी नियन्त्रण में नहीं हैं। केन्द्रीय बैंकिग प्राधिकारी की क्रियाओं को अधिक प्रभावशील होने के लिये यह आवश्यक है कि (१) उसे सभी व्यापारिक बैंकों अथवा अन्य संस्थानों की सम्मिलित शक्ति से भी अधिक सुदृढ होनी चाहिए जिससे वे उसे परास्त (outwit) करने में समर्थ न हो सकें। भारत में जब रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व इम्पीरियल बैंक प्रमुख बैंकिग प्राधिकारी था, तब कुछ व्यापारिक बैंक

उतने ही शक्तिशाली थे जितना कि इम्पीरियल बैंक था। यह स्थिति केन्द्रीय बैंकिंग नीति के सफ़लतापूर्वक कार्य करने के उपयुक्त नहीं थी। (२) केन्द्रीय बैंकिंग प्राधिकारी की निष्पक्षता तथा आवश्यकता पड़ने पर उपयुक्त कार्रवाई करने की क्षमता पर मुद्रा बाजार का पूर्ण विश्वास होना चाहिये। रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व इस प्रकार के विश्वास का अभाव था, परन्तु अब यद्यपि रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो गया है अत: इसमें जनता के विश्वास में कमी नहीं हुई है। (३) 'अन्तिम ऋणदाता' (lender of last resort) के रूप में सन्तोषजनक कार्य करने के लिये केन्द्रीय बैंकिंग प्राधिकारी को प्रत्येक संस्थानों की स्थिति के बारे में सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त होनी चाहिए तथा उसके पास पर्याप्त तथ्य एवं सूचनाएँ भी उपलब्ध होनी चाहिए जिससे वह अनुकूल समय पर प्रभावपूर्ण कार्रवाई कर सके। यदि केन्द्रीय बैंक उस समय आवश्यक जानकारी प्राप्त करना शुरू कर देता है जब कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं तब इससे कोई लाभपूर्ण परिणाम नहीं निकल सकता। भारत में जब रिजर्व बैंक को व्यापारिक बैंकों तथा अन्य वैत्तिक संस्थानों के निरीक्षण, विनियमन तथा नियन्त्रण सम्बन्धित पर्याप्त अधिकार प्राप्त नहीं थे तब बहुत से बैंक फेल हुए और रिजर्व बैक का मुद्रा बाजार पर अधिकार भी नहीं था। परन्तु द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में १९५६ के संशोधित रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ऐक्ट में रिजर्व बैंक को बहुत अधिकार प्रदान किये गए हैं जिससे उपरोक्त कमी दूर की जा सकी।

संस्थानिक कारणों में, केन्द्रीय बैंकिंग नीति की प्रभावशालिता के सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि मुद्रा बाजार को पूर्ण विकसित होना चाहिए तथा अमुद्रीकृत क्षेत्र या तो होना ही नहीं चाहिए और यदि हो भी तो बहुत ही अल्प। आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों में केन्द्रीय बैंकिंग नीति की प्रभावशालिता बहुत कम हो जाती है क्योंकि यहाँ एक विशाल अमुद्रीकृत क्षेत्र रहता है तथा मुद्रा बाजार की संस्थाओं का यथोचित विकास नहीं हुआ रहता और संगठित बाजार के साथ साथ एक असंगठित मुद्रा बाजार भी होता है जिस पर केन्द्रीय बैंकिंग प्राधिकारी का कुछ भी नियन्त्रण नहीं होता। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंकिंग की प्रभावशालिता के लिये यह आवश्यक है कि मुद्रा बाजार की विभिन्न दरों में एक अन्तर्भूत सम्बन्ध (organic connection) होना चाहिए। इस प्रकार के अन्तर्भूत सम्बन्ध का भारत में अभाव है, जिसके परिणामस्वरूप केन्द्रीय बैंकिंग नीति भारत में उतनी सफल नहीं है जितनी कि अन्य देशों में। अन्त में, केन्द्रीय बैंकिंग प्राधिकारी को सरकारी हस्तक्षेप से मुक्त रहना चाहिए क्योंकि वित्त मंत्रालय चाहे कितना ही निपुण क्यों न हो वह प्रवृत्तियों की सही जानकारी प्राप्त करने

तथा उपयुक्त समय पर उचित नीति के अनुसरण करने का निर्णय इस प्रकार से करने में असमर्थ रहता है जिससे आर्थिक विकास चलन की स्थिरता का परित्याग किए बिना ही तीव्र गति से हो सके। यह कार्य केन्द्रीय बैंकिंग प्राधिकारी के विवेक पर ही छोड़ देना चाहिए। परन्तु अधिकांश देशों में केन्द्रीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण हो जाने से केन्द्रीय बैंकिंग प्राधिकारी की स्वतन्त्रता तथा केन्द्रीय बैंक की नीति की प्रभावशालिता के लिए एक भीषण खतरा उत्पन्न हो गया है। अतः वास्तव में सफल होने के लिये केन्द्रीय बैंक को अधिकोषण तथा मौद्रिक एवं वैत्तिक समस्याओं पर निर्णय लेने में स्वतन्त्र होना चाहिए वरन् उसे सरकार की मौद्रिक, वैत्तिक तथा कर सम्बन्धी नीतियों को भली भाँति प्रभावित करने में भी समर्थ होना चाहिए क्योंकि केन्द्रीय बैंकिंग की कोई भी प्रणाली प्रभावपूर्ण नहीं हो सकती यदि वह सरकार द्वारा अपनाई गई गलत नीतियों द्वारा सृजित प्रतिकूल दशाओं में कार्यान्वित की जा रही हो।

अध्याय १०

विनिमय मूल्य

(Exchange Value)

प्रत्येक देश की अपनी मुद्रा होती है तथा आयात का भुगतान बहुधा निर्यात करने वाले देश की मुद्रा में किया जाता है। इस लिये एक देश की मुद्रा के मूल्य को दूसरे देश की मुद्रा के रूप में निर्धारित करने की समस्या उत्पन्न होती है। यदि विश्व के सभी देशों में एक ही प्रकार की मुद्रा प्रचलित होती तब यह समस्या न उत्पन्न होती। उदाहरणार्थ, इंग्लैण्ड में पौण्ड स्टर्लिंग तथा भारत में रुपया प्रचलित है। यदि भारतीय आयतक इंग्लैण्ड से एक कार अथवा रेडियो खरीदता है तब उसे पौण्ड में भुगतान करना होता है क्योंकि इंग्लैण्ड में कार या रेडियो के उत्पादक के लिये रुपया व्यर्थ है क्योंकि रुपये से इंग्लैण्ड में श्रम तथा कच्चा माल नहीं खरीदा जा सकता। इसी प्रकार जब इंग्लैण्ड का आयतक भारत से चाय मंगाता है तब उसे भारत को पौण्ड में नहीं वरन् रुपये में भुगतान करना पड़ता है क्योंकि पौण्ड से भारतीय उत्पादक भारत में श्रम तथा कच्चा माल नहीं खरीद सकता।

स्वर्णमान के अन्तर्गत, जैसा कि हम ने देखा है, यह समस्या अत्यन्त सरल हो जाती है तथा विनिमय दर का निर्धारण 'टकसाल दर' (mint par) द्वारा होता है। अन्य शब्दों में, एक मुद्रा के मूल्य का दूसरी मुद्रा के रूप में निर्धारण प्रत्येक चलन में निहित 'स्वर्ण अंश' अथवा 'स्वर्ण समानता' के द्वारा होता है। वास्तव में, एक मुद्रा के मूल्य का दूसरी मुद्रा के रूप में निर्धारण की समस्या अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा के अन्तर्गत उत्पन्न होती है जहाँ पर स्वर्ण अथवा अन्य किसी धात्विक मान से (मुद्रा का) कोई लगाव नहीं होता। ऐसी स्थिति में विभिन्न मुद्राओं के विनिमय मूल्य को निर्धारित करने के लिए दो सिद्धान्त हैं, एक तो क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त (purchasing power parity theory) और दूसरा भुगतान सन्तुलन का सिद्धान्त (balance of payments theory)।

क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त

सरल विवरण. स्वर्णमान की स्थिति में हम ने विनिमय दर निर्धारण करने के लिये विभिन्न मुद्राओं में निहित स्वर्ण अंश को समान किया था। क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त के सरल विवरण में हम मुद्रा की मात्रा को विभिन्न चलनों की उतनी मात्रा से समानीकृत करते हैं जितनी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापृत पदार्थों

(internationally traded commodities) को खरीदने के लिये आवश्यक है। मान लीजिए इंग्लैण्ड तथा भारत में कीमत दर इस प्रकार है:—

१ किलो गेहूँ = १ पौण्ड इंग्लैण्ड में
१ किलो गेहूँ = १५ रुपये भारत मे

इन दशाओं में दो चलनों में विनिमय दर 'क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त' के अनुसार इस प्रकार होगी : १ पौण्ड = १५ रुपये। इस दर का निर्धारण एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापृत पदार्थ (गेहूँ) की उतनी ही मात्रा के मूल्य को दोनों देशों की मुद्राओं से समानीकृत करके किया गया है। यदि दोनों देशों में गेहूँ की कीमत अपरिवर्तित रहती है तब विनिमय दर १ पौण्ड = १५ रु० से विचलित नहीं हो सकती।

परन्तु मान लीजिए कुछ कारणों से इस समानता से विचलित हो कर विनिमय दर १ पौण्ड = १६ रुपये के हो जाती है। अब जिन लोगों के पास रुपया है उनके लिये भारत में १५ रुपये किलो के भाव से गेहूँ खरीद कर इंग्लैण्ड में १ पौण्ड प्रति किलो के भाव से बेचना और फिर उस पौण्ड को १ पौण्ड = १६ रुपये की दर से रुपये में परिवर्तित करना लाभप्रद होगा (सुविधा के लिये यह मान लिया गया है कि परिवहन व्यय तथा अन्य प्रकार के आकस्मिक व्यय कुछ भी नहीं हैं)। अत: अब वे १ किलो गेहूँ पर १ रुपया लाभ उठायेंगे क्योंकि विनिमय दर क्रय शक्ति समानता से विचलित हो गई है। जब लोग प्रवर्तमान विनिमय दर तथा क्रय शक्ति समानता दर के अन्तर में लाभ उठाने के लिए भारत से गेहूँ खरीद कर इंग्लैण्ड में बेचना आरम्भ करेंगे तब विनिमय बाजार में पौण्ड की मांग की अपेक्षा पूर्ति में वृद्धि होगी क्योंकि जो लोग इंग्लैण्ड में गेंहूँ बेचगे वे पौण्ड को बराबर रुपये में बदलने के लिये विदेशी विनिमय बाजार में लाते रहेगें। पौण्ड की पूर्ति में मांग की अपेक्षा अधिक वृद्धि (अथवा रुपये की पूर्ति) हो जाने के फलस्वरूप पौण्ड की विनिमय दर में कमी हो जायेगी और यह प्रक्रिया उस समय तक चलती रहेगी जब तक क्रय शक्ति समानता अपना प्रभाव नहीं उत्पन्न करती तथा दोनों चलनों में विनिमय दर १ पौण्ड = १५ रुपये नहीं हो जाती।

मान लीजिए विनिमय दर 'समानता दर' से घट कर १ पौण्ड = १३ रुपये हो जाती है। अब जिन व्यक्तियों के पास पौण्ड है वे इंग्लैण्ड में १ पौण्ड प्रति किलो की दर से गेहूँ खरीद कर भारत में १५ रुपये प्रति किलो के भाव से बेचेंगें तथा रुपये को १ पौण्ड = १३ रुपये की दर से पौण्ड में परिवर्तित करके लाभ उठायेंगे क्योंकि १ पौण्ड = १३ रुपया ही प्रवर्तमान विनिमय दर है। जो लोग इंग्लैण्ड में गेहूँ खरीद कर भारत में बेचते हैं उन्हें अब प्रति किलो गेहूँ पर, जिसके लिए उन्होंने केवल

१ पौण्ड[1] ही दिया था, १ पौण्ड ३ शिलिंग से कुछ अधिक लाभ मिलेगा। इस प्रकार उन्हें प्रति किलो गेहूँ पर ३ शिलिंग से अधिक लाभ होगा। इसके परिणामस्वरूप विदेशी विनिमय बाजार में रुपये की पूर्ति मांग की अपेक्षा (पौण्ड की पूर्ति) बढ़ जायेगी तथा यह प्रक्रिया उस समय तक जारी रहेगी जब तक रुपये का विनिमय मूल्य बढ़कर क्रय शक्ति समानता स्तर के बराबर हो कर १ पौण्ड = १५ रुपये के नहीं हो जाता।

आलोचनायें. क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त के सरल विवरण की दो प्रमुख आलोचनायें की जा सकती हैं: (१) यह तो केवल स्वयं सिद्ध है तथा कुछ समझाता नहीं। यह सिद्धान्त केवल इतना ही कहता है कि परिवहन तथा अन्य व्ययों के अभाव में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापृत पदार्थों का सभी देशों में एक ही मूल्य होगा। यह कथन कोई विशिष्ट महत्व नही रखता तथा यह विभिन्न चलनों की वास्तविक क्रय शक्ति के विषय में कुछ निर्देश नहीं करता। (२) यह सिद्धान्त इस बात को सदा के लिये मान लेता है कि यदि संस्थिति में विचलन हो जाता है तब वह अपने आप विनिमय दरों के सन्तुलन से ठीक हो जाता है। संस्थिति तो विभिन्न देशों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापृत पदार्थों की कीमतों में हुए परिवर्तनों द्वारा भी ठीक हो सकती है। उपरोक्त उदाहरण में जब विनिमय दर समानता-दर १ पौण्ड = १५ रुपये से विचलित हो जाती है तब वह मांग और पूर्ति की शक्तियों से ठीक हो जाती है जिन में उस समय तक बराबर परिवर्तन होता रहता है जब तक विनिमय दर क्रय शक्ति समानता दर के बराबर नहीं हो जाती। परन्तु इस बात की भी सम्भावना हो सकती है कि भारत में गेहूं की कीमत में १ रुपया प्रति किलो स्थायी वृद्धि यहाँ पर टैरिफ, विनिमय नियन्त्रण तथा अन्य प्रकार के नियन्त्रणों के कारण विनिमय दर १ पौण्ड = १६ रुपये हो जाये अथवा गेहूं की कीमत में कमी हो जाने के कारण विनिमय दर घट कर १ पौण्ड = १३ रुपये के हो जाये। ऐसी स्थिति में क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त का सरल विवरण विभिन्न चलनों के सन्तुलित विनिमय दर को निर्धारित करने में सहायक नहीं हो सकता।

सिद्धान्त का दूसरा रूप. क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त का अधिक परिग्राही विवरण इस प्रकार है: "भिन्न चलनों का सापेक्ष्य मूल्य अपने देश में प्रत्येक चलन को वास्तविक क्रय शक्ति के सम्बन्ध के समरूप होता है"। इसका अर्थ यह हुआ

---

१. ऐसा इस लिये है क्योंकि भारतीय मुद्रा के रूप में गेहूँ १५ रुपये प्रति किलो है परन्तु विनिमय दर १ पौण्ड = १३ रुपया है तथा १५ रुपये को १ पौण्ड ३$\frac{१}{१३}$ शिलिंग में बदला जा सकता है।

कि क्रय शक्ति समानता का पता लगाने के लिए हमें पहले प्रत्येक चलन की उस के देश में 'वास्तविक' क्रय शक्ति को जानना होगा। यह केवल एक या दो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापृत पदार्थों की कीमतों पर ही विचार करके नहीं किया जा सकता। किसी चलन की वास्तविक क्रय शक्ति का पता लगाने के लिए हमें उन सभी वस्तुओं को ध्यान में रखना होगा जो एक इकाई चलन से खरीदी जा सकती हैं। वस्तुओं और सेवाओं के रूप में मुद्रा की क्रय शक्ति में हुए परिवर्तनों को ज्ञात करने की व्यावहारिक विधि है कीमत स्तर में हुए परिवर्तनों पर विचार करना या, अधिक स्पष्ट शब्दों में, सामान्य मूल्य निर्देशांक पर विचार करना। जितना ही अधिक सामान्य मूल्य स्तर होगा उतनी ही कम मुद्रा की क्रय शक्ति होगी तथा, इस के विपरीत, जितना ही कम सामान्य मूल्य स्तर होगा उतनी ही अधिक मुद्रा की क्रय शक्ति होगी।

किसी भी समय विभिन्न चलनों में विनिमय दर का निर्धारण मांग और पूर्ति के द्वारा होता है। यदि विनिमय बाजार में किसी चलन की पूर्ति उसकी मांग की अपेक्षा अधिक है तब उसकी कीमत (अन्य चलनों के रूप में उसके अर्घ) में कमी हो जायेगी तथा इसके विपरीत यदि पूर्ति में मांग की अपेक्षा कमी होगी तब उस की कीमत बढ़ जायेगी। यदि किसी चलन की विनिमय दर उसकी वास्तविक क्रय शक्ति के अनुरूप नहीं है तब उसमें परिवर्तन लोगों द्वारा एक देश में वस्तुएं खरीद कर दूसरे देश में बेच कर उस समय तक होता रहेगा जब तक इस समानता के अनुरूप विनिमय दर न हो जाय। "विनिमय दर, जो दो चलनों की सापेक्षिक क्रय शक्ति को व्यक्त करती है, एक आधारभूत सन्तुलित दर होगी, क्योंकि इस दर से किसी भी प्रकार के विवर्तन से एक चलन का दूसरे चलन के रूप में अवमूल्यन हो जाता है जिससे अवमूल्यित चलन की मांग में वृद्धि हो जाती है तथा विनिमय दर सन्तुलित दर की ओर जाने लगती है"।

स्वर्णमान के अन्तर्गत विनिमय दर_टकसाल दर के बराबर होती है तथा उसमें उच्चावचन (fluctuation) स्वर्ण बिन्दुओं की सीमा के भीतर ही होता है। अपरिवर्तनशील पत्र चलन के अन्तर्गत, जहाँ पर विनिमय दर का निर्धारण क्रय शक्ति समानता के आधार पर होता है, "यद्यपि स्वर्ण आयात तथा निर्यात बिन्दुओं के समान उच्चावचन की कोई परिदृढ़ सीमायें नही होतीं फिर भी बाजार दर आधारभूत विनिमय दर (जिसे क्रय शक्ति समानता कहते हैं) से अधिक विवर्तित नहीं हो सकती।"

आलोचनायें. इसमें कोई सन्देह नहीं कि चलन की आन्तरिक क्रय शक्ति तथा उसके विनिमय मूल्य, अर्थात विदेशी चलनों के रूप में उसकी क्रय शक्ति, में एक

प्रकार का सम्बन्ध रहता है। परन्तु कठिनाई इस सम्बन्ध को जानने की होती है। यदि सभी वस्तुएँ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापृत होतीं तथा विभिन्न वस्तुओं का प्रयोग लोग जिस अनुपात में करते हैं सभी देशों में वह स्थिर रहता, तब इस सम्बन्ध को जानने में कोई भी कठिनाई नहीं होती। परन्तु इसके अभाव में, विनिमय दर निर्धारित करने के लिये सामान्य मूल्य निर्देशांक एक चलन की क्रय शक्ति का ठीक ज्ञान नहीं कर पाता। क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त के विरुद्ध कुछ आलोचनायें की जाती हैं जो इस प्रकार हैं:—

(१) प्रत्येक देश में ऐसी बहुत सी वस्तुएँ होती हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सम्मिलित नहीं होतीं तथा प्रत्येक देश के चलन की क्रय शक्ति अन्तर्व्यापृत तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापृत पदार्थों (चूँकि सामान्य निर्देशांक का सम्बन्ध दोनों से होता है) पर आधारित हैं, परन्तु विनिमय दर केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापृत पदार्थों की मांग तथा पूर्ति द्वारा ही निर्धारित होती है। इससे दोनों में एक आवश्यक असंगति उत्पन्न हो जाती है। यह भी सम्भव हो सकता है कि **अ** देश में मुद्रा के परिमाण में वृद्धि हो जाने से सामान्य मूल्य स्तर में वृद्धि मुख्यतः आन्तरिक वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि के द्वारा हो। सामान्य मूल्य निर्देशांक में यह वृद्धि **अ** देश की चलन की क्रय शक्ति में कमी को दिखलाती है। क्रय शक्ति समानता सिद्धांत के अनुसार इसका परिणाम इस देश के भीतर वस्तुओं के आयात में वृद्धि तथा विनिमय बाजार में उसकी चलन की पूर्ति में मांग की अपेक्षा वृद्धि होनी चाहिए और इस देश की चलन की विदेशी विनिमय मूल्य में भी कमी होनी चाहिए जिससे कि विनिमय दर नवीन क्रय शक्ति समानता के अनुरूप हो जाये। परन्तु चूँकि **अ** देश के सामान्य मूल्य निर्देशांक में वृद्धि अधिकांशतः अन्तर्व्यापृत वस्तुओं (internally traded goods) की कीमतों में वृद्धि के कारण हुई है इसलिये यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापृत पदार्थों के आयात में इस सीमा तक वृद्धि हो जाये (जिनकी कीमतें **अ** देश में या तो बिल्कुल न बढ़ी हों या नाम मात्र को बढ़ी हों) कि इस देश की चलन का विनिमय मूल्य घटकर क्रय शक्ति समानता के स्तर के बराबर हो जाये। ऐसी परिस्थिति में विनिमय मूल्यों में हुए परिवर्तनों को समझाने के लिये क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त पर्याप्त नहीं है।

यही नहीं कि कुछ वस्तुयें देश के भीतर व्यापृत होती हैं तथा कुछ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापृत होती हैं, परन्तु वास्तविक कठिनाई तो यह है कि अन्तर्व्यापृत पदार्थों तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापृत पदार्थों का अनुपात लोगों के परिवार बजट में स्थिर नहीं रहता और उसमें परिवर्तन लोगों की आय, मूल्य, स्वभाव, राष्ट्रीय मनोभाव, तथा अन्य कारणों में हुए परिवर्तनों के अनुसार होता रहता है।

(२) सामान्य मूल्य निर्देशांक का सम्बोध ही क्रय शक्ति समानता के निर्देशांक के रूप में दूषित है। यदि इस सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को छोड़ भी दिया जाये तब विभिन्न देशों में जो लोग वस्तुओं पर अपना व्यय करते हैं वे वस्तुयें भिन्न रहती हैं। इसलिये पौंड की इंग्लैंड में क्रय शक्ति तथा रुपये की भारत में क्रय शक्ति से तुलना करना असम्भव है क्योंकि ये अलग अलग वस्तुओं को खरीदते हैं। अतः विभिन्न चलनों की वास्तविक क्रय शक्ति की तुलना करना सम्भव नहीं है।

(३) क्रय शक्ति समानता के अनुरूप विनिमय दर होने के लिये यह आवश्यक है कि देशों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मुक्त होना चाहिए। परन्तु वास्तविक व्यवहार में ऐसा सदैव होता नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों से आन्तरिक मूल्य स्तर को टैरिफ, कोटा नियन्त्रण, विनिमय नियन्त्रण, तथा परिवहन लागत के विनियमन द्वारा बचाया जा सकता है। इन परिस्थितियों में चलन की आन्तरिक क्रय शक्ति तथा उसके विनिमय मूल्य को सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त विनिमय दरों के निर्धारण अथवा परिवर्तनों को समझाने में असमर्थ है।

(४) यह सिद्धान्त यह मान लेता है कि विदेशी विनिमय बाजार में चलनों की मांग और पूर्ति केवल वस्तुओं के आयात तथा निर्यात के कारण होती है। परन्तु ऐसा सदा नहीं होता। एक देश से दूसरे देश में हुए पूंजी का अल्पकालीन प्रवाह भी विदेशी विनिमय बाजार में विभिन्न चलनों की मांग और पूर्ति में हुए परिवर्तनों को प्रभावित कर सकता है। मान लीजिए **अ** और **ब** देशों में सामान्य मूल्य निर्देशांक स्थिर रहता है तथा दोनों देशों की चलन की क्रय शक्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता। इन परिस्थितियों के अन्तर्गत, क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त के अनुसार **अ** देश की चलन का विनिमय मूल्य **ब** देश की चलन के रूप में परिवर्तित नहीं होगा। अब मान लीजिए कि **अ** से **ब** देश में अल्प काल के लिए बहुत सी पूँजी चली जाती है। इससे विनिमय बाजार में **अ** देश की चलन की पूर्ति **ब** देश की चलन की पूर्ति (अर्थात **अ** देश की चलन की मांग) की अपेक्षा अधिक होगी और चलन की आन्तरिक क्रय शक्ति में किसी प्रकार का परिवर्तन हुए बिना ही **अ** देश की चलन के विनिमय मूल्य में कमी हो जायेगी। यहाँ पर चलन की आन्तरिक क्रय शक्ति तथा विनिमय मूल्य में सम्बद्ध विच्छिन्न हो जाता है तथा क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त चलन के विनिमय मूल्य में हुए परिवर्तनों को समझाने में असमर्थ सिद्ध होता है।

(५) चलन की विनिमय दर में परिवर्तन सट्टेबाजी, युद्ध में विजय तथा हार एवं अन्य घटनाओं से भी होता रहता है जिनका चलन की आन्तरिक क्रय शक्ति से कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त विनिमय मूल्यों के निर्धारण, तथा विभिन्न चलनों की कीमतों में हुए परिवर्तनों को सन्तोषजनक ढंग से समझाने में असमर्थ है। इस सिद्धान्त में निहित परिकल्पनायें इतनी अवास्तविक हैं कि व्यवहार में उनकी कोई उपादेयता रह ही नहीं जाती।

शुद्धतः मौद्रिक प्रतिभास की स्थिति. फिर भी क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त स्फीति तथा अवस्फीति के शुद्धतः मौद्रिक प्रतिभास (monetary phenomenon) के अध्ययन के लिये एक उपयुक्त विधि है, यदि यह मान लिया जाये कि शुद्धतः मौद्रिक प्रतिभास को अर्थव्यवस्था में कार्यशील अन्य शक्तियों से अलग किया जा सकता है। ऐसी स्थिति जिसमें मुद्रा के मूल्य में उच्चावचन अन्य आर्थिक शक्तियों की अपेक्षा अधिक तीव्र होता है, तब क्रय शक्ति समानता का परिकलन अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा पर आधारित देशों की विनिमय दर की प्रवृत्तियों के बारे में एक लाभपूर्ण उपसदन (approximation) प्रस्तुत कर सकता है। कुछ समय, उदाहरण के लिये १९१९ से १९२३ और बाद तक भी, यूरोप के अधिकांश देशों में मुद्रास्फीति ही केवल एक महत्वपूर्ण स्थिति थी जिसने वस्तुओं के मूल्य तथा व्यापार के स्वरूप को प्रभावित किया था। इन वर्षों में यह सिद्धान्त अधिक प्रसिद्ध था। क्रय शक्ति समानता की जो आंशिक उपादेयता है वह केवल उसी समय हो सकती है जब चलन में विचलन हो गया हो।

क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त के सीमित प्रयोग के लिये एक सूत्र (formula) बना लेना सम्भव है:

अ देश में सामान्य मूल्य निर्देशांक = **ब** देश में सामान्य मूल्य निर्देशांक × **र** × **क**

इसमें **अ** देश की चलन का **ब** देश की चलन के रूप मे विनिमय दर **र** है, तथा **अ** और **ब** देश की मुद्रा के मूल्य का अन्तर **क** है। **क** को स्थिर मान लेना सम्भव है यदि क्रय शक्ति समानता से विचलन का अंश सदा स्थिर रहता है (अर्थात यदि दोनों देशों में सामान्य मूल्य स्तर में परिवर्तन अन्तर्राष्ट्रीय वस्तुओं के स्तर के समानान्तर होता है)। **क** को स्थिर मानकर उपरोक्त सूत्र को निम्नलिखित ढंग से व्यक्त किया का सकता है:—

$$\text{अ देश की एक इकाई चलन} = \frac{\text{ब देश का सामान्य मूल्य निर्देशांक}}{\text{अ देश का सामान्य मूल्य निर्देशांक}} \times \text{ब देश की मुद्रा की मात्रा अ देश की एक इकाई मुद्रा के बराबर}$$

मान लीजिए अ देश इंग्लैण्ड है जहाँ की प्रचलित मुद्रा पौण्ड है तथा ब देश संयुक्त राज्य अमेरिका है जहाँ की प्रचलित मुद्रा डालर है। आइए दो वर्ष, १९१३ तथा १९२३, लें जिनमें दोनों चलनों के मूल्य में हुए परिवर्तनों की तुलना करनी है।

१९१३	इंग्लैण्ड में सामान्य मूल्य निर्देशांक	=१००
	संयुक्य राज्य अमेरिका में सामान्य मूल्य निर्देशांक	=१००
१९२३	इंग्लैंड में सामान्य मूल्य निर्देशांक	=१६४
	अमेरिका में सामान्य मूल्य निर्देशांक	=१५६

१९१३ में १ पौण्ड ४·८६६ डालर संस्थिति दर के आधार पर हम १९२३ के संस्थिति विनिमय दर का परिकलन इस प्रकार कर सकते हैं:

१९१३ $\quad$ १ पौण्ड $=\frac{१००}{१००}\times$ ४·८६६ डालर = ४·८६६ डालर

१९२३ $\quad$ १ पौण्ड $=\frac{१५६}{१६४}\times$ ४·८६६ डालर = ४·६२८ डालर

१९२३ में इंग्लैंड में सामान्य मूल्य निर्देशांक बढ़कर १६४ हो गया तथा अमेरिका में केवल १५६ ही। यह इस बात को प्रदर्शित करता है कि पौण्ड की क्रय शक्ति में डालर की अपेक्षा अधिक कमी हुई। इसके परिणामस्वरूप, पौण्ड के विनिमय मूल्य में ४·८६६ डालर प्रति पौण्ड से ४·६२८ डालर प्रति पौण्ड घट कर हो जाने की सम्भावना है। इस प्रकार इस परिकल्पना पर कि इस अवधि में मौद्रिक प्रतिभास अधिक महत्वपूर्ण था, हम विभिन्न देशों की सापेक्षिक मुद्रा स्फीति तथा अवस्फीति के उनकी चलनों के विनिमय मूल्य पर हुए प्रभाव को ज्ञात कर सकते हैं। यह बात सम्भवतः अधिक स्पष्ट हो जायेगी यदि हम सीधी सीधी संख्यायें लें।

१९१३ $\quad$ १ पौंड = $\frac{१००}{१००}\times$ ४·८६६ डालर

१९२३ $\quad$ १ पौंड = $\frac{२००}{१००}\times$ ४·८६६ डालर

यदि १९२३ में संयुक्त राज्य अमेरिका का सामान्य मूल्य निर्देशांक ग्रेट ब्रिटेन की अपेक्षा दुगुना हो जाये तथा पौण्ड की आन्तरिक क्रय शक्ति पहले से आधी हो जाये तब उसका विनिमय मूल्य भी घटकर आधा हो जायेगा तथा इस प्रकार होगा : १ पौंड = ९·७३२ डालर।

इसके विपरीत, यदि संयुक्त राज्य अमेरिका में सामान्य मूल्य निर्देशांक स्थिर रहे तथा इंग्लैण्ड में दुगुना हो जाये तब स्थिति इस प्रकार होगी :

१९१३   १ पौंड $= \frac{१००}{१००} \times$ ४·८६६ डालर

१९२३   १ पौंड $= \frac{१००}{२००} \times$ ४·८६६ डालर

इन स्थिति में चूंकि इंग्लैण्ड में सामान्य मूल्य निर्देशांक दुगुना हो गया तथा उसकी आन्तरिक क्रय शक्ति आधी हो गई इसलिए पौण्ड का विनिमय मूल्य भी पहले मूल्य का आधा अर्थात १ पौंड = २·४३३ डालर हो जायेगा।

यदि हम स्फीति तथा अवस्फीति के शुद्धतः मौद्रिक प्रतिभास को अलग कर सकें तब क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त आन्तरिक मूल्य स्तर में हुए परिवर्तनों के फलस्वरूप विनिमय दरों में हुए परिवर्तनों का अध्ययन करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। यदि हम किसी देश में सभी समय कार्यशील मौद्रिक तथा अमौद्रिक शक्तियों को दृष्टि में रखें, तब क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त विनिमय दरों के निर्धारण को नहीं समझा सकता।

भुगतान सन्तुलन का सिद्धान्त

अपरिवर्तनशील पत्र मुद्रा के अन्तर्गत विनिमय दरों का निर्धारण करने के लिये एक दूसरा सिद्धान्त भुगतान सन्तुलन (balance of payments) का है। इस सिद्धान्त को समझने के लिए यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम 'भुगतान सन्तुलन' के अर्थ को समझा जाये।

परिभाषा. एक देश को अपने आयात के लिए भुगतान करना पड़ता है तथा निर्यात के लिए भुगतान प्राप्त करना पड़ता है। एक विवरण जिसमें सभी विकलन (debit) तथा आकलन (credit) सम्बन्धित भुगतानों का वर्णन रहता है, उसे भुगतान सन्तुलन कहते हैं। एक देश के भुगतान सन्तुलन के पूर्ण तथा ठीक विवरण के अन्तर्गत वे सभी भुगतान सम्मिलित हैं जो एक विदेशी देश में रहने वाले को अपने रुकने की पूरी अवधि में करता है जिसे आकलन कहते हैं; तथा वे सभी भुगतान जो इस अवधि के भीतर देश के निवासियों द्वारा विदेशियों को किये जाते हैं उन्हें विकलन (debit) कहते हैं। 'निवासी' शब्द की सतर्कतापूर्वक परिभाषा करनी चाहिए जिससे इसके अन्तर्गत सभी व्यक्ति, धर्म संस्थायें तथा अन्य समितियों, चाहे उनकी जो भी राष्ट्रीयता हो, जो एक देश के भीतर रहते हैं आ जायें। इसी प्रकार 'विदेशी' कोई भी व्यक्ति हो सकता है—चाहे उसकी कोई भी राष्ट्रीयता हो—जो देश के बाहर निवास करता है।

भुगतान सन्तुलन के विकलन तथा आकलन दोनों पक्षों पर दृश्य तथा अदृश्य आयात और निर्यात सम्मिलित होते हैं। 'दृश्य' आयात और निर्यात से हमारा तात्पर्य वस्तुओं तथा पदार्थों—जिसमें कोष भी समिलित है—के आयात और निर्यात से होता है। 'अदृश्य' आयात एवं निर्यात से हमारा तात्पर्य परिवहन तथा बीमा सम्बन्धी सेवायें, पूँजी के आवागमन इत्यादि से होता है। यदि कोई देश वस्तुओं और पदार्थों का आयात करता है तब उसे उसके लिये भुगतान करना पड़ता है। इसी प्रकार उसे विदेशियों द्वारा किये गए परिवहन, बीमा तथा बैंकिंग सेवायें सदृश अदृश्य आयातों के लिये भुगतान करना पड़ता है।

भुगतान सन्तुलन में निहित विचार यह है कि दीर्घकाल में विदेशी विनिमय बाजार में, एक देश के चलन की मांग और पूर्ति को सदा सन्तुलित होना चाहिए। ऐसा इसलिये होता है क्योंकि अदृश्य तथा दृश्य आयातों को मिलाकर अन्त में भुगतान अदृश्य तथा दृश्य निर्यातों द्वारा किया जाता है। यदि अल्प काल में भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल रहता है अर्थात प्राप्ति से अधिक भुगतान करना पड़ता है, तब इस कमी को विदेशों से ऋण लेकर पूरा किया जाता है। परन्तु दीर्घकाल में भुगतान सन्तुलन को अवश्य ही सन्तुलित होना चाहिए।

सिद्धान्त. 'भुगतान सन्तुलन' सिद्धान्त के अनुसार (१) विनिमय दरों का निर्धारण मांग और पूर्ति के रूप में भुगतान सन्तुलन द्वारा होता है, तथा (२) भुगतान सन्तुलन उन कारकों (factors) द्वारा निर्धारित होता है जो विनिमय दरों के विभेदों से स्वतन्त्र रहते हैं। इसका यह अर्थ है कि भुगतान सन्तुलन के विभिन्न मद विनिमय दर से, जो स्वयं भुगतान सन्तुलन द्वारा निर्धारित होती हैं, प्रभावित नहीं होते।

संस्थिति विनिमय दर वह है जिस पर प्रत्येक देश के चलन की मांग एवं पूर्ति बराबर हो। मान लीजिए किसी समय विदेशी विनिमय बाजार में पौण्ड की कुल पूर्ति (रुपये की मांग) १,००० पौंड है तथा पौण्ड की मांग (रुपये की पूर्ति) १५,००० रुपये के बराबर है। ऐसी स्थिति में संस्थिति विनिमय दर होगा १ पौंड = १५ रुपये। ऐसा इसलिये है क्योंकि इस समय पौण्ड तथा रुपये की पूर्ति १,००० पौंड = १५,००० रुपये के है।

यदि किसी कारण विनिमय दर १ पौण्ड = १३ रुपये हो जाये तब यह इस स्तर पर स्थिर नहीं रह सकता। इस स्तर पर विनिमय दर स्थिर रखने के लिए यह आवश्यक है कि बाजार में रुपये की कुल पूर्ति १३,००० हो परन्तु रुपये की वास्तविक पूर्ति १५,००० है। रुपये की अधिक पूर्ति अपना प्रभाव उत्पन्न कर

विनिमय दर को १ पौंड=१५ रुपये कर देगी। इसी प्रकार का सन्तुलन उस समय भी होने लगेगा जब अकस्मात विनिमय दर अस्थायी तौर पर १ पौंड=१६ रुपये हो जाती है। इस प्रकार यदि विनिमय दर भुगतान सन्तुलन समानता दर से विचलित हो जाती है तब 'समानता' दर पर विनिमय दर लाने के लिए मांग और पूर्ति की शक्तियाँ अपना प्रभाव उत्पन्न करने लगेंगी।

स्वयं 'समानता दर' (parity level) भी परिवर्तित हो सकती है। यदि दृश्य तथा अदृश्य आयातों और निर्यातों में हुए अनेक परिवर्तनों के फलस्वरूप विदेशी विनिमय बाजार में रुपये की कुल पूर्ति घट कर १३ हजार रुपये या बढ़कर १६ हजार रुपये हो जाती है तब विनिमय दर स्थायी रूप से परिवर्तित होकर १ पौण्ड=१३ रुपये या १ पौण्ड=१६ रुपये हो जायेगी। इस उदाहरण को अपने विवरण को अधिक सरल बनाने के लिये हम लोगों ने पौण्ड की पूर्ति को स्थिर रखा है और केवल रुपये की पूर्ति में ही परिवर्तन करते हैं। वास्तविक व्यवहार में, पौण्ड की पूर्ति (अर्थात रुपये की मांग) तथा रुपये की पूर्ति (पौण्ड की मांग) में साथ-साथ परिवर्तन होते रहते हैं। संस्थिति विनिमय दर वही होगा जो भुगतान सन्तुलन समानता स्तर के अनुरूप हो।

आलोचनायें. विनिमय दरों को निर्धारित करने के लिए भुगतान सन्तुलन का सिद्धान्त ठीक तौर से विदेशी विनिमय बाजार में देश की चलनों की मांग और पूर्ति द्वारा उत्पन्न किये गये प्रभावों को व्यक्त करता है। अन्य मूल्यों की भाँति एक देश की चलन का विनिमय मूल्य मांग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है। परन्तु इस मौलिक तथ्य पर जोर देने के अतिरिक्त यह सिद्धान्त इस बात को समझाने में असमर्थ है कि विनिमय दर का निर्धारण वास्तव में किस प्रकार होता है तथा उसमें समय समय पर परिवर्तन किस प्रकार से उत्पन्न होते रहते हैं, क्योंकि:

(१) उन जटिल शक्तियों को समझाने के लिए जो विनिमय दरों का निर्धारण करती हैं, हमें मांग और पूर्ति की पृष्ठभूमि में छिपी शक्तियों की भी व्याख्या करनी होगी। भुगतान सन्तुलन का सिद्धान्त ऐसा नहीं करता और इसलिए अपूर्ण है।

(२) भुगतान सन्तुलन का सिद्धान्त यह मान लेता है कि 'भुगतान सन्तुलन' के विभिन्न मद, जैसे दृश्य तथा अदृश्य आयात निर्यात, विनिमय मूल्य से स्वतन्त्र होते हैं। परन्तु ऐसा बिल्कुल नहीं होता। विनिमय दरों में हुए परिवर्तनों के फलस्वरूप स्वयं भुगतान सन्तुलन में ही परिवर्तन हो सकता है। जिन वस्तुओं का

अब तक आयात और निर्यात नहीं हो रहा था उनका भी आयात और निर्यात प्रारम्भ हो जाता है, तथा आयात और निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा में भी विनिमय मूल्य में परिवर्तन होने से परिवर्तन हो सकता है। "सबसे महान निर्बलता इस सिद्धान्त की यह है कि यह 'भुगतान सन्तुलन' को एक स्थिर मात्रा मान लेता है। व्यापार सन्तुलन (तथा कुछ अदृश्य आयात एवं निर्यात) आन्तरिक मूल्य स्तर तथा वाह्य मूल्य स्तर के सम्बन्ध पर आधारित है। यहां तक कि खाद्यान्नों का आयात भी कुछ सीमा तक लोचपूर्ण होता है। क्योंकि वही भौतिक आवश्यकतायें या तो रोटी तथा आलू जैसे पदार्थों द्वारा सन्तुष्ट की जा सकती हैं अथवा माँस तथा फल द्वारा। संक्षेप में, भुगतान सन्तुलन आंशिक रूप में विनिमयों पर आधारित हैं; अतः इसका प्रयोग उनको समझाने के लिये नहीं किया जा सकता।"

(३) यदि भुगतान सन्तुलन के अन्तर्गत अल्पकालीन पूँजी के प्रवाह, स्वर्ण इत्यादि का हस्तान्तरण भी सम्मिलित कर लिया जाये तब वह सदा सन्तुलित रहेगा तथा विनिमय दरों में हुए परिवर्तनों को नहीं समझा सकेगा। यदि हम समतोलित करने वाले (offsetting) पूँजी तथा स्वर्ण प्रवाहों को छोड़ दें तब हम भुगतान सन्तुलन का वास्तविक चित्र नहीं प्राप्त कर सकते। यह इस सिद्धान्त को खण्डित कर देता है तथा इसके महत्व को कम कर देता है।

इसलिये हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि क्रय शक्ति समानता सिद्धान्त के सदृश भुगतान सन्तुलन का सिद्धान्त भी अपूर्ण है तथा विनिमय दरों के निर्धारण और देश की चलन के विनिमय मूल्यों में हुए परिवर्तनों की सन्तोषजनक व्याख्या करने में असमर्थ है। वास्तव में ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है जो सन्तोषजनक व्याख्या कर सके। वर्तमान ज्ञान की स्थिति में हमारे पास केवल ये ही अपूर्ण तथा असन्तोषजनक सिद्धान्त हैं।

अध्याय ११

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त

(Theory of Comparative Costs)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वस्तुओं का विनिमय विभिन्न देशों के लोगों में होता है, जबकि आन्तरिक व्यापार में उनका विनिमय एक ही देश के लोगों में होता है। आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दोनों में एक व्यक्ति दूसरों से वस्तुयें खरीदता है क्योंकि इससे वह अपनी उन आवश्यकताओं को सन्तुष्ट कर सकता है जिन्हें वह स्वयं वस्तुएँ उत्पादित करके नहीं कर सकता। दोनों दशाओं में व्यापार का आधार श्रम विभाजन है जिससे लोग उन वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिनमें उन्हें लाभ होता है। अतः व्यापार में विशिष्टीकरण सम्भव होता है।

आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अन्तर. यद्यपि आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय दोनों व्यापारों का आधार श्रम विभाजन है, तथा व्यापार से हुए लाभ भी उसी प्रकार के होते हैं, फिर भी इन दोनों व्यापारों में कुछ अन्तर होता है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापृत पदार्थों के मूल्य निर्धारण के लिए एक अलग सिद्धान्त की आवश्यकता हो जाती है।

(१) आन्तरिक व्यापार में विभिन्न प्रयोगों में श्रम तथा पूंजी की गतिशीलता होती है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इस प्रकार की गतिशीलता का अभाव रहता है, या विशेषकर श्रम की गतिशीलता अपूर्ण रहती है। घर से लगाव, आलस्य, भाषा तथा विधि व्यवहार में अन्तर, तथा विभिन्न देशों की सरकारों द्वारा प्रवास (migration) पर लगाये गये नियन्त्रणों के कारण एक देश से दूसरे देश में श्रमिक नहीं जाना पसन्द करते। पूँजी के प्रवाह में, जो अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक हो सकता है, तो उतनी अधिक कठिनाई नहीं होती। परन्तु इसमें भी विभिन्न देशों की स्थितियों के सम्बन्ध में ज्ञान का अभाव, विनियोग में निहित जोखिम, तथा विभिन्न सरकारों द्वारा पूंजी के प्रवाह पर लगाये गये नियन्त्रणों से पूँजी की भी गतिशीलता एक देश से दूसरे देश में सीमित हो जाती है। इससे अप्रतियोगी (non-competing) समूहों का सृजन होता है।

श्रम, पूंजी तथा अन्य उत्पादन के साधनों की मुक्त गतिशीलता से एक ही प्रकार तथा गण वाले उत्पादन के साधनों (मजदूरी, ब्याज तथा लगान) की सभी जगह

कीमतें समान रहती हैं। आन्तरिक व्यापार में यह विभिन्न वस्तुओ की उत्पादन लागत तथा उनके मूल्यों में निकट सम्बन्ध स्थापित करती है। परन्तु अलग-अलग देशों में, जो प्रतियोगी समूह बनाते है, विभिन्न उत्पादन के साधनों को दी गई मजदूरी, ब्याज तथा लगान अतुलनीय होता है। एक ही प्रकार के श्रम की मजदूरी एक देश में दूसरे देश की अपेक्षा अधिक ऊँची हो सकती है। इससे विभिन्न देशों में एक ही वस्तु की उत्पादन लागत का आधार भिन्न हो जाता है।

(२) आन्तरिक व्यापार में, जो केवल एक देश के भीतर ही सीमित रहता है, एक सामान्य मौद्रिक इकाई होती है जिसके माध्यम से सभी लेन-देन की क्रियायें की जाती हैं। उदाहरणार्थ, भारत में रुपये के माध्यम से लेन-देन की सभी क्रियायें की जाती हैं। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विभिन्न मौद्रिक इकाइयों का प्रयोग होता है : जबकि भारत में रुपये द्वारा व्यापारिक क्रियायें की जाती है, इंग्लैण्ड तथा अमेरिका में क्रमशः पौण्ड स्टर्लिङ्ग तथा डालर के माध्यम से। चूंकि एक देश के नागरिक द्वारा दूसरे देश से खरीदी गई वस्तुओं के लिए भुगतान विक्रय करने वाले देश की मुद्रा में करना होता है, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में एक देश की मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा के रूप में विनिमय मूल्य निर्धारित करने से सम्बन्धित कुछ जटिलतायें उत्पन्न हो जाती हैं।

(३) इनके अतिरिक्त विभिन्न देशों की प्राकृतिक संसाधानों, श्रम सम्बन्धी दशायें तथा नियम, कर, मूल्य और उत्पादन सम्बन्धित नीतियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। विभिन्न देशों की इन भिन्नताओं के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को आन्तरिक व्यापार से अलग रखा जाता है।

इसी कारण से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापृत पदार्थों के मूल्य निर्धारण के लिए एक पृथक सिद्धान्त है जिसे तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त कहते है। इस बात को यहाँ पर स्पष्ट कर देना चाहिए कि तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त सामान्य मूल्य के सिद्धान्त ही का एक अंग है। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि अन्तर्व्यापृत पदार्थों के मूल्य निर्धारण के सिद्धान्त तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापृत पदार्थों के मूल्य निर्धारण के सिद्धान्त के विवरण में कुछ अन्तर है, फिर भी मूलतः ये दोनों सिद्धान्त एक ही है।

विशिष्टीकरण का आधार. कच्चे माल, शक्ति तथा श्रम के रूप में प्राकृतिक संसाधनों का विभिन्न देशों में इस प्रकार वितरण है कि यदि लोग चाहे तो प्रत्येक देश प्रायः सभी वस्तुओं का उत्पादन स्वयं कर सकता है। परन्तु वास्तविक व्यवहार में ऐसा नहीं होता तथा देश कुछ वस्तुओं के ही उत्पादन में अपनी उत्पादक शक्ति केन्द्रित करते हैं और शेष वस्तुयें वे आयात द्वारा प्राप्त करते है। उदाहरणार्थ,

भारत जूट के उत्पादन में, स्विट्जरलैण्ड घड़ियों के, तथा जर्मनी कुछ विशेष प्रकार की मशीनों तथा रसायनों के उत्पादन में विशिष्टीकरण करता है। ये देश अन्य वस्तुओं का भी उत्पादन करते हैं परन्तु इन वस्तुओं के उत्पादन में उतना लाभ नहीं होता जितना विशिष्टीकृत वस्तुओं के उत्पादन में होता है।

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त इस प्रकार के विशिष्टीकरण के कारण को समझाता है तथा उस सीमा को बतलाता है जहाँ तक इस प्रकार का विशिष्टीकरण विभिन्न देशों को लाभप्रद होगा।

सरलता के लिए यह मान लीजिए कि (१) **अ** और **ब** केवल दो ही देश हैं; (२) **क** और **ख** केवल दो ही वस्तुयें इन देशों में उत्पादित की जा सकती हैं; (३) प्रत्येक देश में इन दोनों वस्तुओं का उत्पादन स्थिरमान लागत (constant costs) के अन्तर्गत होता है; (४) वस्तु विनिमय अर्थव्यवस्था है तथा विनिमय के लिए मुद्रा का प्रयोग नहीं किया जाता; (५) जब कि प्रत्येक देश के भीतर उत्पादन के साधनों की पूर्ण गतिशीलता है, दोनों देशों के बीच उनकी गतिशीलता बिल्कुल नहीं है; तथा (६) दोनों देशों में व्यापृत पदार्थों पर कोई परिवहन व्यय नहीं है।

इन सरलीकृत दशाओं के अन्तर्गत, जो हमें दो देशों के व्यवहार की परीक्षा तथा उनके विशिष्टीकरण के आधार ज्ञात करने में समर्थ बनाती हैं, तीन सम्भावनायें हैं: (१) **अ** देश को एक वस्तु के उत्पादन में तथा **ब** देश को दूसरी वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष (absolute) लाभ हो रहा हो; (२) **अ** देश समान रूप से दोनों वस्तुओं के उत्पादन में **ब** से श्रेष्ठ हो; तथा (३) **अ** देश **ब** से दोनों वस्तुओं के उत्पादन में श्रेष्ठ हो परन्तु असमान रूप में हो, अर्थात एक वस्तु के उत्पादन में दूसरी वस्तु की अपेक्षा अधिक लाभ हो। इन तीन दशाओं को निम्नलिखित ढंग से व्यक्त किया जा सकता हैं :—

स्थिति १

	एक दिन के श्रम द्वारा उत्पादित इकाइयाँ	
	वस्तु **क**	वस्तु **ख**
देश **अ**	२	१
देश **ब**	१	२

इस स्थिति में **अ** देश को **क** वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ हो रहा है क्योंकि एक दिन के श्रम से **क** वस्तु की दो इकाइयाँ उत्पादित की जा सकती हैं जब कि **ख** वस्तु की केवल एक ही। इसी प्रकार **ब** देश को **ख** वस्तु के उत्पादन में निरपेक्ष

लाभ हो रहा है क्योंकि इस देश में एक दिन के श्रम के द्वारा **ख** वस्तु की दो इकाइयाँ उत्पादित की जा सकती हैं जब कि **क** वस्तु की केवल एक ही इकाई। **अ** देश को **क** वस्तु के उत्पादन में तथा **ब** देश को **ख** वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण करने का यह स्पष्ट उदाहरण है। व्यापार से दोनों देशों को पारस्परिक लाभ होगा। दोनों देशों के यह सर्वोत्तम हित में होगा कि **अ** देश **क** वस्तु का उत्पादन अपनी आवश्यकता के लिए तथा निर्यात के लिए करे तथा अपने प्रयोग के लिये **ख** वस्तु को **ब** देश से प्राप्त करे, तथा **ब** देश **ख** वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण कर उसका उत्पादन अपने लिये तथा **अ** देश को निर्यात कर **क** वस्तु प्राप्त करने के लिए करे।

यदि इस सिद्धान्त का अनुसरण नहीं किया गया तथा **अ** देश ने दोनों वस्तुओं का उत्पादन किया तब उसे हानि होगी क्योंकि उसी समय में (एक दिन के श्रम द्वारा) जब कि वह दो इकाई **क** वस्तु की उत्पादन कर सकता था अब उसे **ख** की केवल एक ही इकाई उत्पादित कर सन्तुष्ट रहना पड़ेगा। परन्तु यदि **ख** वस्तु के उत्पादन करने के स्थान पर **अ** देश अपने सारे संसाधनों का उपयोग **क** वस्तु की अतिरिक्त इकाइयों के उत्पादन करने में करता है तथा उनका विनिमय **ब** देश की **ख** वस्तुओं से कर लेता है जहाँ पर १ **क**=२**ख** है, तब उसे प्रतिदिन के श्रम से उत्पादित **क** की २ इकाई के बदले में **ख** की ४ इकाई मिल सकती हैं। यह इस बात को प्रदर्शित करता है कि जब कि **अ** देश में एक दिन के श्रम द्वारा **ख** वस्तु की केवल एक इकाई उत्पादित की जा सकती है, व्यापार के द्वारा **ख** वस्तु की चार इकाइयाँ विनिमय से प्राप्त हो सकती हैं। इसलिए **अ** देश के लिए यह लाभप्रद है कि वह केवल **क** वस्तु का ही उत्पादन करे तथा **ख** वस्तु का बिल्कुल ही उत्पादन न करे बल्कि **ख** वस्तु को दूसरे देश से प्राप्त करे। इसी प्रकार **ब** देश को हानि होगी यदि वह दोनों वस्तुओं का उत्पादन करता है। यदि **ब** देश अपने सभी संसाधनों का उपयोग **ख** वस्तु की अतिरिक्त इकाइयों के उत्पादन के लिए करता है तब वह इस वस्तु को **अ** देश में भेज सकता है जहाँ १ **ख**=२ **क** है। इस प्रकार उसे २ **ख** के बदले में ४ **क** प्राप्त होगा। यदि **क** देश विनिमय न करता तो उसे एक दिन के श्रम के द्वारा **ख** की केवल एक ही इकाई प्राप्त होती। अतः इस स्थिति में विशिष्टीकरण से स्पष्ट लाभ होता है।

स्थिति २

	एक दिन के श्रम से उत्पादित इकाइयों की मात्रा	
	वस्तु **क**	वस्तु **ख**
देश **अ**	२	२
देश **ब**	१	१

स्थिति २ समान लाभ की स्थिति है जिसमें अ देश ब देश की अपेक्षा दोनों वस्तुओं के उत्पादन में श्रेष्ठ है। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नहीं होगा तथा प्रत्येक देश दोनों वस्तुओं का उत्पादन करेगा क्योंकि विनिमय से किसी को भी लाभ नहीं होता। दोनों देशों में विनिमय दर समान है, १क=१ख। यदि अ देश एक दिन के श्रम का प्रयोग ख वस्तु के उत्पादन के लिए करता है तब उसे इस वस्तु की दो इकाइयाँ प्राप्त होंगी। परन्तु यदि इस श्रम का प्रयोग क वस्तु की दो इकाइयों के उत्पादन के लिये किया जाता तथा उसका विनिमय ब देश की ख वस्तु से किया जाता तब अ देश को इससे कुछ भी लाभ नहीं होगा क्योंकि उसे विनिमय के उपरान्त भी ख वस्तु की केवल दो इकाइयाँ ही मिलेंगी क्योंकि ब देश में विनिमय दर १क=१ख के हैं। इस परिस्थिति में दोनों देशों में व्यापार होना लाभप्रद नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि ब देश अपने सभी संसाधनों का प्रयोग क वस्तु के उत्पादन के लिए करे, तब एक दिन के श्रम के द्वारा इस वस्तु की केवल एक ही इकाई का उत्पादन होगा। इसके अतिरिक्त यदि वह ख वस्तु की एक इकाई का उत्पादन करके उसे ब देश में क वस्तु के विनिमय के लिए भेज देता है तब उसे विनिमय में क वस्तु की केवल एक ही इकाई मिलेगी क्योंकि अ देश में विनिमय दर १क=१ख है। इस स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से कोई लाभ नहीं होगा।

स्थिति ३

	एक दिन के श्रम से उत्पादित इकाइयों की मात्रा	
	वस्तु क	वस्तु ख
देश अ	३	२
देश ब	१	१

स्थिति ३ विशिष्टीकरण तथा वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के दृष्टिकोण से बहुत रोचक स्थिति है। इस स्थिति में अ देश को दोनों वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ हो रहा है क्योंकि इस देश में श्रम ब देश की अपेक्षा अधिक कुशल है, परन्तु अ देश को दूसरे देश के ऊपर तुलनात्मक लाभ केवल एक ही वस्तु के उत्पादन में प्राप्त होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि यद्यपि अ देश को दोनों वस्तुओं में लाभ हो रहा है, फिर भी उसका सापेक्ष्य लाभ क वस्तु में अधिक है। अतः अ देश इसी वस्तु के उत्पादन करने में अपनी उत्पादक शक्ति केन्द्रित करेगा। यही तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का आधार है।

यद्यपि अ देश को दोनों वस्तुओं के उत्पादन में निरपेक्ष लाभ हो रहा है, फिर भी यदि वह दोनों वस्तुओं का उत्पादन करता है तो उसे हानि होगी। यदि

अ देश एक दिन के श्रम के द्वारा **ख** वस्तु की दो इकाइयों का उत्पादन करता है तब उसे हानि होती है क्योंकि इसके बदले में यदि वह **क** वस्तु के उत्पादन में ही अपनी शक्ति केन्द्रित करता तब वह इसकी ३ इकाइयाँ पैदा कर लेता और इसके विनिमय से उसे **ख** वस्तु की तीन इकाइयाँ प्राप्त हो जातीं। यह इसलिए होता क्योंकि **ब** देश में विनिमय दर १**क**=१**ख** के है। इस प्रकार अ देश एक दिन के श्रम से **ख** की तीन इकाइयाँ प्राप्त कर लेता है जब कि स्वयं उत्पादन करने से उसे केवल इसकी दो इकाइयाँ ही प्राप्त होतीं। इसी प्रकार यद्यपि **ब** देश अ से दोनों वस्तुओं के उत्पादन करने में अकुशल है, फिर भी इसकी अकुशलता **ख** वस्तु के उत्पादन में **क** की अपेक्षा कम है। अतः **ख** वस्तु के उत्पादन में अपनी उत्पादक शक्ति केन्द्रित करना इसके लिए अधिक लाभप्रद होगा। **ब** देश को हानि होगी यदि यह दोनों वस्तुओं के उत्पादन पर जोर देता है क्योंकि **क** वस्तु के उत्पादन से उसे एक दिन के श्रम से केवल एक इकाई प्राप्त होगी, जब कि उसे **ख** वस्तु के उत्पादन में अपनी शक्ति केन्द्रित करके व्यापार के द्वारा **क** वस्तु की १½ इकाइयाँ प्राप्त होंगी क्योंकि अ देश में विनिमय दर ३**क**=२**ख** अथवा १**ख**=१½**क** है।

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त

"तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के अनुसार यदि व्यापार को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाये तब अन्ततोगत्वा प्रत्येक देश उन वस्तुओं के उत्पादन तथा निर्यात में विशिष्टीकरण करेगा जिनमें उसे वास्तविक लागत के रूप में अधिक तुलनात्मक लाभ प्राप्त होता है, तथा उन वस्तुओं को आयात द्वारा प्राप्त करेगा जिनका देश में उत्पादन वास्तविक लागत के रूप में तुलनात्मक हानि में होता है, तथा इस प्रकार का विशिष्टीकरण भाग लेने वाले देशों को पारस्परिक लाभ पहुँचाता है।" तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का यह विवरण यह प्रदर्शित करता है कि यदि व्यापार को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तब विशिष्टीकरण (१) तुलनात्मक लागत के आधार पर होगा, तथा (२) सभी देशों के लिए पारस्परिक लाभदायक होगा। यदि व्यापार स्वतन्त्र नहीं है तथा उस पर टैरिफ़ संरक्षण, आयात नियन्त्रण, विनिमय नियन्त्रण, तथा अन्य विधियों द्वारा प्रतिबन्ध लगाया जाता है तब उत्पादन का विशिष्टीकरण नहीं हो सकता या उस सीमा तक नहीं हो सकता जिस सीमा तक इन नियन्त्रणों के अभाव में होता, और इसके कारण सभी देशों को हानि होती।

इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में जो बात ध्यान देने योग्य है वह यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में निरपेक्ष लागत (absolute costs) नहीं वरन् तुलना-

त्मक लागत (comparative costs) उत्पादन के विशिष्टीकरण को निर्धारित करती है। आन्तरिक व्यापार में एक उत्पादक उन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा जिनमें उसकी लागत निरपेक्ष रूप में अपने प्रतिद्वन्दी उत्पादकों से कम हो। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में ऐसा नहीं होता। आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में यह अन्तर इस कारण होता है कि आन्तरिक व्यापार में उत्पादन के साधनों की पूर्ण गतिशीलता से उनका प्रयोग वहीं होता है जहाँ पर वे अत्यन्त कुशलतापूर्वक प्रयोग किए जा सकते हैं, अर्थात, अन्य शब्दों में, जहाँ पर उत्पादन लागत अत्यन्त कम होती है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में इस प्रकार की गतिशीलता का अभाव पाया जाता है तथा एक देश का श्रमिक दूसरे देश की अपेक्षा 'वस्तुओं के उत्पादन करने में' अत्यन्त कुशल भी रह सकता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के होते हुए भी यह अन्तर बना रह सकता है क्योंकि विभिन्न देशों में श्रमिक की गतिशीलता अत्यन्त अपूर्ण रहती है। जैसा कि इसी अध्याय में पहले समझाया जा चुका है, इस निरपेक्ष श्रेष्ठता के होते हुए भी अधिक कुशल श्रम वाले देश के यह सर्वोत्तम हित में होगा यदि वह केवल उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन करने में अपनी शक्ति केन्द्रित करे जिनमें वह अधिक तुलनात्मक श्रेष्ठ है।

हम एक सामान्य गुर (formula) निकाल सकते हैं जिससे विभिन्न वस्तुओं से सम्बन्धित विभिन्न देशों की तुलनात्मक श्रेष्ठता का पता लगा सकें। इस प्रकार के गुर को समानतः दो से अधिक देशों तथा दो से अधिक वस्तुओं की स्थिति में भी लागू होना चाहिए। परन्तु प्रारम्भ करने के लिये हमें इस गुर का विवरण दो देशों तथा दो वस्तुओं से सम्बन्धित ही देना चाहिए।

विशिष्टीकरण के प्रश्न का निर्णय करने के लिए हमें दोनों देशों की सम्पूर्ण स्थिति पर विचार करना चाहिए। ऐसा दोनों देशों में एक ही वस्तु की प्रति इकाई लागत की तुलना करके किया जा सकता है। वस्तु का उत्पादन उस देश में होगा जहाँ यह अनुपात सब से कम है। मान लीजिए **अ** और **ब** देशों में **क** वस्तु की प्रति इकाई उत्पादन लागत क्रमशः **य** और **य′** है और अ और **ब** देशों में **ख** वस्तु की प्रति इकाई उत्पादन लागत क्रमशः **र** और **र′** हैं। अब यदि **य/य′** से **र/र′** कम है तब **क** वस्तु का उत्पादन **ब** देश में तथा **ख** वस्तु का उत्पादन **अ** देश में लाभप्रद होगा।

आइये अब उपरोक्त सामान्य गुर को रिकार्डो के उदाहरण पर लागू करें जिसमें इंग्लैण्ड में १ इकाई कपड़े की कीमत १०० घंटे का श्रम है तथा १ इकाई

शराब की कीमत १२० घंटे का श्रम, और पुर्तगाल में एक इकाई कपड़े की कीमत ९० घंटे का श्रम तथा १ इकाई शराब की कीमत ८० घंटे का श्रम है। हमें दोनों देशों में शराब की उत्पादन लागत के अनुपात की तुलना, यथा ८०/१२०, दोनों देशों में कपड़े के उत्पादन लागत के अनुपात, यथा ९०/१००, से करना है। चूंकि ९०/१०० से ८०/१०० कम है, अतः पुर्तगाल शराब के उत्पादन में तथा इंग्लैण्ड कपड़े के उत्पादन में विशिष्टीकरण करेगा। यद्यपि इंग्लैण्ड पुर्तगाल की अपेक्षा दोनों वस्तुओं के उत्पादन में अकुशल है, फिर भी उसे कपड़े के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ हो रहा है तथा पुर्तगाल को शराब के उत्पादन में तुलनात्मक लाभ हो रहा है। विशिष्टीकरण इसी आधार पर होगा तथा दोनों देशों के लिए लाभप्रद होगा।

आलोचनायें. तुलनात्मक लागत का क्लासिकल सिद्धान्त उस आधार को इंगित करता है जिस पर उत्पादन का विशिष्टीकरण होता है तथा उस सीमा को भी प्रदर्शित करता है जहाँ तक विभिन्न देशों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लाभप्रद होगा। इस सिद्धान्त की आलोचना के अनेक आधार हैं। परन्तु हम इस सिद्धान्त का सूक्षम रूप से विश्लेषण करें तो हमें यह ज्ञात होगा कि ये सभी आलोचनायें केवल उपरिष्ठ (superficial) हैं तथा इनसे तुलनात्मक लागत सिद्धान्त की प्रामाणिकता (validity) खण्डित नहीं होती। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को 'श्रम लागत' के रूप में व्यक्त किया क्योंकि वे मूल्य के 'श्रम सिद्धान्त' के समर्थक थे परन्तु हम 'अवसर लागत' के रूप में भी इस सिद्धान्त को व्यक्त कर सकते हैं तथा मूलतः सिद्धान्त में कोई परिवर्तन नहीं होता। अब हम उन आधारों की व्याख्या करेंगे जिन पर इस सिद्धान्त की आलोचनायें की जाती है।

(१) मुद्रा लागत. यह कहा जाता है कि यह सिद्धान्त उस समय लागू नहीं होता जब हम श्रम लागत पर न विचार कर श्रमिकों को दी जाने वाली मजदूरी के रूप में 'मुद्रा लागत' पर विचार करें। यह आलोचना सारहीन है। 'मुद्रा लागत' के आ जाने से यह सिद्धान्त किसी भी प्रकार से अप्रामाणिक नहीं ठहरता। यह केवल इस बात को आवश्यक बना देता है कि इस सिद्धान्त को अधिक सतर्कता के साथ व्यक्त किया जाये। आइये, हम तुलनात्मक लागत के लाभ की ऐसी स्थिति लें जिसमें **अ** देश को दो वस्तुओं में असमान लाभ प्राप्त होता है और वह एक दिन के श्रम से **क** वस्तु की तीन इकाइयों या **ख** वस्तु की दो इकाइयों का उत्पादन करता है, और जब कि **ब** देश एक दिन के श्रम से **क** वस्तु की केवल एक एकाई अथवा **ख** वस्तु की एक इकाई का उत्पादन कर सकता है। अपने उदाहरण को अधिक

वास्तविक बनाने के लिए अ देश को इंग्लैण्ड और ब देश को भारत तथा क वस्तु को मशीन और ख वस्तु को कपड़ा मान लीजिये। इंग्लैण्ड में एक दिन के श्रम को २·७६ रुपये तथा भारत में एक दिन के श्रम को १ रुपया दिया जाता है। अब हम दोनों देशों में दोनों वस्तुओं की प्रति इकाई मौद्रिक उत्पादन लागत जान सकते हैं।

उदाहरण १

	एक दिन के श्रम से उत्पादित इकाइयों की संख्या		एक दिन के श्रम की मजदूरी दर	प्रति इकाई मौद्रिक लागत (रुपयों में)	
	मशीन	कपड़ा		मशीन	कपड़ा
इंग्लैण्ड	३	२	रु० २·७६	०·९२	१·३८
भारत	१	१	रु० १·००	१·००	१·००

उदाहरण १ में मौद्रिक लागत से तुलनात्मक लागत सिद्धान्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता तथा इंग्लैण्ड को मशीन के उत्पादन करने में तुलनात्मक लागत लाभप्रद होता है क्योंकि इंग्लैण्ड में प्रति इकाई उत्पादन लागत ०·९२ रुपये तथा भारत में १ रुपया है। साथ ही भारत को कपड़े के उत्पादन में तुलनात्मक लागत लाभप्रद होता है क्योंकि भारत में प्रति इकाई उत्पादन लागत १ रुपया तथा इंग्लैण्ड में १·३८ रुपया है। यह इस बात को प्रदर्शित करता है कि मौद्रिक लागत के प्रयोग से तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त में कोई अन्तर उपस्थित नहीं होता।

यहाँ पर इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि हम ने जान बूझ कर इंग्लैण्ड में एक दिन के श्रम की मजदूरी दर को भारत की मज़दूरी दर के तिगुने से थोड़ा ही कम रखा है। यदि इंग्लैण्ड में मज़दूरी दर भारत की मज़दूरी दर के या तो तिगुने से अधिक होती अथवा दुगुने से कम तब तुलनात्मक लागत का क्लासिकल सिद्धान्त अनुपयोगी हो जाता तथा यह तुलनात्मक लागत लाभ के आधार पर विशिष्टीकरण की सीमा को समझाने में असमर्थ हो जाता।

	१ दिन के श्रम से उत्पादित इकाइयों की मात्रा		१ दिन के श्रम की मजदूरी दर	प्रति इकाई मौद्रिक उत्पादन लागत (रुपयों में)	
	मशीन	कपड़ा		मशीन	कपड़ा
उदाहरण २					
इंग्लैण्ड	३	२	रु० ३·३६	१·१२	१·६८
भारत	१	१	रु० १·००	१·००	१·००

उदाहरण ३

इंग्लैण्ड	३	२	रु० १·८०	०·६०	०·९०
भारत	१	१	रु० १·००	१·००	१·००

जैसा कि उदाहरण २ में दिखलाया गया है, यदि इंग्लैण्ड में मजदूरी दर भारत के तिगुने से अधिक है, यथा जब भारत में मज़दूरी १ रुपया है तब इग्लैंड में एक दिन के श्रम के लिये ३·३६ रुपया दिया जाता है, तब भारत को दोनों वस्तुओं में निरपेक्ष लाभ होने लगता है, जबकि श्रम लागत के रूप मे व्यक्त तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार उसे केवल कपड़े के उत्पादन में ही लाभ हो रहा था। इस प्रकार यद्यपि श्रम लागत के रूप में इंग्लैंड को मशीन में तथा भारत को कपड़े में तुलनात्मक लाभ होता है, परन्तु मौद्रिक मजदूरी को चित्र मे लाने के फलस्वरूप इंग्लैण्ड मशीन तथा कपड़ा दोनों के उत्पादन में निरपेक्ष हानि होनी है। उदाहरण ३ में एक दिन के श्रम की मजदूरी इंग्लैण्ड में १·८० रुपया तथा भारत में १ रुपया है। इसका अर्थ यह हुआ कि इंग्लैण्ड मे मजदूरी भारत के दुगुने से कम है। इस स्थिति में इंग्लैण्ड को दोनों वस्तुओं में निरपेक्ष लाभ प्राप्त होता है।

यह इस बात को प्रदर्शित करता है कि तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त पर मौद्रिक लागत के रूप में विचार करते समय हमें इस बात पर ध्यान देना होगा कि विभिन्न देशों में मजदूरी श्रमिकों की उत्पादन क्षमता से सम्बद्ध है। हमारे उदाहरण में यदि इंग्लैण्ड में श्रम भारतीय श्रम की अपेक्षा कपड़े के उत्पादन के लिये कम से कम दुगुना तथा मशीन के उत्पादन के लिए तिगुना कुशल है तब तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की मान्यता के लिये यह आवश्यक है कि इंग्लैण्ड में प्रतिदिन के श्रम की मजदूरी भारतीय श्रम की अपेक्षा दुगुने से कम तथा तिगुने से अधिक नहीं होनी चाहिए। यह दो देशों में श्रम की मजदूरी को उसकी कार्यक्षमता के अनुकूल रखने के लिये आवश्यक है। यदि ऐसा है तब तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त मौद्रिक मजदूरी के रूप में भी मान्य होता है। परन्तु यदि इंग्लैण्ड में मजदूरी भारत के तिगुने से अधिक है (जैसा कि उदाहरण २ में हैं) अथवा दुगुने से कम (जैसा कि उदाहरण ३ में हैं) तब दोष तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त का नहीं है वरन् इस बात का है कि मजदूरी कार्यक्षमता से सम्बद्ध नही है।

यह विवरण एक अतिरिक्त विषय पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। कभी-कभी यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि, उदाहरण के लिए, जापान, चीन तथा भारत को विश्व बाजार में प्रतियोगी लाभ प्राप्त है क्योंकि इन देशों में मजदूरी

पश्चिमी जर्मनी, इंग्लैड तथा अमेरिका की अपेक्षा कम है। यह तर्क भ्रांमक (fallacious) है क्योंकि यदि हम इस बात को स्वीकार करें कि भारत, चीन तथा जापान के श्रमिक की क्षमता पश्चिमी जर्मनी, इंग्लैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के श्रमिकों की अपेक्षा कम है, तब पहले के देशों में मजदूरी कम होगी ही, और यदि इन देशों की मजदूरी पश्चिमी जर्मनी, इंग्लैड तथा अमेरिका की मजदूरी के समान बना दी जाये, तो इन देशों को पूर्व के देशों के ऊपर कृत्रिम लाभ होगा। विभिन्न देशों की मजदूरी दरों को अलग-अलग होना इसलिये आवश्यक है जिससे मजदूरी दर विभिन्न देशों के श्रमिकों की सापेक्ष्य क्षमता के अनुरूप हो सके।

(२) दो से अधिक वस्तुएँ. यह कहा जाता है कि तुलनात्मक लागत का क्लासिकल सिद्धान्त केवल उसी समय लागू होता है जब दो वस्तुएँ तथा दो देश होते हैं और यह उस समय लागू नहीं होता जब दो से अधिक वस्तुएँ होती हैं। परन्तु यह सत्य नहीं है। यदि दो देश तथा दो से अधिक वस्तुयें हैं तब दोनों देशों की प्रत्येक वस्तुओं की लागत के अनुपातों को अवरोही क्रम (descending order) में रखा जा सकता है, जैसा कि नीचे दिखलाया गया है:

$$\frac{क_1}{क_2} \angle \frac{ख_1}{ख_2} \angle \frac{ग_1}{ग_2} \quad \Big| \quad \frac{घ_1}{घ_2} \angle \frac{य_1}{य_2}$$

इस उदाहरण में **अ** देश में $क_1$, $ख_1$, $ग_1$, $घ_1$ तथा $य_1$ क्रमशः **क, ख, ग, घ**, और **य** वस्तुओं की उत्पादन हैं, तथा $क_2$, $ख_2$, $ग_2$, $घ_2$ और $य_2$ क्रमशः **ब** देश में वस्तुओं की उत्पादन लागतें हैं।

विभाजक रेखा की बाईं ओर की वस्तुयें—अर्थात् जिनकी लागत क, ख, ग द्वारा व्यक्त की गयी है **अ** देश द्वारा उत्पादित (निर्यात) होंगी तथा जिनकी लागतें घ और य द्वारा व्यक्त की गई हैं वे **ब** देश द्वारा उत्पादित (निर्यात) होंगी। ऐसा इसलिए है क्योंकि लागत अनुपात यह बतलाता है कि **अ** देश को प्रथम तीन वस्तुओं के उत्पादन में लाभ हो रहा है तथा **ब** देश को शेष दो वस्तुओं के उत्पादन में लाभ हो रहा है। चूँकि हम ने लागत अनुपात को अवरोही क्रम में रखा है इसलिए **अ** देश को विभिन्न वस्तुओं में लाभ उसी क्रम में हो रहा है जिस क्रम में वे लागत अनुपात में दिखलाई गई हैं। यह उन वस्तुओं का निर्यात करेगा जिनमें उसकी लागत **ब** देश की अपेक्षा कम है तथा उन वस्तुओं का आयात करेगा जिनमें उसकी लागत **ब** देश की अपेक्षा अधिक है। इस सम्बन्ध में इस बात का निर्णय करना महत्वपूर्ण है कि आयात तथा निर्यात सम्बन्धी विभाजक रेखा किस स्थान पर खींची जायें। यह दोनों देशों के भुगतान सन्तुलन की स्थिति पर आधारित है। **अ** देश उतनी वस्तुओं का निर्यात करेगा

जितनी ब देश के आयातों के भुगतान करने के लिये पर्याप्त होंगी। यदि व्यापार की शर्तें अ के प्रतिकूल हैं तब विभाजक रेखा अधिक दाहिनी ओर होगी। परन्तु यदि व्यापार की शर्तें अ के अनुकूल हैं, अर्थात अ देश को ब की आयातों के बदले में कम वस्तुओं को देना पड़ता है, तब विभाजक रेखा अधिक बाईं ओर होगी तथा अ देश को कम वस्तुओं का निर्यात ब देश के आयात के बदले में करना पड़ेगा। यह इस बात को प्रदर्शित करता है कि तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त दो से अधिक वस्तुओं की स्थिति में भी समान रूप से लागू होता है।

(३) दो से अधिक देश. यदि दो से अधिक वस्तुयें तथा दो से अधिक देश हैं तब लघुगणकीय पैमाने (logarithmic scale) पर लागत अनुपातों को इंगित किया जा सकना सम्भव है, जैसा कि एजवर्थ (Edgeworth) ने किया था। इससे सीधे-सीधे लागत अनुपातों को पढ़ा जा सकता है तथा यह ज्ञात किया जा सकता है कि किस देश से किस वस्तु का आयात होगा तथा किस से निर्यात।

(४) परिवहन लागत. क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने यह मान लिया था कि दो देशों के व्यापार में परिवहन लागत कुछ भी नहीं लगती। परन्तु यदि परिवहन लागत है भी तब तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त खण्डित नहीं होता। इससे केवल व्यापार की लाभप्रद सीमायें संकुचित हो जाती हैं। उपरोक्त उदाहरण १ में दोनों देशों में प्रति इकाई उत्पादन लागत परिवहन लागत के साथ तथा बिना परिवहन लागत के (यदि हम यह मान लें कि निर्यात ही दोनों दशाओं में प्रति इकाई परिवहन व्यय देता है) निम्नलिखित प्रकार से होगी :

	परिवहन लागत के बिना		परिवहन लागत के साथ	
	मशीन	कपड़ा	मशीन	कपड़ा
इंग्लैण्ड	०·९२	१·३८	०·९८	१·३८
भारत	१·००	१·००	१·००	१·०१

यदि इंग्लैण्ड मशीन की प्रति इकाई पर ०·०६ रु० परिवहन लागत देता है तब भारतीय क्रेता के लिए प्रति इकाई मशीन की कीमत बढ़कर ०·९८ रुपये हो जाती है। तथा यदि भारतीय निर्यातक ०·०१ रु० प्रति इकाई कपड़े पर परिवहन लागत देता है तब इंग्लैंड के क्रेता के लिए प्रति इकाई कपड़े की कीमत बढ़कर १·०१ रु० हो जाती है। इस प्रकार परिवहन लागत के होते हुए भी तुलनात्मक लागत का लाभ रहता है। "यह जटिलता किसी भी प्रकार से इस परिकल्पना को परिवर्तित नहीं कर पाती कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन प्रत्येक देश के लिये लाभप्रद होता है। यह सत्य है कि श्रम विभाजन उस सीमा तक नहीं होगा जिस सीमा तक इस मान्यता के अन्तर्गत होता कि वस्तुएँ बिना परिवहन लागत के भेजी जा सकती हैं। परिवहन व्यय के भुगतान करने की आवश्यकता से संसार उस स्थिति

में अधिक गरीब हो जाता है जब सभी वस्तुयें सबसे उपयुक्त स्थान में उत्पादित होतीं तथा बिना किसी लागत के दूसरे देशों में भेजी जा सकतीं। परन्तु जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार परिवहन लागत के होते हुए भी होता रहा है वहाँ तक यह अवश्य लाभपूर्ण है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उसी समय होगा जब श्रम विभाजन के लाभ परिवहन व्यय से अधिक होते हैं"।

(५) वृद्धिमान तथा ह्रासमान लागत की स्थिति. क्लासिकल अर्थशास्त्रियों द्वारा वर्णित तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त में यह मान लिया गया है कि ज्यों-ज्यों अधिक इकाइयों का उत्पादन होता है, उत्पादन लागत स्थिर रहती है। ऐसा केवल सुविधा के लिये किया गया था। परन्तु यदि जब ह्रासमान तथा वृद्धिमान लागत होती है तब तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त में कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं हो जाता।

मान लीजिए निर्यात की बढ़ी हुई मांग की पूर्ति करने के लिए ज्यों ज्यों अधिक इकाइयों का उत्पादन होता है त्यों त्यों दोनों देशों की निर्यात की जाने वाली पदार्थों की प्रति इकाई उत्पादन लागत में कमी होती जाती है। इस स्थिति में, जब निर्यात में वृद्धि होती है तब निर्यात पदार्थ की उत्पादन लागत में कमी होती जाती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का क्षेत्र व्यापक होता जाता है। इसे एक उदाहरण से प्रदर्शित किया जा सकता है। ऊपर दी हुई उदाहरण १ में प्रति इकाई मौद्रिक लागत को सीमान्त लागत मान लिया जाये। इंग्लैड में मशीन की प्रति इकाई उत्पादन लागत ०·९२ रुपया है और यदि उत्पादन वृद्धिमान प्रतिफल अथवा ह्रासमान लागत के अन्तर्गत होता है तब लागत ०·९०, ०·८५, ०·७०, रुपये हो कर इसी तरह घटती जायेगी क्योंकि आयातक देश की अधिकाधिक मांग की पूर्ति के लिए अधिक वस्तुओं का उत्पादन होगा। इसी प्रकार भारत में कपड़े की उत्पादन लागत १·०० रुपया प्रति इकाई से घटकर ०·९०, ०·८०, ०·७० होकर इसी प्रकार और भी कम होती जायेगी जैसे जैसे आयातक देश में मांग बढ़ती जायेगी। यह इस बात को प्रदर्शित करता है कि निर्यात वस्तु के उद्योगों में ह्रासमान लागत होने से निर्यातक देश के लागत लाभ में वृद्धि हो जाती है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का क्षेत्र अधिक व्यापक हो जाता है। इसके विपरीत यदि निर्यातक वस्तुओं का उत्पादन ह्रासमान प्रतिफल अथवा वृद्धिमान लागत के अन्तर्गत होता है तब दोनों देशों में निर्यात वस्तुओं की उत्पादन लागत बढ़ जायेगी तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो जायेगा और सम्भवतः बिल्कुल ही समाप्त हो जाये। परन्तु इससे तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त नहीं खण्डित होता तथा प्रतिफल नियमों द्वारा उत्पन्न की गई जटिलतायें अन्य जटिलताओं के समान कोई विशेष अन्तर नहीं उपस्थित करतीं। "श्रम विभाजन वास्तव

में होगा परन्तु स्थिर लागत की स्थिति की अपेक्षा बहुत ही कम होगा क्योंकि जब इसके क्षेत्र में विस्तार होता है तब एक देश की तुलनात्मक हानि (सीमा पर) कम होने लगती है तथा अन्त में समाप्त हो जाती है। यदि हम लागत-आँकड़ों को सीमान्त (वृद्धिमान) लागत से सम्बद्ध करें, स्थिर लागत से नहीं, तब एक देश की तुलनात्मक हानि कम होगी; तथा श्रम विभाजन उस सीमा से अधिक करना लाभप्रद नहीं होगा जब वृद्धिमान लागत दोनों देशों के 'लागत-अन्तर, को बिल्कुल समाप्त कर देती है। परन्तु इस सीमा तक श्रम विभाजन करना लाभप्रद होगा।"

(६) अवसर लागत. तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि यह श्रम लागत के रूप में व्यक्त किया गया है, जबकि आजकल मूल्य का सिद्धान्त बिल्कुल तिरस्कृत कर दिया गया है। यह तर्क दिया जाता है कि इससे यह सिद्धान्त बिल्कुल खण्डित हो जाता है। परन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को श्रम लागत के रूप में व्यक्त किया है परन्तु हम इसे समान रूप में निम्न-लिखित ढँग से 'अवसर लागत' के रूप में भी व्यक्त कर सकते हैं :

	१ दिन के श्रम द्वारा उत्पादित इकाइयों की मात्रा		प्रति इकाई तुलनात्मक उत्पादन लागत			
			श्रम लागत के रूप में[1]		**अवसर लागत के रूप में**[2]	
	वस्तु क	वस्तु ख	वस्तु क	वस्तु ख	वस्तु क	वस्तु ख
देश अ	३	२	$\frac{1}{3}$	$\frac{1}{2}$	$\frac{2}{3}$ ख	१$\frac{1}{2}$ क
देश ब	१	१	१	१	१ ख	१ क

१. प्रति इकाई श्रम लागत से तात्पर्य है एक वस्तु के उत्पादन के लिए वांछित श्रम दिनों की संख्या। चूँकि अ देश में १ दिन का श्रम क वस्तु की तीन इकाइयाँ पैदा कर सकता है, इसलिये अ देश में १ इकाई क वस्तु के उत्पादन की श्रम लागत $\frac{1}{3}$ श्रम दिन के समान होगी। इसी प्रकार अ देश में ख वस्तु की १ इकाई के उत्पादन करने में आधे दिन का श्रम लगेगा।

२. अवसर लागत का अर्थ होता है व्यक्त विकल्प (foregone alternative) की लागत। इसका अर्थ यह है कि अ देश में क वस्तु की १ इकाई का उत्पादन करने के लिए ब वस्तु की $\frac{2}{3}$ इकाइयों का परित्याग करना होगा जिसका उत्पादन अ देश में क की १ इकाई के बदले में हो पाता। इसी प्रकार अ देश में ख वस्तु की एक इकाई की अवसर लागत क वस्तु की १$\frac{1}{2}$ इकाइयाँ होंगी जिनका उत्पादन अ देश में ख की १ इकाई के बदले में हो गया होता।

यह इस बात को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करती है कि अवसर लागत के अनुसार भी अ देश को क वस्तु के उत्पादन में लाभ हो रहा है क्योंकि अ देश में इस वस्तु की 'अवसर लागत' ($\frac{२}{३}$ ख) ब देश से कम (१ ख) है तथा ब देश को ख वस्तु के उत्पादन में लाभ हो रहा है क्योंकि ब देश में इसकी उत्पादन लागत (अर्थात १ क) अ देश की अपेक्षा (अर्थात १$\frac{१}{२}$ क) कम है।

इसलिये हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तुलनात्मक लागत का क्लासिकल सिद्धान्त मूलतः ठीक है। इसके विरुद्ध सभी आलोचनायें किसी भी प्रकार से इसकी सत्यता को नष्ट नहीं करतीं। वे केवल यह दिखलाती हैं कि आधुनिक मूल्य के सिद्धान्त के रूप में इसे व्यक्त करने की आवश्यकता है।

निर्यात-आयात मूल्यों का अनुपात (Terms of trade)

तुलनात्मक लागत का क्लासिकल सिद्धान्त इस अर्थ में अपूर्ण है कि यह निर्यात आयात मूल्यों के अनुपात, व्यापार से हुए लाभ तथा अन्य सम्बन्धित समस्याओं पर विचार नहीं करता। तब से अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यों के सिद्धान्त की यह कमी पूरी की जा सकी है।

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त उन सीमाओं को निर्धारित करता है जिनके भीतर व्यापार सम्भव होता है। परन्तु यह इस बात को नहीं बतलाता कि किस अनुपात में वस्तुओं का विनिमय होगा। यह सूचना हमें निर्यात-आयात मूल्यों के अनुपात (terms of trade) द्वारा प्राप्त होती है जिसे मार्शल के अनुसार 'अन्तर्परिवर्तन की दर', टाउज़िग के अनुसार 'व्यापार की वस्तु विनिमय दर' तथा पीगू के अनुसार 'अन्तर्परिवर्तन का वास्तविक अनुपात' कहा जाता है। निर्यात-आयात मूल्यों का अनुपात उस अनुपात के बराबर होता है जिस अनुपात में क और ख वस्तुओं का आपस में विनिमय होता है। हम ने जो उदाहरण लिया है उसमें अ देश में जिस अनुपात में दो वस्तुओं का विनिमय होता है वह १ क $=\frac{२}{३}$ ख तथा ब देश में विनिमय अनुपात है १ क $=$ १ ख। परन्तु निर्यात-आयात मूल्यों का अनुपात इन दो सीमाओं के भीतर कहीं भी निश्चित हो सकता है। यदि ये १ क $=\frac{२}{३}$ ख के निकट निश्चित होता है तब ये ब देश के अनुकूल है क्योंकि इस स्थिति में यह देश क वस्तु की १ इकाई को ख वस्तु की १ से कम इकाई देकर, जो ब देश में विनिमय दर है, प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार यदि ये अनुपात १ क $=$ १ ख के निकट निश्चित होता है तब ये अ देश के लिये अनुकूल है।

पारस्परिक मांग का सिद्धान्त. दोनों देशों में निर्यात-आयात मूल्यों के अनुपात का निर्धारण एक सिद्धान्त के द्वारा होता है जिसे जे० एस० मिल ने पारस्परिक

मांग (reciprocal demand) का सिद्धान्त कहा है। इस सिद्धान्त के अनुसार "संस्थिति की स्थापना दो वस्तुओं के उस विनिमय अनुपात पर होगी जिस पर प्रत्येक देश की वस्तुओं की परिमाणात्मक मांग, जिसका आयात वह दूसरे देश से करता है, एक दूसरे के भुगतान के लिए ठीक पर्याप्त हो"। इसमें जो दो महत्वपूर्ण बाते हैं वे हैं: (१) "एक दिये हुए अनुपात पर मांग की गई मात्रा का आकार (इसलिए पूर्ति की मात्रा)—जो प्रत्येक देश की एक बाजार तथा एक उत्पादक के रूप में क्षमता पर आधारित है ; तथा (२) मांग की लोच—अनुपात में सुधार के फलस्वरूप हुई वृद्धि की सीमा (अर्थात् सापेक्ष्य कीमत में परिवर्तन.)।"

मान लीजिए **अ** देश (जो **क** वस्तु का उत्पादन करता है) **ब** देश की अपेक्षा बड़ा है तथा **ब** देश द्वारा उत्पादित **ख** वस्तु के अवशोषण (absorb) करने की इसकी क्षमता भी अधिक है। इस स्थिति में व्यापार की स्थिति **ब** देश के अधिक अनुकूल होगी क्योंकि प्रत्येक देश की परिमाणात्मक मांग की संस्थिति में **क** वस्तु की कुल मात्रा, जिसका विनिमय **ख** वस्तु से होना है, अधिक होगी। इसका कारण यह है कि **अ** देश **ब** की अपेक्षा बड़ा है तथा इसकी कुल प्रदा तथा मांग **ब** देश से अधिक है जिसकी प्रदा तथा मांग कम है। दूसरे, "अन्य परिस्थितियों के समान रहने पर, उस देश के लिए अनुपात अधिक अनुकूल होगा जिसकी मांग दूसरे देश द्वारा निर्यात की वस्तुओं के लिए कम लोचपूर्ण होगी तथा इस देश से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के लिए दूसरे देश में मांग अधिक लोचपूर्ण हो"। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यापार की स्थिति **अ** देश के लिए प्रतिकूल होगी यदि **ब** देश द्वारा उत्पादित **ख** वस्तु के लिए इस देश की मांग **अ** देश द्वारा उत्पादित **क** वस्तु के लिए **ब** देश की मांग की अपेक्षा कम लोचपूर्ण है। ऐसा इसलिये है क्योंकि उसकी जब मांग की कम लोचपूर्णता के कारण **ख** वस्तु का मूल्य **क** वस्तु के रूप में बढ़ता है तब **अ** देश अपने द्वारा उत्पादित पदार्थों की अधिक इकाइयाँ **ब** देश में उत्पादित वस्तुओं (**ख**) के बदले में देना पसन्द करेगा न कि उस वस्तु का परित्याग करेगा। इसके विपरीत, यदि **अ** देश की **ख** वस्तु के लिये मांग अधिक लोचपूर्ण है—जिसका अर्थ यह है कि इसकी कीमत में वृद्धि होने के कारण वह अतिरिक्त इकाइयों की माँग नहीं करेगा—तब व्यापार की स्थिति **अ** देश के अधिक अनुकूल हो जायेगी।

अब तक केवल दो वस्तुओं की स्थिति पर ही विचार किया गया है परन्तु जब अनेक वस्तुयें रहती हैं तब किसी देश के व्यापार की निवल स्थिति (net terms of trade) जानने की एक विधि यह है कि निर्यात मूल्य निर्देशाँक तथा आयात मूल्य निर्देशांक का अनुपात लिया जाये। जब यह अनुपात बढ़ता है तब

व्यापार की स्थिति सम्बन्धित देश के अधिक अनुकूल होती है तथा इसके विपरीत जब अनुपात कम रहता है तब व्यापार की स्थिति सम्बन्धित देश के प्रतिकूल होती है। इस बात को भारत के १९४८-४९ तथा १९५१-५२ के व्यापार की स्थिति के उदाहरण से समझाया जा सकता है।

भारत के आयात-निर्यात मूल्यों में अनुपात का निर्देशांक

	१९४८-४९	१९४९-५०	१९५०-५१	१९५१-५२
आयातों का मूल्य निर्देशांक	१००	९८	१०६	१४७
निर्यातों का मूल्य निर्देशांक	१००	१०५	१२९	१७८
निर्यात-आयात मूल्यों के निवल अनुपात	१००	१०७	१२२	१२१

१९४८-४९ के आधार के रूप में, हम देखते हैं कि १९४९-५० में आयात मूल्य निर्देशाँक घट कर ९८ हो गया तथा निर्यात मूल्य निर्देशांक बढ़कर १०५ हो गया जिससे निर्यात-आयात मूल्यों का निवल अनुपात १०७ हो गया। इसका अर्थ यह हुआ कि सापेक्षिक कीमतों में परिवर्तन के फलस्वरूप भारत को लाभ हुआ क्योंकि उसे आयातों की प्राप्ति सस्ते में हुई तथा निर्यातों को महँगे दामों पर बेचा गया। १९५०-५१ में आयात की गई वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हुई तथा आयात कीमत निर्देशांक १०६ हो गया जबकि निर्यात की गई वस्तुओं के मूल्य में काफी वृद्धि हुई तथा निर्यात कीमत निर्देशाँक १२९ हो गया। इससे भारत के व्यापार की निवल स्थिति और भी सुधर कर १२२ हो गई। इसके विपरीत, १९५१-५२ में आयात और निर्यात कीमतों में और भी वृद्धि हुई परन्तु आयात कीमतों में निर्यात की अपेक्षा अधिक अनुपातिक वृद्धि हुई। परिणामतः व्यापार की स्थिति भारत के लिए कुछ कम अनुकूल हुई तथा वास्तविक व्यापार की निवल स्थिति का निर्देशांक घट कर १२१ हो गया।

व्यापार से लाभ

लाभ का स्वरूप. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का आधार ही यह है कि इससे सभी पक्षों को पारस्परिक लाभ होना चाहिए। यदि भारत कार, रेडियो, मशीन तथा अन्य प्राविधिक सम्भारों का इंग्लैण्ड से आयात करता है तथा इंग्लैण्ड भारत से कच्चा जूट और चाय का आयात करता है, तब इसका अर्थ यह होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अभाव में इन देशों को ये वस्तुएँ या तो उपलब्ध ही नहीं हो सकतीं अथवा यदि ये इनका उत्पादन स्वयं करते तो बहुत ऊंची लागतों पर

उत्पादन सम्भव होता । दोनों में से किसी भी स्थिति में दोनों देशों को हानि होती । अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से यह लाभ होता है कि (१) विभिन्न देश उन वस्तुओं को प्राप्त कर सकते हैं जिनका उत्पादन वे स्वयं नहीं कर सकते, तथा इस प्रकार वे अपने देश के लोगों का जीवन स्तर सुधार सकते हैं, और (२) वे इन वस्तुओं को बहुत ही सस्ते मूल्यों पर प्राप्त कर सकते हैं जितने सस्ते मूल्यों पर वे स्वयं उत्पादन नहीं कर सकते ।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण पर आधारित है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार स्वतन्त्र है तो वस्तुओं का उत्पादन उस क्षेत्र में किया जाना सम्भव है जो उसके उत्पादन के लिए सब से उपयुक्त है जिससे श्रम विभाजन के सभी लाभ प्राप्त हो सकेंगे । इससे वस्तुओं का उत्पादन अधिक मात्रा में तथा कम लागत पर आन्तरिक तथा वाह्य दोनों बाजारों के लिए सम्भव होता है । अतः, विशिष्टीकरण तथा बड़े पैमाने के उत्पादन के परिणामस्वरूप प्रत्येक देश दूसरों द्वारा सस्ते मूल्यों पर उत्पादित वस्तुओं को प्राप्त कर सकता है ।

यद्यपि सामान्यतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सभी पक्षों के पारस्परिक लाभ का होता है, फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि सभी स्थितियों में लाभ हो ही । कुछ विशेष स्थितियों को सोच लेना सम्भव है जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ के स्थान पर हानि हो । मार्शल ने इस प्रकार का एक उदाहरण दिया है । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उस स्थिति में लाभप्रद नहीं होगा जब निर्यात की जाने वाली वस्तुओं का उत्पादन ह्रासमान प्रतिफल अथवा वृद्धिमान लागत के अन्तर्गत हो रहा है । यदि निर्यात वस्तुओं का उत्पादन वृद्धिमान प्रतिफल अथवा ह्रासमान लागत के अन्तर्गत होता है तब ज्यों ज्यों उत्पादन में वृद्धि होती है त्यों त्यों वस्तुयें सस्ते मूल्यों पर बिकती जाती हैं। परन्तु यदि ह्रासमान प्रतिफल की स्थिति है तथा उत्पादन वृद्धिमान प्रति इकाई लागत पर होता है तब ज्यों ज्यों अधिक वस्तुओं का उत्पादन होता जाता है त्यों त्यों प्रति इकाई उत्पादन लागत बढ़ती जाती है। ऐसी स्थिति में व्यापार का क्षेत्र संकुचित हो जाता है तथा यदि व्यापार चलता रहा तो ऐसा भी सम्भव है कि लाभ होने के स्थान पर हानि होने लगे । अतः जब निर्यात की जाने वाली वस्तुओं का उत्पादन वृद्धिमान लागत के अन्तर्गत होता है तब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार करना अधिक लाभप्रद नहीं हो सकता । टाउज़िग ने एक ऐसी स्थिति का वर्णन किया है जहाँ पर लोगों की आयात वस्तुओं की मांग घट जाती है । इस स्थिति को एक उदाहरण से समझाया जा सकता है । मान लीजिए किसी देश में लोग ऐस्परीन (asperin) का प्रयोग करते हैं तथा वे इस वस्तु को विदेश से मंगाते हैं तथा इसे तीन वर्ष तक मंगाने के लिए एक समझौता कर लिये हैं।

अब यदि लोग ऐस्परीन का प्रयोग बन्द भी कर दें तब भी उन्हें इसको मंगाना ही पड़ेगा क्योंकि उन लोगों ने ऐसा समझौता कर रखा है। इस प्रकार के व्यापार से लोगों को लाभ नहीं होगा। ऐसी सभी स्थितियों में जहाँ लोग परिस्थिति से बाध्य हो कर उन वस्तुओं का क्रय करते हैं जिन्हें या तो वे बिल्कुल ही नहीं पसन्द करते अथवा जो उतनी प्रिय नहीं हैं जितना कि उनके लिए लोग भुगतान करते हैं, तब ऐसी दशा में व्यापार से लाभ नहीं हो सकता। परन्तु ऐसी स्थितियाँ केवल अपवाद स्वरूप होती हैं। सामान्यतः हम इस सही निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि सभी सम्बन्धित पक्षों के लिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लाभप्रद होता है।

लाभ की सीमा. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ की सीमा (१) निर्यात-आयात मूल्यों के अनुपात पर तथा (२) विभिन्न देशों में संगठन तथा विभिन्न उत्पादन के साधनों की सापेक्ष्य क्षमता पर आधारित है। हमारे उदाहरण में चूँकि अ देश में एक दिन के श्रम से या तो **क** वस्तु की ३ इकाइयाँ या **ख** की २ इकाइयाँ उत्पादित की जा सकती हैं, अतः आन्तरिक विनियम दर १ क = $\frac{२}{३}$ **ख** के होगा। इसी प्रकार चूँकि **ब** देश में एक दिन के श्रम से १ इकाई **क** की अथवा १ इकाई **ख** की उत्पादित कीं जा सकती है इसलिए इस देश में विनिमय दर १क = १**ख** होगी। मान लीजिए निर्यात-आयात मूल्यों का अनुपात १ **क** = $\frac{३}{४}$ **ख** है। इस दशा में अ देश को $\frac{१}{१२}$ **ख** प्रति इकाई लाभ (अर्थात $\frac{३}{४}$ ख — $\frac{२}{३}$ ख) होता है क्योंकि यदि अ देश **ख** वस्तु का उत्पादन स्वयं किये होता तो उसे उसी समय में **ख** वस्तु की $\frac{२}{३}$ इकाई प्राप्त होतीं परन्तु विनिमय से उसे **ख** की $\frac{३}{४}$ इकाई मिलती हैं। इसलिये व्यापार के परिणामस्वरूप **क** वस्तु की प्रति इकाई निर्यात पर $\frac{१}{१२}$ **ख** लाभ होता है। इसी प्रकार यदि **ब** देश आयात करने के स्थान पर **क** वस्तु का उत्पादन स्वयं करता है तब उसे १ **क** के उत्पादन के लिये १ **ख** का परित्याग करना पड़ता हैं, परन्तु व्यापार से वह केवल $\frac{३}{४}$ **ख** देकर १ **क** प्राप्त कर लेता है जिससे उसे $\frac{१}{४}$ **ख** का लाभ होता है।

अब यदि व्यापार की स्थिति अ देश के लिए और भी प्रतिकूल हो जाती है तथा १ **क** = $\frac{२}{३}$ **ख** या इसके अत्यन्त निकट हो जाता है तब अ देश को अत्यन्त ही कम अथवा बिल्कुल ही नही लाभ होता है। इसके विपरीत यदि व्यापार की स्थिति **ब** देश के अधिक प्रतिकूल हो जाती है तथा या तो १ **क** = १ **ख** अथवा इसके बहुत निकट हो जाती है तब **ब** देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से या तो बहुत ही कम या बिल्कुल ही लाभ नहीं होगा। इस प्रकार किसी भी देश के लाभ की सीमा व्यापार की स्थिति पर आधारित है।

लाभ की सीमा दोनों देशों के श्रम (तथा अन्य उत्पादन के साधनों) की सापेक्ष्य क्षमता पर भी आधारित है। मान लीजिये यदि हम उपरोक्त उदाहरण के स्थान पर निम्नलिखित उदाहरण लेते हैं जिसमें **अ** देश के श्रम की क्षमता **ब** देश के श्रम से अधिक से अधिक ५ गुनी तथा कम से कम दुगुनी है। इस स्थिति में **अ** देश में

१ दिन के श्रम से उत्पादित इकाइयों की मात्रा

	वस्तु **क**	वस्तु **ख**
देश **अ**	५	२
देश **ब**	१	१

विनिमय दर १ **क**=$\frac{२}{५}$ **ख** तथा **ब** देश में विनिमय दर १ **क**=१ **ख** है। यदि इन दशाओं में व्यापार की स्थिति पूर्ववत ही हो अर्थात १ **क**=$\frac{३}{४}$ **ख** हो तब **ब** देश को **ख** वस्तु की प्रति इकाई निर्यात पर उतना ही लाभ अर्थात $\frac{१}{४}$ **ख** होगा, परन्तु **क** की प्रति इकाई निर्यात पर **अ** देश का लाभ बढ़ कर $\frac{७}{२०}$ **ख** (अर्थात $\frac{३}{४}$ **ख**—$\frac{२}{५}$ **ख**) हो जाता है। यह इस बात को प्रदर्शित करता है कि **ब** देश के लाभ की सीमा में वृद्धि उस देश के श्रम की सापेक्ष्य क्षमता में वृद्धि के साथ-साथ होती है।

अध्याय १२

मुक्त व्यापार तथा संरक्षण

(Free Trade versus Protection)

व्यावसायिक नीति, अर्थात वस्तुओं तथा सेवाओं के आयात तथा निर्यात की दशाओं तथा शर्तों सम्बन्धी सरकार की नीति, की एक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक समस्या मुक्त व्यापार तथा संरक्षण की है। अन्य शब्दों में, समस्या यह है कि बिना किसी प्रकार के नियन्त्रण के वस्तुओं के आयात और निर्यात को होने देना चाहिए जिसका अर्थ है मुक्त व्यापार अथवा व्यापार पर टैरिफ तथा अन्य नियन्त्रण लगाना चाहिए जिसे संरक्षण कहा जाता है।

मुक्त व्यापार

क्लासिकल अर्थशास्त्री एडम स्मिथ, रिकार्डो तथा अन्य मुक्त व्यापार के पक्ष में थे तथा यह सिद्धान्त १७७६ से लगभग १०० वर्ष तक बहुत ही प्रसिद्ध और प्रचलित था। आज भी कुछ ऐसे अर्थशास्त्री हैं—जैसे प्रोफेसर लाएनेल राबिन्स, तथा जी वॉन हबर्लर—जो मुक्त व्यापार के समर्थक हैं और संरक्षण के विरुद्ध इसका समर्थन बहुत जोरों के साथ करते हैं। परन्तु आजकल विश्व में कहीं भी मुक्त व्यापार नहीं है और सभी देश संरक्षण की नीति तथा छोटे या बड़े पैमाने पर नियन्त्रित व्यापार का अनुसरण करते हैं। फिर भी यह अधिकाधिक अनुभव किया जा रहा है कि मुक्त व्यापार नियन्त्रित व्यापार से श्रेष्ठ होता है। परिणाम-स्वरूप, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ (International Trade Organisation) का हवाना चार्टर तथा जनरल एग्रीमेन्ट आन टैरिफ एण्ड ट्रेड ने उन नियन्त्रणों तथा टैरिफ के हटाने की व्यवस्था की है जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अवरुद्ध होता है। यदि ये नियन्त्रण हटा दिये जायें तब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार अधिक स्वतन्त्र रूप से होगा जिससे सभी देशों का सर्वांगीण आर्थिक विकास अधिक होगा तथा सभी लोगों को अधिक आर्थिक समृद्धि मिलेगी।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन उत्पादन लागत को कम करता है तथा वस्तुओं के गुणों में सुधार करता है। श्रम विभाजन किसी उद्योग से सम्बन्धित बाजार की सीमा पर आधारित है तथा व्यापार की सीमा जितनी ही अधिक व्यापक होगी उतना ही अधिक, स्थानीय कुशलता तथा कच्चे माल इत्यादि की उपलब्धि पर, श्रम विभाजन और विशिष्टीकरण होगा। चूँकि मुक्त व्यापार से

उद्योग के उपलब्ध बाजार की सीमा में वृद्धि हो जाती है क्योंकि अब वस्तु का विक्रय केवल आन्तरिक बाजार में ही नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी सम्भव है, इसलिए श्रम विभाजन तथा उत्पादन के विशिष्टीकरण के क्षेत्र में विस्तार हो जाता है। मुक्त व्यापार के अन्तर्गत, उदाहरणार्थ, इंग्लैण्ड मशीन, रेडियो तथा मोटर कार का उत्पादन करेगा और भारत सूती वस्त्र, जूट तथा चीनी का।

मुक्त व्यापार के अनेक लाभ होते हैं : (१) उपभोक्ताओं को वस्तुयें अत्यन्त सस्ते मूल्यों पर मिल जाती हैं क्योंकि उत्पादन उन्हीं देशों में केन्द्रित होगा जिनमें वे वस्तुयें अत्यन्त सस्ते मूल्यों पर उत्पादित की जा सकती हैं। यदि मुक्त व्यापार होता तो भारत के उपभोक्ता स्विटजरलैण्ड से घड़ियाँ, इंग्लैण्ड, जर्मनी और अमेरिका से कार तथा रेडियो, तथा जर्मनी और फ्राँस से रसायनिक पदार्थों को उससे बहुत ही सस्ते मूल्यों पर प्राप्त कर लेते जितने में इन वस्तुओं का उत्पादन भारत में सम्भव हो पाता। इसी प्रकार ब्रिटेन तथा जर्मनी के उपभोक्ता भारत से जूट और चीनी उससे बहुत ही सस्ते मूल्यों पर प्राप्त कर लेते जितने में इनका उत्पादन ये स्वयं कर सकने में समर्थ होते।

(२) यदि मुक्त व्यापार न होता तथा सभी देश आत्म निर्भर होने का प्रयास करते तब उपभोक्ताओं को उन बहुत सी वस्तुओं से वंचित रह जाना पड़ता जिनका उत्पादन उनके देश में कच्चे मालों तथा वांछित कुशलता के अभाव के कारण सम्भव न हो पाता। यह मुक्त व्यापार के ही कारण है कि भारत जैसा कृषि प्रधान देश आयात के द्वारा बिजली तथा यन्त्र के सामान, कलाई घड़ियों, टी० वी० सेट, इत्यादि वस्तुएँ, जिनका उत्पादन यह स्वयं नहीं कर सकता, प्राप्त कर सकता है। यदि विदेशी व्यापार पर बिल्कुल प्रतिबन्ध लगा दिया जाये और प्रत्येक देश आत्म-निर्भर हो जाये तब विभिन्न देशों के उपभोक्ताओं को उपलब्ध होने वाली वस्तुओं की मात्रा काफी कम हो जायेगी।

(३) विदेशी व्यापार के अभाव में विभिन्न देशों में हुए वैज्ञानिक अन्वेषणों तथा अनुसन्धानों के द्वारा हुए लाभ विश्व के सभी उपभोक्ताओं को न प्राप्त हो पाते।

मुक्त व्यापार न केवल उपभोक्ताओं के लिए वरन् उत्पादकों के लिए भी लाभ-प्रद होता है क्योंकि मुक्त व्यापार के अभाव में वस्तुओं की प्रदा में वृद्धि अधिकतम सीमा तक नहीं हो सकेंगी तथा बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययिताओं से पूर्ण रूप में लाभ नहीं उठाया जा सकेगा। मुक्त व्यापार में ऐसा सम्भव है क्योंकि वस्तुयें न केवल आन्तरिक बाजार में वरन् अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में भी बेची जाती हैं।

यह सत्य है कि मुक्त व्यापार में अकुशल तथा निर्बल उत्पादक शीघ्र ही समाप्त हो जायेगा परन्तु जो उपस्थित रहेंगे उन्हें कम उत्पादन लागत का लाभ प्राप्त होगा। इससे न केवल उन्हें ही लाभ होगा वरन् उस देश को भी लाभ होगा जिस देश के ये रहने वाले हैं। नियन्त्रित मुक्त व्यापार का एक सामान्य लाभ यह है कि सभी देशों के उत्पादक सतर्क, कुशल और साहसोद्यमी रहते हैं ताकि वे तीव्र प्रतियोगिता में समाप्त न हो जायें। नियन्त्रित मुक्त व्यापार एकाधिकार को रोकता है तथा उन हथकण्डों को रोकता है जो अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन को अत्यन्त जटिल बना देते है।

संरक्षण

यद्यपि मुक्त व्यापार के बहुत से सैद्धान्तिक लाभ होते हैं परन्तु वास्तविक व्यवहार में ये सभी लाभ हो नही पाते क्योंकि : (१) विभिन्न देशों के उत्पादक स्थानीय उपलब्ध प्राकृतिक तथा अन्य संसाधनों से लाभ उठाने के लिए समान रूप में सतर्क तथा कुशल नहीं होते। इसका परिणाम यह होता है कि श्रम विभाजन तथा विशिष्टोकरण उस दिशा में नहीं हो पाता जिस पर मुक्त व्यापार का सिद्धान्त बतलाता है। इसके अतिरिक्त उन देशों के उत्पादक जहाँ औद्योगीकरण पहले ही से आरम्भ हो चुका है धीरे धीरे शक्तिशाली होते जाते हैं तथा नवीन औद्योगीकृत देशों के उत्पादकों को जो काफी पिछड़ गए हैं, अच्छे स्थानीय लाभों के होते हुए भी, विकास करने से रोकने में समर्थ हो पाते हैं। चूँकि हवाई और जावा में चीनी उद्योग पहले ही प्रारम्भ हो गया, इसने भारतीय चीनी उद्योग के विकास को रोक रखा तथा चीनी उद्योग से सम्बन्धित कुछ सम्भावित स्थानीय लाभों के उपलब्ध होने पर भी बिना संरक्षण के भारतीय चीनी उद्योग का विकास नहीं हो पाया। (२) आर्थिक दृष्टि से अविकसित देश में यद्यपि उत्पादकों को आन्तरिक मितव्ययितायें उपलब्ध रहती हैं, फिर भी स्थिर सरकार तथा उचित संगठन के अभाव के कारण पूँजी की पूर्ति, परिवहन सुविधायें, कुशल श्रम इत्यादि के रूप में वाह्य मितव्ययितायें सदा प्राप्त नहीं होतीं। इससे इन देशों में उपलब्ध सम्भावित लाभ के होते हुए भी उद्योगों का विकास होना बिल्कुल असम्भव हो जाता है। (३) विदेशी शासन होने पर यह भी सम्भव है कि विदेशी सरकार उपलब्ध स्थानीय संसाधनों का समुचित प्रयोग न करे।

उपरोक्त सभी स्थितियों में मुक्त व्यापार द्वारा सर्वोत्तम ढंग से श्रम विभाजन तथा विशिष्टीकरण सम्भव नहीं है। इससे संरक्षण की आवश्यकता उत्पन्न होती है। संरक्षण के पक्ष में अनेक तर्क दिये जाते हैं परन्तु इस अध्याय में हम केवल महत्वपूर्ण तर्कों पर ही विचार करेंगे।

शिशु उद्योग तर्क. अलेग्जेण्डर हैमिल्टन, एच. सी. कैरे, फ्रेड्रिक लिस्ट, जे. एस. मिल तथा ए. सी. पीगू इत्यादि ने यह अनुभव किया कि कुछ दशाओं में मुक्त व्यापार सभी देशों के लिए सर्वाधिक हितकर नहीं सिद्ध हो सकता। एक ऐसी स्थिति शिशु उद्योग (infant industry) की है।

'शिशु उद्योग' वह उद्योग है जिसे उत्पादन की सभी आन्तरिक मितव्ययितायें उपलब्ध हैं (अर्थात वे मितव्ययितायें जो प्रत्येक वैयक्तिक साहसोद्यमी के सामर्थ्य के अन्तर्गत हैं) परन्तु जिसे बाह्य मितव्ययितायें (जैसे परिवहन तथा बैंकिंग सुविधायें, सक्रिय मांग, आवश्यक पदार्थों को प्रदान करने वाले सहायक उद्योग, और सुसंगठित श्रम बाजार) नहीं उपलब्ध होतीं। यदि आन्तरिक तथा बाह्य दोनों मितव्ययिताओं का अभाव है तो उद्योग को शिशु उद्योग नहीं कहा जा सकता और उसे संरक्षण प्राप्त करने का अधिकार नहीं है।

कौन सा उद्योग शिशु उद्योग है, इसका पता लगाना बहुत कठिन है। भारत में वैत्तिक आयोग (Fiscal Commission, 1921) ने इस कार्य के लिये विभेदात्मक संरक्षण (discriminating protection) का त्रिगुणात्मक गुर (triple formula) प्रस्तुत किया जिसके अनुसार (१) उद्योग को ऐसा होना चाहिए जिसे सभी प्राकृतिक लाभ प्राप्त हों जैसे कच्चे माल की पर्याप्त पूर्ति, सस्ती शक्ति, श्रम की पर्याप्त पूर्ति अथवा विशाल आन्तरिक व्यापार; (२) उद्योग को ऐसा होना चाहिए जो बिना संरक्षण की सहायता के या तो बिल्कुल ही नहीं विकसित हो सकता या उतनी तीव्रता से नहीं विकसित हो सकता जितनी तीव्रता से विकसित होना राष्ट्रीय हित के लिये वाँछनीय है; और (३) उद्योग को ऐसा होना चाहिए जो कालान्तर में बिना संरक्षण के भी विश्व प्रतियोगिता का सामना करने में समर्थ हो सके।

एक शिशु उद्योग का भेद स्पष्ट करने के लिये कुछ वैकल्पिक दशायें भी प्रस्तुत की जा सकतीं हैं परन्तु शिशु उद्योग को चाहे जिस ढंग से भी परिभाषित किया जाये, इसके सम्बन्ध में जो महत्वपूर्ण बातें ध्यान देने योग्य हैं वे हैं : (१) संरक्षण प्रारम्भिक अवस्था में ही वाँछनीय है जिससे शिशु उद्योग विश्व के उन प्रतिद्वन्दी उद्योगों से प्रतियोगिता कर सके जो प्रारम्भिक विकास तथा अधिक काल से उत्पादन करने के कारण अधिक शक्ति तथा कुशलता प्राप्त कर लिये हैं; (२) संरक्षण वाँछनीय उस समय है जब कि अन्य सभी सम्भावित लाभ विद्यमान हों परन्तु प्रारम्भिक अवस्था में पर्याप्त मांग का अभाव हो जिससे शिशु उद्योग वस्तु की पर्याप्त मात्रा का उत्पादन तथा विक्रय करने में समर्थ न हो रहा हो और जो उसे बड़े पैमाने के

उत्पादन की सभी मितव्ययिताओं का पूर्ण रूप से लाभ उठाने में बाधक सिद्ध हो रहा हो; तथा (३) संरक्षण तो स्वभावतः एक अल्पकालीन प्रतिभास है जो कुछ स्थितियों में बीस से पच्चीस वर्ष तक भी हो सकता है। परन्तु एक बार जब शिशु उद्योग का पूर्ण विकास हो जाता है तब उसे बिना संरक्षण के भी अपने पैर पर खड़े हो सकने में समर्थ होना चाहिए ।

देश में कुछ ऐसे उद्योग हो सकते हैं जिन्हें सम्भावित लाभ प्राप्त रहते हैं परन्तु वे बिना संरक्षण के विकसित नहीं हो पाते क्योंकि अन्य देशों के शक्तिशाली प्रतिद्वन्दी उनके विकास को असम्भव बना देते हैं। इसके कारण यह हैं कि (१) पिछड़े देशों के साहसोद्यमियों के पास अधिक शक्तिशाली विदेशी प्रतिद्वन्दियों से प्रतियोगिता करने में निहित जोखिमों को उठाने का साहस तथा आवश्यक सूचना का अभाव रहता है, तथा (२) साहसोद्यमी यह अनुभव कर सकते हैं कि यदि वे श्रम को आवश्यक शिक्षा प्रदान करने तथा बाजार के सृजन करने के लिए त्याग करते हैं तब भी वे सम्पूर्ण लाभ को उठा सकने में समर्थ नहीं हो सकते बल्कि उन लाभों को कोई नया प्रतिद्वन्दी उठा सकता है । इससे वे उद्योग प्रारम्भ करने में हतोत्साहित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में शिशु उद्योग को सरकार द्वारा संरक्षण प्रदान किया जाना आवश्यक हो जाता है जिससे देश के साहसोद्यमियों को नवीन उद्योगों का प्रारम्भ तथा विकास करने के लिए आवश्यक प्रोत्साहन मिलता रहे । "कुछ लोगों का यह मत है कि शिशु उद्योग के लिए टैरिफ अनावश्यक होते हैं क्योंकि निजी साहसोद्यम स्वयं ही उत्पादन की अनुकूल दशाओं की कल्पना कर उनका विकास करेगा। इसके पक्ष में यह तथ्य प्रस्तुत किया जा सकता है कि बिना किसी संरक्षण के भी देश में केवल उत्पादन की दशा अनुकूल होने पर तथा देश में शांति, सुरक्षा, तथा सुव्यवस्थित वातावरण होने पर ही बार-बार नवीन प्रकार के उद्योगों की स्थापना तथा विकास हुआ है। विशेषतया यह आधुनिक युग में सत्य है जब कि विशाल मात्रा में पूँजी का अन्तर्राष्ट्रीय प्रवसन (migration) होता रहता है।" यह ठीक है कि कुछ स्थितियों में साहसी व्यक्ति उद्योगों की स्थापना करने में समर्थ हो सकते हैं यदि उन्हें सम्भावित लाभ तथा पर्याप्त लाभ की दर प्राप्त होने की आशा हो । परन्तु भारत जैसे पिछड़े देश में विदेशी पूँजी सरलता से उपलब्ध नहीं होती तथा यहाँ स्थानीय उपक्रम का अभाव, अज्ञानता, अव्यवस्थित राजनीतिक स्थिति तथा भविष्य के सम्बन्ध में बहुत ही अनिश्चितता के कारण है। ऐसी स्थिति में शिशु उद्योगों के विकास के लिए टैरिफ संरक्षण अत्यन्त आवश्यक है। जैसा कि प्रोफेसर ए०सी० पीगू ने अत्यंत सुन्दर ढंग से कहा है, "किसी भी कृषि प्रधान देश में, जिसमें वस्तु उत्पादन के प्राकृतिक लाभ विद्यमान हों, उत्पादक

शक्ति सुदृढ़ बनाने के लिए संरक्षण आवश्यक है। ऐसे देश में प्रतिबन्ध के द्वारा स्थानीय वस्तुओं को विदेशी वस्तुओं के विनिमय की कमी से जो तुरन्त हानि होगी उससे कहीं अधिक लाभ उस देश की उत्पादन शक्ति के तीव्र विकास के द्वारा होगा। जैसा कि कोलबर्ट ने संरक्षणात्मक करों को 'नवीन उत्पादनों को चलने की शिक्षा देने वाला अवलम्ब कहा है', उन्हें इसकी शिक्षा प्रारम्भ में ही इतनी अधिक दे सकते हैं जितना कि वे स्वयं नहीं सीख पाये हैं, (यदि उन्हें अपने सहारे छोड़ दिया जाये) कि अवलम्ब की लागत का भुगतान लागत से कहीं अधिक हो जाता है।"

अप्रयुक्त साधन सम्बन्धी तर्क. दूसरा आधार जिस पर संरक्षण को वाँछनीय बतलाया जाता है वह है देश के भीतर अप्रयुक्त संसाधनों (idle resources) का विद्यमान होना। इसका अर्थ यह हुआ कि लोगों की बचत अप्रयुक्त रह सकती है, कुछ अन्य प्राकृतिक संसाधन बेकार पड़े रह सकते हैं तथा श्रम वृत्तिहीन रह सकता है क्योंकि संरक्षण के अभाव के कारण उन उद्योगों का विकास नहीं हो पा रहा है जिनमें उन्हें रोजगार मिल सके। इस प्रकार के अप्रयुक्त संसाधन कई कारणों से उत्पन्न हो सकते हैं:

(१) उपभोक्ता के स्वभाव में परिवर्तन हो जाने से कुछ वस्तुओं की मांग में कमी हो जाने के कारण उनके उद्योग बन्द हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, ऐसी स्थिति काश्मीर की बनी उच्च कोटि की शालों तथा मलमल की है। इनकी माँग में कमी इसलिए हो गई क्योंकि लोगों ने मिल में बने हुए सस्ते दामों के कपड़ों का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया जिससे इस उद्योग में प्रयुक्त संसाधन बेकार हो गए।

(२) वस्तु की मांग में कमी या तो व्यवसाय चक्रीय अवसाद के कारण अथवा कुछ अन्य अस्थायी कारणों से हो सकती है जिससे संसाधन बेकार हो जाते हैं।

(३) अधिक कार्यक्षमता तथा कम उत्पादन लागत होने के कारण एक विदेशी प्रतिद्वन्दी की प्रतियोगात्मक शक्ति अधिक होती है। परिदृढ़ मजदूरी की स्थिति भी इसी के अन्तर्गत है जिससे श्रमिक बेकार हो जाते हैं। यह सम्भव है कि विदेशी प्रतिद्वन्दी की उत्पादन लागत इतनी कम हो कि गृह उद्योग श्रमिकों को पर्याप्त ऊँची मजदूरी देने में समर्थ न हो, और यदि श्रम संघ कम मजदूरी पर काम करने को तैयार नहीं है तब बाध्य होकर श्रमिक को कार्य से हटाकर बेकार रखना पड़ेगा।

(४) एक विदेशी प्रतिद्वन्दी कुछ कृत्रिम लाभ मिलने पर, जैसे सरकार द्वारा दिए गए अधिदान (bounties) तथा उपदान (subsidies), गृह उद्योग को विकास करने से रोक सकता है जिससे संसाधन बेकार हो सकते हैं, जैसा कि अतीत में भारतीय जहाज उद्योग का हुआ था।

(५) यदि कुछ प्रकार के साधनों का सापेक्ष्य बाहुल्य है, जैसे अकुशल श्रम, और जबकि अन्य आवश्यक संसाधन जैसे पूँजी, मशीन, कुशल श्रम, तथा प्राविधिक ज्ञान उपलब्ध नहीं हैं, जैसा कि अर्धविकसित देशों में होता है, तब अकुशल श्रम अवश्य ही बेकार रहेगा क्योंकि अन्य संसाधनों की कमी है।

संरक्षण इन सभी स्थितियों में संसाधनों की अप्रयुक्तता को नहीं दूर कर सकता। यदि संसाधनों की बेकारी का कारण लोगों की रुचि परिवर्तन है, जिससे उस वस्तु की मांग बिल्कुल ही नहीं रह जाती, अथवा संसाधन व्यावसायिक कुचक्रों से अव्यवस्थित होकर अस्थायी तौर पर बेकार हो गए हैं अथवा विदेश के प्रतिद्वन्दी उत्पादकों को वास्तव में तुलनात्मक लागत का लाभ प्राप्त है, तब समस्या का समाधान करने तथा संसाधनों की बेकारी दूर करने की सर्वोत्तम विधि संरक्षण नहीं है। इन सभी स्थितियों में संरक्षण उचित नही हैं क्योंकि (१) यह माँग का सृजन नहीं कर सकता जो है ही नहीं; (२) व्यावसायिक कुचक्र में केवल एक ही देश नही वरन् सभी देश फँस जाते है; (३) यदि संरक्षण न्यायोचित तुलनात्मक लागत के लाभ के विपरीत दिया जाता है तब इससे अत्यधिक भार अर्थ-व्यवस्था पर पड़ता है और इससे उपभोक्ताओं के हित को उत्पादकों के लाभ की अपेक्षा अधिक क्षति पहुँचती है। संरक्षण संसाधनों की बेकारी को दूर करने की एक सन्तोषजनक विधि है यदि प्रतिद्वन्द्वी उत्पादक कृत्रिम लाभ, जैसे उपहार इत्यादि, के कारण अपनी वस्तुओं को सस्ते मूल्यों पर बेचने में समर्थ हो पाते हैं अथवा देश के किसी उद्योग विशेष को यथोचित तुलनात्मक लागत का लाभ प्राप्त हो परन्तु उद्योग इस लिए विकसित नहीं हो पाता क्योंकि वह शिशु है।

सन्तुलित विकास तर्क. इसे उद्योग विविधता तर्क भी कहते हैं। इसके अनुसार देश के सन्तुलित विकास के लिये उद्योग को संरक्षण प्रदान करना चाहिए। यदि कोई देश शस्त्र तथा अन्य सुरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिये दूसरे देश पर आश्रित रहता है तब युद्ध के समय उसे कठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ सकता है; अतः उसे इन उद्योगों का विकास स्वयं करना चाहिए। कुछ देश तो केवल एक या दो वस्तुओं के निर्यात पर ही अवलम्बित रहते हैं तथा इन वस्तुओं की अन्तर्राष्ट्रीय मांग में कमी हो जाने से ही इन देशों को महान क्षति पहुँचती है। अतः इन देशों के लिए आवश्यक है कि वे अन्य उद्योगों का भी विकास करें जिससे अर्थ-व्यवस्था का अधिक सन्तुलित ढंग से विकास हो सके। यह तर्क वास्तव में 'शिशु उद्योग' तर्क का ही प्रसारित रूप 'शिशु देश तर्क' है, तथा जो विश्लेषण हम पूर्व कर चुके हैं वह यहाँ भी लागू होता है।

कठिनाइयाँ. संरक्षण शिशु उद्योगों का विकास करने, संसाधनों की बेकारी दूर करने, तथा अर्थ-व्यवस्था का सन्तुलित विकास करने में सहायक होता है। परन्तु इस प्रक्रिया में कुछ आवश्यक कठिनाइयाँ भी उस देश को उठानी होती हैं जो उद्योगों को संरक्षण प्रदान करता है:

(१) इस बात का पता लगाना सदा सम्भव नहीं होता कि कौन सा उद्योग शिशु है। सम्भावना इस बात की है कि केवल शिशु उद्योग को ही संरक्षण नहीं प्रदान किया जायेगा वरन् उन्हें भी जो शिशु नहीं हैं। ऐसे उद्योग केवल अपनी काल्पनिक कठिनाइयों तथा अवरोधों के विषय में शोर मचाते हैं तथा अपने पक्ष में लोकमत उत्पन्न करके प्रोपेगण्डा और विज्ञापन के द्वारा अपने शिशुत्व के विषय में सरकार को विश्वास दिलाने में समर्थ हो पाते हैं। ऐसे उद्योगों को संरक्षण देना देश के राष्ट्रीय हित के प्रतिकूल होगा क्योंकि जब कालान्तर में उन उद्योगों से संरक्षण हटा लिया जायेगा तब वे आत्म निर्भर नहीं रह सकते।

(२) यदि संरक्षण एक ऐसे उद्योग को दे दिया जाता है जो वास्तव में उसके योग्य नहीं है तब वह निहित स्वार्थ (vested interest) प्राप्त कर लेता है तथा अस्थायी अवधि के समाप्त हो जाने पर उस पर से संरक्षण हटा लेना सरल कार्य नहीं होता। इस प्रकार एक बार प्रदान किया गया संरक्षण सदा के लिये हो जाता है जिससे देश का आर्थिक विकास अस्त-व्यस्त हो जाता है।

(३) संरक्षण उपभोक्ताओं के लिए बहुत महंगी प्रक्रिया होती है। संरक्षण के न होने पर उपभोक्ता विदेशों से वस्तुयें सस्ते मूल्यों पर प्राप्त कर सकता है परन्तु संरक्षण होने पर उसे गृह निर्मित पदार्थ अधिक मूल्य पर प्राप्त होंगी। इस बात से उपभोक्ताओं को संतोष नहीं होता कि संरक्षण एक अस्थायी प्रतिभास है तथा बाद में ये इन्हीं वस्तुओं को विदेश से आयात की गई वस्तुओं के मूल्य की अपेक्षा कम मूल्य पर प्राप्त कर सकते हैं। उपभोक्ता तो केवल वर्तमान का ही अधिक ध्यान रखता है तथा वह इस बात पर ध्यान नहीं देता कि भविष्य में अन्य लोग संरक्षण के कारण सस्ते दामों में वस्तुएं प्राप्त कर सकेंगे। वर्तमान तथा भविष्य के उपभोक्ताओं को एक साथ ध्यान में रखकर यह भी निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता कि संरक्षण के द्वारा जो उनको हानि हो रही है वह देश के उत्पादकों को हुए लाभ से कम है। अतः यह बतलाना अत्यन्त कठिन है कि संरक्षण अन्ततोगत्वा राष्ट्र के सर्वोत्तम हित में होगा ही।

निष्कर्ष. समस्या की व्यापकता पर विचार किये बिना हम संरक्षण प्रदान करने के सम्बन्ध में कुछ परीक्षात्मक (tentative) निष्कर्ष पर पहुचते हैं:

(१) आयात-कर या अन्य प्रकार की विधियों द्वारा संरक्षण उस समय वांछनीय नहीं है जबकि केवल विशिष्ट साधन[1] ही उपलब्ध हैं तथा अन्य आवश्यक अवशिष्ट साधन प्राप्त नहीं हैं। ऐसा इसलिये हैं क्योंकि किसी भी उद्योग को जिसे केवल विशिष्ट साधन ही उपलब्ध हैं उसे यदि संरक्षण प्रदान किया जाता है तब इसका परिणाम यह होगा कि दूसरे स्थान से अवशिष्ट साधन भी आकृष्ट हो कर चले आयेंगे जिससे वे उद्योग अव्यवस्थित हो जायेंगे जहाँ से ये साधन आकृष्ट होकर चले आये हैं। फिर भी, टैरिफ संरक्षण उस समय वांछनीय हो सकता है जब या तो विशिष्ट तथा अवशिष्ट दोनों साधन उपलब्ध हों या जो साधन उपलब्ध नहीं हैं उन्हें विदेश से मँगाया जा सके।

(२) संरक्षण केवल उसी समय प्रदान करना चाहिए जब गृह उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तुओं की आन्तरिक तथा वाह्य बाजार में या तो वास्तविक मांग हो अथवा संभावित मांग। मांग के अभाव में संरक्षण प्रभावहीन रहता है तथा हानिकारक सिद्ध होता है। यदि उपलब्ध संसाधनों का प्रयोग वैकल्पिक वस्तुओं के उत्पादन में किया जा सकता है तब संरक्षण केवल उन्हीं को प्रदान करना चाहिए जिनकी मांग है।

(३) संरक्षण उस समय देना चाहिए जब उपभोक्ताओं और उत्पादकों पर कुल प्रभाव अनुकूल हो।

संरक्षण की विधियाँ

संरक्षण प्रदान करने की दो प्रमुख विधियाँ हैं: (१) आयात तथा निर्यात कर लगाना और (२) आयात तथा निर्यात पर कोटा नियन्त्रण लगाना। परन्तु कुछ अन्य विधियाँ भी हैं जैसे चलन के विनिमय मूल्य का विनियमन, निर्यात को उपदान प्रदान करना, वस्तु विनिमय सम्बन्धित सन्धि तथा द्वि-पक्षीय व्यापारिक समझौते करना।

आयात तथा निर्यात कर. आयात तथा निर्यात कर या तो संरक्षण प्रदान करने के लिये लगाये जा सकते हैं—तब वे टैरिफ कर कहे जाते हैं—या सरकार के लिये आय प्राप्त करने के लिये लगाये जा सकते हैं—तब वे राजस्व कर (revenue duty) कहे जाते हैं। परन्तु राजस्व कर का भी संरक्षणात्मक प्रभाव हो सकता हैं क्योंकि इनके द्वारा आयात की गई वस्तुओं की कीमतें ठीक उसी प्रकार बढ़ जाती हैं जिस प्रकार टैरिफ ड्यूटी के द्वारा। मान लीजिए किसी आयात की गई

---

१. पूर्ण विशिष्ट साधन वह है जिसका एक समय में एक ही प्रयोग हो तथा जिसे अन्य प्रकार के प्रयोगों में हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता।

वस्तु की कीमत १०० रुपये है और आयातक देश की सरकार १० रुपये आयात कर लगा देती है। तब आयात की गई वस्तु की कीमत गृह बाजार में ११० रुपये हो जायेगी यदि आयात करने वाले देश के उपभोक्ताओं की मांग आलोचपूर्ण हो। परन्तु किसी भी स्थिति में कीमत १०० रुपये से अधिक तो होगी ही चाहे आयात देश में उपभोक्ताओं की माँग लोचपूर्ण ही क्यों न हो। कीमत में वृद्धि की सीमा मांग और पूर्ति की सापेक्ष्य लोचपूर्णता पर आधारित है।

आयात कर लगाये जाने की मात्रा इस बात पर आधारित है कि किस सीमा तक आयात करने वाला देश आयात की गई वस्तुओं का मूल्य बढ़ाना चाहता है। मान लीजिए आयात कर के परिणामस्वरूप कीमत वास्तव में १०० रुपये से बढ़कर १०८ रुपये प्रति इकाई हो जाती है। यह आयात देश के उत्पादकों को लाभप्रद सिद्ध होता है जिन्हें आयात-कर के अभाव में आयात की गई वस्तुओं से प्रतियोगिता करनी होती है। मान लीजिए आयात करने वाले देश में इस वस्तु की उत्पादन लागत १०६ रुपये प्रति इकाई है। जब आयात कर के परिणामस्वरूप कीमत बढ़ कर १०८ रुपये प्रति इकाई हो जाती है तब गृह उत्पादक अपनी वस्तुओं को बेच कर लाभ अर्जित करने में समर्थ हो सकते हैं। अतः संरक्षण प्रदान करने की वास्तविक मात्रा आन्तरिक उत्पादन लागत तथा उस मूल्य के अन्तर पर जिस पर वह वस्तु गृह बाजार में टैरिफ संरक्षण के आभाव में प्राप्त होती है, तथा सम्बन्धित वस्तु की सापेक्ष्य मांग और पूर्ति की लोच पर आधारित है।

निर्यात कर बहुधा औद्योगिक कच्चे माल, रसायन, मशीन इत्यादि पर लगाया जाता है यदि इसका उद्देश्य उन गृह उद्योगों को संरक्षण प्रदान करना है जो इन वस्तुओं का प्रयोग करते हैं। निर्यात कर से इन वस्तुओं की कीमत विदेशी बाजार में बढ़ जाती है जिससे वे अन्य वस्तुओं की अपेक्षा कम पसन्द की जाती हैं। इससे कच्चे माल, रसायन तथा मशीनों का निर्यात हतोत्साहित हो जाता है और वे गृह बाजार में उपलब्ध होने लगती हैं। निर्यात कर के न होने पर इन वस्तुओं का निर्यात हो गया होता तथा इनकी कीमतें आन्तरिक बाजार में बढ़ गई होतीं जिससे गृह उत्पादकों को बाधाओं का सामना करना पड़ता। यदि निर्यात कर का उद्देश्य केवल आय प्राप्त करना है तब इसे निर्मित पदार्थों, तथा उन कच्चे मालों, रसायनों और मशीनों पर लगाया जा सकता है जिनकी मांग गृह उद्योगों द्वारा नहीं की जाती।

कोटा नियन्त्रण. आयात कर की अपेक्षा कोटा नियन्त्रण संरक्षण प्रदान करने को अधिक प्रभावशाली विधि होती है। इसमें आयात करने वाले देश की सरकार आयात की जाने वाली वस्तुओं की मात्रा निश्चित करती है। इससे गृह बाजार में

आयात की जाने वाली वस्तु की पूर्ति कम हो जाती है जिससे एक अन्तर (gap) का सृजन हो जाता है जिसकी पूर्ति देश के उत्पादक ही कर सकते हैं। इस प्रकार उन्हें प्रत्यक्ष लाभ पहुँचता है। आयात वस्तुओं की पूर्ति में कोटा नियन्त्रण द्वारा उत्पन्न हुई कमी हो जाने से इनकी कीमतें आन्तरिक बाजार में बढ़ जायेंगी। इस प्रकार कोटा नियन्त्रण का वही प्रभाव होता है जो आयात कर का। भारत जैसे देश में जहाँ आयात की गई वस्तुयें स्थानीय वस्तुओं की अपेक्षा अधिक पसन्द की जाती हैं वहाँ इन वस्तुओं (आयात की गई) का एक प्रकार से सुरक्षित बाजार रहता है। अतः इनकी पूर्ति में अल्पमात्र भी कमी हो जाने से इनकी कीमतें बढ़ जातीं हैं जिससे देश के भीतर उत्पादित वस्तुओं को थोड़ा मूल्य लाभ प्राप्त हो जाता है।

कोटा अनेक रूप ग्रहण कर सकता है। **विश्वव्यापी कोटा** (global quota) में, जिसका प्रयोग सर्वप्रथम फ्रान्स ने किया था, एक निश्चित समय में आयात की जाने वाली वस्तुओं की कुल मात्रा निश्चित कर दी जाती है परन्तु इस बात को निश्चित नहीं किया जाता कि विभिन्न देशों तथा विभिन्न व्यक्तियों से कितनी मात्रा आयात की जायेगी। **समापन कोटा** (guillotine quota) में, या जिसे स्थिर कोटा भी कहते हैं, प्रत्येक देश के अंश का कोटा या तो मनमाने ढंग से निश्चित कर दिया जाता है या आधार वर्ष के आधार पर किया जाता है तथा विभिन्न आयातकों को लाइसेंस दिया जाता है जिसमें यह निश्चित रहता है कि वे कितना आयात करने के अधिकारी हैं। **टैरिफ कोटा** में वस्तु की एक निश्चित मात्रा कम टैरिफ पर ही देश के भीतर आ सकती है और जब कोटा से अधिक आयात होता है तब अधिक टैरिफ लिया जाता है। यदि कोटे का निर्धारण दो देशों में हुए वस्तु के परिमाण, गुण तथा कीमतों से सम्बन्धित पारस्परिक समझौते के अनुसार होता है तब उसे **द्विपक्षीय कोटा** (bilateral quota) कहते हैं। **पारस्परिक कोटा** (reciprocal quota) में विदेशों को बाध्य होकर कोटा के विनिमय में टैरिफ नियन्त्रणों को शिथिल करना होता है। द्विपक्षीय, पारस्परिक तथा टैरिफ कोटे कुछ सीमा तक विश्वव्यापी तथा निश्चित कोटाओं के दोषों को दूर करते हैं।

अन्य विधियाँ. यद्यपि टैरिफ कर तथा कोटा संरक्षण प्रदान करने की दो प्रमुख विधियाँ हैं, परन्तु इसी उद्देश्य की पूर्ति कुछ अन्य विधियों द्वारा भी हो सकती है। यदि देश में किसी वस्तु की उत्पादन लागत काफी अधिक है तब सरकार उस उद्योग को **उपहार** (bounty) तथा **उपदान** या आर्थिक सहायता (subsidy) प्रदान कर उस वस्तु की कीमत घटा देती है जिससे कि वह विदेशी प्रतिद्वन्दियों से प्रतियो-

गिता करने में समर्थ हो सके। इस प्रकार उसकी बिक्री में वृद्धि हो जाती है। दूसरी विधि **विनिमय नियन्त्रण** (exchange control) की है जिसमें सरकार द्वारा मुद्रा के विनिमय मूल्य में परिवर्तन किये जाते हैं जिससे उत्पादकों तथा निर्यातकों को लाभ हो सके। मान लीजिए रुपये का विनिमय मूल्य १रु० = १शि० ६ पैंस से घटकर १रु० = १शि० ४ पैंस हो जाता है। ब्रिटेन की वस्तु जो भारत में १ रुपये में बिकती है अब वह ब्रिटेन के उत्पादक को केवल १ शिलिंग ४ पैंस ही देगी। स्टर्लिंग के रूप में वही कीमत प्राप्त करने के लिये (अर्थात पहले जैसी १ शि० ६ पैंस) उसे भारत में अपनी वस्तु की कीमत बढ़ानी होगी जिससे भारतीय उत्पादक को लाभ हो जायेगा। इस प्रकार जहाँ तक बाजार मूल्यों का सम्बन्ध है कम विनिमय मूल्य का लगभग वही प्रभाव पड़ता है जो टैरिफ ड्यूटी का। **व्यापारिक संधि** (tariff treaty) के द्वारा भी संरक्षण प्राप्त किया जाता है। एक देश दूसरे देश से समझौता कर सकता है जिससे वह निर्यात वस्तुओं में लाभ प्राप्त कर सकता है और इस प्रकार उत्पादकों को अपनी बिक्री बढ़ाने में सहायता पहुँचती है। यदि दो देशों के व्यापारिक समझौते के अन्तर्गत असीमित परमानुग्रहित राष्ट्र धारा (unconditional most favoured nation clause) है तब इसका अर्थ यह हुआ कि जो सुविधायें एक देश दूसरे देश को प्रदान करता है वह स्वतः उन सभी राष्ट्रों के लिए भी लागू होंगी जिनके साथ इस देश का व्यावसायिक सम्बन्ध हैं। परन्तु सीमित परमानुग्रहित राष्ट्र धारा के अन्तर्गत सभी देशों को इस प्रकार की सुविधा स्वतः प्रदान नहीं की जातीं वरन् केवल उसी समय ये सुविधायें प्रदान की जायेंगी जब कि वे देश भी उन दशाओं की पूर्ति करें जो दशायें पूर्व सुविधा प्राप्त करने वाले देश में प्राप्त थीं। परन्तु इनमें से किसी भी स्थिति में, जिन देशों को कम टैरिफ के लाभ प्राप्त होते हैं वे देश अपने निर्यात व्यापार में वृद्धि करने में समर्थ होते हैं।

सापेक्ष्य श्रेष्ठता. टैरिफ ड्यूटी तथा कोटा में दूसरे के कुछ विशेष लाभ हैं। इसमें उन परिदृढ़ वैधानिक प्रक्रियाओं की आवश्यकता नहीं होती जिनकी आवश्यकता आयात तथा निर्यात कर लगाते समय होती है। कोटा उन परिदृढ़ताओं को भी दूर करता है जो परमानुग्रहित राष्ट्रीय धारा द्वारा उत्पन्न होते हैं क्योंकि जब आयात तथा निर्यात कर की सुविधाओं का अन्य देशों में भी प्रसारित किया जाना आवश्यक है, कोटा नियन्त्रण में इस प्रकार की समस्यायें उत्पन्न ही नहीं होतीं। कोटा का दूसरा लाभ यह है कि यह कोटा लगाने वाले देश को एक निश्चित सम्पणन शक्ति (bargaining power) प्रदान करता है क्योंकि यह विनिमय में कुछ निश्चित लाभ प्रदान कर सकता है जो इसे अन्य देशों द्वारा प्राप्त

होते हैं, जबकि टैरिफ ड्यूटी इस प्रकार का कोई भी लाभ प्रदान नही करती। परन्तु कोटा से हानि यह है कि इससे सरकार को कोई आय प्राप्त नहीं होती जबकि टैरिफ ड्यूटी से उद्योगों के संरक्षण के साथ-साथ सरकार को आय भी प्राप्त होती है। फिर भी, यहाँ इस बात को स्पष्ट कर देना चाहिए कि यद्यपि कोटा से प्रत्यक्ष रूप में सार्वजनिक कोष को आय प्राप्त नहीं होती परन्तु अप्रत्यक्ष रूप में उस समय अधिक आय प्राप्त होती है जब देश का आर्थिक विकास काफी हो जाता है। परन्तु सबसे बड़ी हानि कोटा से यह होती है कि टैरिफ ड्यूटी द्वारा प्रतियोगी देश कुछ सीमा तक अपनी उत्पादन लागत को समायोजित करके संरक्षण प्रदान करने वाले देश में टैरिफ ड्यूटी के होते हुए भी अपनी वस्तुओं को बेच सकता है जिससे उपभोक्ताओं को कुछ तुलनात्मक लागत लाभ प्राप्त हो सकता है। परन्तु कोटा में ऐसा बिल्कुल असम्भव होता है। कोई भी यह निश्चित रूप से नहीं बता सकता कि कोटा नियन्त्रण की स्थिति में कोई देश तुलनात्मक लागत के मापदण्ड से कितना आगे बढ़ गया है। अन्त में, चूँकि कोटा नियन्त्रण टैरिफ ड्यूटी की अपेक्षा अधिक प्रभावपूर्ण होते हैं इसलिए वे देश के भीतर अनावश्यक वृद्धि प्रोत्सा-हित कर सकते हैं जिससे आर्थिक हित को हानि पहुँच सकती है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यद्यपि कोटा नियन्त्रण टैरिफ ड्यूटी की अपेक्षा संरक्षण प्रदान करने में अधिक प्रभावशाली होता है, परन्तु यह अधिक हानिकारक भी होता है।

अध्याय १३

राजवित्त

(Public Finance)

राजवित्त का विज्ञान राज्य द्वारा आय प्राप्त करने तथा व्यय करने का अध्ययन करता है। केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों तथा स्थानीय संस्थाओं के आय संसाधनों तथा परिव्ययों में सन्तुलन भी इसके अध्ययन का अंग है। ऐसी स्थिति में इसे संघीय वित्त (federal finance) कहते हैं।

निजी वित्त से तुलना

राजवित्त तथा निजी वित्त में बहुत सी बातें समान पाई जाती हैं: (१) व्यक्ति तथा राज्य दोनों की आय होती है तथा दोनों व्यय करते हैं; (२) उपलब्ध संसाधनों का सर्वोत्तम प्रयोग करने के लिये दोनों के लिये समुचित नियोजन आवश्यक है; (३) दोनों की स्थिति में संतुलित बजट उस समय कहा जाता है जब आय व्यय के बराबर हो, अतिरेक बजट उस समय कहा जाता है जब आय व्यय से अधिक हो, तथा घाटे का बजट उस समय होता है जब व्यय आय से अधिक हो। व्यक्ति बहुधा अपना पारिवारिक बजट एक सप्ताह अथवा एक माह के लिये बनाता है जबकि राज्य बहुधा अपना बजट एक वर्ष के लिए तैयार करता है। परन्तु इससे दोनों में कोई महत्वपूर्ण भेद नहीं होता। राज्य की भाँति व्यक्ति भी अपना वार्षिक बजट रख सकता है। व्यक्ति तथा राज्य लम्बी अवधि, जैसे पाँच अथवा दस वर्ष, के लिए भी बजट बना सकते हैं।

राज तथा निजी वित्त में प्रमुख भेद इस कारण उत्पन्न होता है कि निजी वित्त व्यष्टिभावी अर्थशास्त्र (microeconomics) की समस्या है जबकि राजवित्त समष्टिभावी अर्थशास्त्र (macroeconomics) की श्रेणी में आता है। परिणाम यह होता है कि:

(१) जब कि व्यक्ति अपनी उपभोग्य आय (disposable income) में वृद्धि अधिक परिश्रम तथा अधिक मुद्रा अर्जन करके अथवा दूसरे लोगों से ऋण लेकर कर सकता है, राज्य अपनी आय में वृद्धि न केवल कर तथा सार्वजनिक ऋण द्वारा कर सकता है वरन् अधिक नोटों को छाप कर भी कर सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब व्यक्ति की मौद्रिक आय की प्राप्ति मजदूरी, वेतन

तथा अन्य प्रकार के भुगतानों से होती है तब अर्थ-व्यवस्था में उतने के बराबर ही वस्तुओं तथा सेवाओं का सृजन हो जाता है। जब एक व्यक्ति अपनी मौद्रिक आय को व्यय करता है तब वह उसके बराबर ही वस्तुओं तथा सेवाओं को प्राप्त करता है जो अर्थव्यवस्था में उसकी प्रतीक्षा करती हैं। यदि **अ** व्यक्ति **ब** से ऋण लेता है तब वस्तुओं की पूर्ति तो उतनी ही रहती है परन्तु अन्तर केवल इतना ही हो जाता है कि अब **ब** के स्थान पर **अ** ऋण ली हुई मुद्रा के बराबर उन वस्तुओं और सेवाओं का उपयोग कर सकता है। राज्य यदि आय कर तथा सार्वजनिक ऋण के द्वारा आय प्राप्त करता है तब प्रत्येक रुपये के पीछे उतनी ही वस्तुयें और सेवायें रहतीं हैं जैसे व्यक्ति की स्थिति में थीं। यहाँ केवल इतना ही होता है कि अब व्यक्ति, जिस पर कर लगाया गया है अथवा जिसने अपनी बचत से राज्य को ऋण दिया है, उसके स्थान पर राज्य को कर तथा ऋण के बराबर वस्तुओं और सेवाओं के उपयोग करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। परन्तु व्यक्ति के अदृश राज्य अपनी आय में वृद्धि नोटों को छाप कर कर सकता है जिसके पीछे समान वस्तुयें और सेवायें नहीं रहतीं। यह हीनार्थ-प्रबन्धन की स्थिति है जो वैयक्तिक वित्त में कोई स्थान नहीं रखती।[१]

(२) यदि एक व्यक्ति मुद्रा की बचत करता है (अर्थात उसका अतिरेक बजट होता है) तब इसका केवल इतना ही अर्थ हुआ कि वह भविष्य के लिए वस्तुओं और सेवाओं के प्रयोग को स्थगित करता है क्योंकि बचत की गई आय यही प्रदर्शित करती है; परन्तु यदि राज्य का अतिरेक बजट होता है तथा वह अपनी आय के प्रयोग को भविष्य के लिए स्थगित करता है, तब इस सीमा तक श्रम तथा अन्य संसाधन बेकार हो जायेंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि राज-वित्त में अतिरेक बजट के परिणामस्वरूप आर्थिक विकास की दर कम हो जायेगी तथा इससे संसाधनों की बेरोजगारी उत्पन्न हो सकती है; परन्तु निजी वित्त में अति-रेक बजट का यह परिणाम नहीं होगा। केवल इतना ही अप्रत्यक्ष परिणाम होगा कि चूँकि निजी बचत उपभोग में तदनुसार वस्तुओं के पुनःउत्पादन में कमी उत्पन्न करती है इसलिए विकास की दर धीमी हो सकती है। यदि राज्य अपनी आय से अधिक व्यय अपने चालू तथा पूँजी बजट में करता है—हीनार्थ प्रबन्धन की स्थिति—तब बेकार

---

१. यद्यपि व्यक्ति नोट छापकर ऐसी उपभोग्य आय का सृजन नहीं कर सकता जिसके पीछे समान वस्तुओं और सेवाओं की आड़ नहीं होती, फिर भी वह बैंक से सृजित मुद्रा उधार ले सकता है और इस सीमा तक उसकी स्थिति राज्य की स्थिति के समान है। यदि हम इसका विस्तार करें तब यह कहना गलत नहीं होगा कि इस सीमा तक व्यक्ति भी हीनार्थ प्रबन्धन कर रहा है।

संसाधनों को प्रयोग में लाया जा सकता है। यदि समुचित सतर्कता रखी जाये तब यह प्रक्रिया उस समय तक जारी रह सकती है जब तक पूर्ण वृत्ति की स्थिति नहीं आ जाती तथा राष्ट्रीय आय तथा प्रदा सर्वाधिक नहीं हो जाते। यह राजवित्त को आर्थिक विकास का एक साधन बना देता है। परन्तु यदि एक व्यक्ति अपनी आय से अधिक व्यय करता है तब पूर्ण वृत्ति की स्थिति नहीं प्राप्त की जा सकती, यद्यपि उपलब्ध आर्थिक संसाधनों का पूर्ण रूपेण उस सीमा तक प्रयोग किया जा सकता है जहाँ तक व्यक्तियों के इस अतिरिक्त व्यय से उपभोग, वस्तुओं के विक्रय, तथा कुल प्रदा में वृद्धि हो जाती है।

(३) जबकि निजी वित्त में एक व्यक्ति अपने स्वयं के संतोष को सर्वाधिक करके अपने संसाधनों का सर्वोत्तम प्रयोग करता है, राजवित्त में समस्या धनी व्यक्तियों पर निर्धन व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक कर लगाकर तथा उपलब्ध संसाधनों को निर्धन व्यक्तियों पर धनी व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक व्यय कर, राष्ट्रीय कल्याण (अर्थात सम्पूर्ण समाज के कल्याण) को सर्वाधिक करने की होती है।

सम्पत्ति के वितरण को सुधारने तथा सामाजिक कल्याण को सर्वाधिक करने के लिए राजवित्त एक महत्वपूर्ण यन्त्र है। यही राज तथा निजी वित्त में प्रमुख भेद हैं।

बजट

बजट सरकार की अनुमानित आय तथा व्यय का वार्षिक विवरण होता है। बारह महीने की अवधि, जिसके लिए बजट बहुधा तैयार किया जाता है, एक देश से दूसरे देश में भिन्न होती है। उदाहरणार्थ, भारत तथा ब्रिटेन में 'बजट वर्ष' पहली अप्रैल से ३१ मार्च तक होता है, तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में पहली जुलाई से ३० जून तक और कुछ यूरोपीय देशों में पहली जनवरी से ३१ दिसम्बर तक होता है। सरकार के बहुधा दो बजट होते हैं—एक 'आय बजट' (revenue budget) और दूसरा 'पूँजी बजट' (capital budget)।

पूंजी बजट. पूँजी बजट आंतरिक तथा वाह्य ऋणों, अल्प बचत, आरक्षित निधि, आकस्मिकता-निधि से प्राप्त आय तथा रेल, पोस्ट, टेलीग्राफ, असैनिक कार्यों (civil works), औद्योगिक विकास, स्थायी ऋणों के शोधन तथा राज्य सरकारों को दिए गए ऋण तथा आग्रिमी के लिए किये गए पूंजी स्वरूप विकासात्मक तथा अविकासात्मक परिव्ययों को प्रदर्शित करता है।

पूँजी बजट को अलग रखने की आवश्यकता इसलिए उत्पन्न होती है कि (१) आधुनिक युग में कुल सार्वजनिक परिव्यय विशाल होता है तथा सम्भवतः चालू

आय द्वारा नहीं पूरा किया जा सकता । इसकी आंशिक पूर्ति इसलिए राज्य के पूँजी संसाधनों से करनी होती है; (२) लेखे (accounting) के दृष्टिकोण से चालू बजट वह होता है जिसके अन्तर्गत उन वस्तुओं और सेवाओं का क्रय दिखाया जाता है जिनका उपभोग उस लेखे की अवधि में किया जाता है, जबकि पूँजी बजट के अन्तर्गत उन वस्तुओं और सेवाओं का क्रय प्रदर्शित किया जाता है जिनकी अवधि अधिक होती है; तथा (३) जबकि 'आय बजट' में ऐसे व्यय के मद होते हैं जो आय प्रदायक आदेयों (income-yielding assets) का सृजन नहीं करते, पूँजी बजट में ऐसे परिव्यय (outlays) भी होते हैं जो आय प्रदायक आदेयों का सृजन करते हैं । इसी आशय में पूँजी बजट के परिव्ययों का स्वरूप आत्म परिसमापित (self-liquidating) होता है ।

आय बजट. आय बजट आय की चालू मदों—जैसे आय कर, व्यय कर, सम्पत्ति कर, कस्टम ड्यूटी तथा व्यावसायिक सेवाओं दारा प्राप्त आय—तथा व्यय की चालू मदों जैसे असैनिक प्रशासन, सुरक्षा, शिक्षा तथा स्वास्थ्य सेवाओं को प्रदर्शित करता है ।

बजट का आर्थिक महत्व. बजट केवल सरकार के आय तथा व्ययों का विवरण ही नहीं है, वरन् इसका एक निश्चित आर्थिक महत्व भी है ।

(१) जिस रूप में बजट पार्लियामेंट में प्रस्तुत किया जाता है उसके रूप तथा अन्तर्वस्तु (content) को इस प्रकार से बनाया जाता है जिससे वह सरकार की वैत्तिक क्रियाओं के विषय में पूर्ण जानकारी कराने में समर्थ हो सके । यह इसलिये आवश्यक है क्योंकि सरकार अपनी सम्पूर्ण आय तथा व्ययों के लिये पार्लियामेंट द्वारा जनता को उत्तरदायी है । इस प्रकार का उत्तरदायित्व इसलिए आवश्यक है क्योंकि मुद्रा पर वास्तव में जनता का आधिपत्य है तथा मुद्रा का हस्तान्तरण तो सरकार द्वारा केवल सामाजिक कल्याण सर्वाधिक करने के लिये किया जाता है। यह उत्तरदायित्व बजट (accountability budget) के सम्बोध को जन्म देती है ।

(२) बजट परिव्ययों का देश के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण स्थान होता है । इसलिए यह आवश्यक हो जाता हैं कि व्यापक राष्ट्रीय हित के लिए उपलब्ध संसाधनों का सर्वोत्तम ढंग से उपयोग किया जा सके । इसीलिए बजट का कार्यात्मक वर्गीकरण (functional classification) किया जाता है जो कि विभिन्न मदों जैसे कृषि, स्वास्थ्य, सार्वजनिक निर्माण कार्य, शिक्षा इत्यादि पर किये गए परिव्ययों के विषय में सामान्य योजना

प्रस्तुत करता है तथा यह प्रदर्शित करता है कि इन विभिन्न मदों पर कितनी राशि व्यय की जायेगी। इसका उद्देश्य वास्तविक रूप में बजट व्ययों की विभिन्न मदों को उपलब्ध संसाधनों से सहसम्बद्ध कराना है जिससे विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं की मांग उपलब्ध पूर्ति से अधिक न हो सके। यह 'संसाधन बजेटिंग' के सम्बोध को जन्म देती है।

(३) बजट की विभिन्न मदें सरकार को अपनी विभिन्न मदों पर किए गए व्यय पर नियन्त्रण तथा विनियमन करने में सहायता प्रदान करती है जिससे बजट को कार्यान्वित करने में सहायता पहुंचती है। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि बजट की विभिन्न मदों का वर्गीकरण सतर्कता के साथ किया जाये जिससे उसे कार्यान्वित करने में सुविधा हो। यह बजटीय वर्गीकरण के सम्बोध को जन्म देती है।

राजवित्त का सिद्धान्त

राजवित्त के सिद्धान्त का प्रमुख उद्देश्य है कर और व्यय के सिद्धान्तों को संयुक्त कर यह बतलाना कि समाज के आर्थिक कल्याण को सर्वाधिक करने के लिये सरकार को कितनी आय प्राप्त करनी चाहिए तथा उसका व्यय किस प्रकार से करना चाहिए। इसी कारण से राजवित्त के सिद्धान्त को सर्वाधिक सामाजिक लाभ का सिद्धान्त कहते हैं।

सर्वाधिक सामाजिक लाभ का सिद्धान्त. करारोपण के सिद्धान्त के अनुसार समाज का 'न्यूनतम समूहीकृत त्याग' (least aggregate sacrifice) उस समय होगा जब प्रत्येक व्यक्ति पर सीमान्त त्याग समान हो, तथा व्यय के सिद्धान्त के अनुसार सर्वाधिक सामाजिक लाभ उस समय होगा जब सार्वजनिक व्यय द्वारा विभिन्न दिशाओं में सीमान्त लाभ समान हो। परन्तु ये दोनों सिद्धान्त इस बात को मान लेते हैं कि सरकार द्वारा आय प्राप्त की जाने वाली तथा व्यय की जाने वाली मात्रा ज्ञात है। यदि हम यह नहीं जानते कि सर्वोत्तम सार्वजनिक हित के लिए सरकार को कितनी आय प्राप्त करनी चाहिए तथा कितना व्यय करना चाहिए तब करारोपण और व्यय का सिद्धान्त संस्थिति की दशाओं को इंगित करने के लिये पर्याप्त नहीं होगा।

"मुख्यतया कर के द्वारा ही सरकार सार्वजनिक वस्तुओं और सेवाओं को प्रदान करने के लिये अथवा इन संसाधनों का हस्तान्तरण निर्धनों को करने के लिए आर्थिक संसाधनों पर नियन्त्रण प्राप्त करती है। फिर भी यहाँ पर एक कठिनाई उत्पन्न होती है। वह यह है कि किस आधार पर हम यह निर्णय कर सकते हैं कि इन कार्यों के लिये कर की कितनी मात्रा वांछनीय है। अर्थव्यवस्था के निजी

क्षेत्र में जहाँ आय प्रदान करने के लिये ऐच्छिक मूल्य भुगतानों (voluntary price payments) का प्रयोग किया जाता है, वहाँ उत्पादकों द्वारा किसी वस्तु अथवा सेवाओं की अत्यधिक पूर्ति अथवा अल्प पूर्ति करने की प्रवृत्ति से ही मूल्य में वृद्धि अथवा कमी हो सकती है। इस प्रकार के परिवर्तन मुक्त बाजार की अर्थव्यवस्था में होते हैं क्योंकि वहाँ मूल्य ही उस नियन्त्रक यन्त्र (controlling mechanism) का कार्य करता है जिसके द्वारा उत्पादक अपनी प्रदा में परिवर्तन मांग के परिवर्तन के अनुसार करते रहते हैं। इस प्रकार का मापक सरकारी क्षेत्र में नहीं होता, क्योंकि कर के अनिवार्य रूप का यह अर्थ होता है कि इस बात का कोई निर्देशन नहीं है कि लोग यह सोच रहे हैं कि प्राप्त करने की लागत दिये रहने पर किसी वस्तु या सेवा की पूर्ति अत्यधिक हैं अथवा अत्यल्प। वस्तुनिष्ठ माप के स्थान पर एक आत्मनिष्ठ (subjective) मापदण्ड हमारे पास है जिसे अर्थशास्त्रियों ने सर्वाधिक सामाजिक लाभ का सिद्धान्त कहा है। इस सिद्धान्त के अनुसार सरकार को मुद्रा का व्यय उस समय तक करना चाहिए जब तक सामाजिक व्यय से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता, कर प्रदान करने की सीमान्त अनुपयोगिता के बिल्कुल बराबर न हो जाये। यह माप दण्ड सम-सीमान्त नियम (equi-marginal principle) पर आधारित हैं जिसके अनुसार सभी दिशाओं में व्यय द्वारा प्राप्त उपयोगिता समान होनी चाहिए अन्यथा दूसरी वस्तुओं और सेवाओं पर व्यय करने से, जिनकी उपयोगिता पहले की वस्तुओं और सेवाओं से अधिक है, अधिक लाभ की प्राप्ति होगी।"

सर्वाधिक सामाजिक लाभ के सिद्धान्त का निरूपण एक चित्र द्वारा भी किया जा सकता है। मान लीजिए कि सीमान्त लाभ तथा सीमान्त त्याग को रुपये के रूप में नापा जा सकता है तथा यह भी मान लिया जाये कि सन्तोष तथा त्याग की अन्तर्वैयक्ती (interpersonal) तुलना भी की जा सकती है तथा हम न केवल व्यक्ति के वरन् सम्पूर्ण समाज के सीमान्त त्याग तथा सीमान्त लाभ को मुद्रा के माध्यम से ज्ञात कर सकते हैं। इन परिकल्पनाओं के साथ हम एक चित्र खींच सकते हैं (जैसा कि चित्र १ में दिखलाया गया है) जिसमें x-axis पर वार्षिक आय और व्यय की कुल मात्रा, तथा y-axis पर प्रति इकाई रुपये की आय और व्यय द्वारा प्राप्त सीमान्त सामाजिक त्याग एवं लाभ दिखलाया गया हैं। BB वक्र सीमान्त लाभ तथा SS वक्र समाज के सीमान्त त्याग को प्रदर्शित करती है। BB वक्र बायें से दाहिनी ओर गिरती है क्योंकि ज्यों ज्यों अतिरिक्त सार्वजनिक व्यय किया जाता है और जनता की सुविधाओं सम्बन्धित मांग संतुष्ट होती जाती है त्यों-त्यों लोगों को प्रति रुपये सार्वजनिक व्यय के द्वारा कम सीमान्त लाभ

प्राप्त होता है क्योंकि क्रमागत ह्रासमान उपयोगिता कार्य करती है। इसी प्रकार SS वक्र बायें से दाहिने ओर ऊपर उठती है क्योंकि ज्यों ज्यों कर में वृद्धि होती है, अन्य बातों के समान होने पर, त्यों त्यों कर में प्रति इकाई रुपया देने पर सीमान्त सामाजिक त्याग बढ़ता जाता है। ऐसा ह्रासमान उपयोगिता नियम के आधार पर होता है।
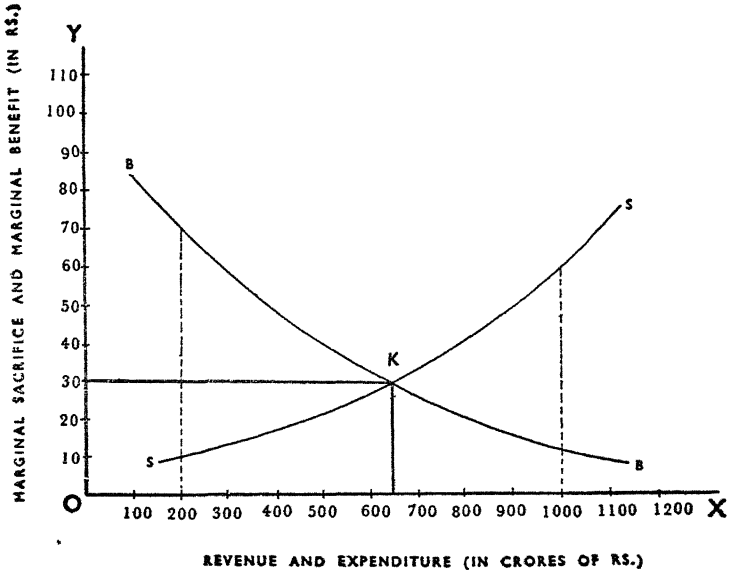
चित्र १

यदि राज्य २०० करोड़ रुपये की आय प्राप्त कर उसका व्यय करता है तब इस व्यय द्वारा समाज को ७० के बराबर सीमान्त सामाजिक लाभ होता हैं, परन्तु सीमान्त सामाजिक त्याग केवल १० हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सीमान्त सामाजिक लाभ, सीमान्त सामाजिक त्याग से कहीं अधिक है तथा यह सर्वोत्तम सार्वजनिक हित में होगा यदि राज्य अधिक आय प्राप्त करके उसका व्यय करता है। ज्यों ज्यों अधिक आय प्राप्त की जायेगी त्यों त्यों सीमान्त त्याग में वृद्धि होती जायेगी, जैसा कि SS वक्र में दिखलाया गया है, तथा ज्यों ज्यों सार्वजनिक व्यय अधिक होता जायेगा त्यों त्यों सीमान्त सामाजिक लाभ कम होता जायेगा जैसा कि BB वक्र में दिखलाया गया है। चित्र १ में K बिन्दु पर जब राज्य ६५० करोड़ रुपये प्रतिवर्ष आय प्राप्त कर उसका व्यय करता है तब सीमान्त सामाजिक लाभ सीमान्त सामाजिक त्याग के ठीक बराबर रहता है। अतः इतनी ही मात्रा के बराबर सरकार

को आय प्राप्त कर उसका व्यय करना चाहिए। यदि राज्य इन दी हुई दशाओं के अन्तर्गत १००० करोड़ रुपये वार्षिक आय प्राप्त कर उसका व्यय करता है तब सीमान्त सामाजिक त्याग (जो ६० के बराबर है) सीमान्त सामाजिक लाभ (जो १५ के बराबर है) से बहुत अधिक होगा। अतः इतनी राशि के बराबर आय प्राप्त कर उसका व्यय करना सर्वोत्तम सार्वजनिक हित में नहीं होगा।

इस राशि की प्राप्ति किस विधि से करनी चाहिए जिससे सामाजिक त्याग न्यूनतम हो, यह करारोपण के सिद्धान्त की समस्या है। तथा किस प्रकार से इसका व्यय होना चाहिए जिससे सामाजिक लाभ सर्वाधिक हो, यह सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त की समस्या है। परन्तु कितनी आय प्राप्त कर उसका व्यय करना चाहिए—हमारे उदाहरण में ६५० करोड़ रुपये वार्षिक—यह राजवित्त के सिद्धान्त द्वारा बतलाया जा सकता है।

BB वक्र का ढलाव उस दर को व्यक्त करता है जिस दर से सीमान्त सामाजिक लाभ घटता है। यदि राज्य सम्पूर्ण आय को केवल एक ही दिशा में व्यय करता —उदाहरणार्थ, केवल शिक्षा में—तब BB वक्र अधिक तीव्रता से नीचे की ओर गिरती क्योंकि समाज की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति होने के पश्चात, मुद्रा के प्रत्येक अतिरिक्त व्यय से सीमान्त सामाजिक लाभ में कमी अधिक तेजी से होगी। परन्तु यदि राज्य अपने व्यय को केवल एक या कुछ मदों तक सीमित नहीं रखता बल्कि सार्वजनिक व्यय को अधिकांश दिशाओं में करता है तब अतिरिक्त व्यय से सीमान्त सामाजिक लाभ उतनी अधिक तेजी से नहीं कम होगा। ऐसी स्थिति में BB वक्र अधिक चपटी होगी तथा SS वक्र को अधिक दाहिनी ओर काटेगी और संस्थिति का बिन्दु भी अधिक दाहिनी ओर होगा। SS वक्र का ढाल उस दर को बतलाता है जिस दर से अधिक करारोपण के परिणामस्वरूप सीमान्त सामाजिक त्याग में वृद्धि होती जाती है। यदि धनी व्यक्तियों के साथ-साथ अधिक निर्धन व्यक्तियों पर भी कर लगाया जाता है तब वक्र अधिक ढालू हो जायेगी क्योंकि ऐसी स्थिति में प्रति इकाई कर द्वारा सीमान्त सामाजिक त्याग में वृद्धि अधिक होगी तथा BB वक्र को यह K बिन्दु के बाई ओर काटेगी और सामाजिक लाभ को सर्वाधिक करने के उद्देश्य से राज्य ६५० करोड़ रुपये आय प्राप्त कर उसका व्यय करने में समर्थ नहीं हो सकेगा। परन्तु यदि निर्धन व्यक्ति कर से मुक्त कर दिये जाते हैं तथा कर ऐसे लोगों पर लगाया जाता है जिनकी आय एक निश्चित मात्रा से अधिक है, तब कर के परिणामस्वरूप सीमान्त सामाजिक त्याग में वृद्धि अधिक तेजी से नहीं होगी तथा SS वक्र अधिक चपटी होगी और संस्थिति का बिन्दु अधिक दाहिनी ओर होगा तथा राज्य सामाजिक लाभ को सर्वाधिक

करने के उद्देश्य से अधिक आय को प्राप्त तथा उसका व्यय कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि यदि सार्वजनिक आय को अधिक बुद्धिमानी से व्यय तथा प्राप्त किया जाता है तब राज्य अधिक आय को प्राप्त तथा व्यय कर सकता है और सामाजिक लाभ सर्वाधिक करने की इस प्रकार की क्रिया करारोपण एवं सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्तों के अनुरूप होगी।

आलोचना. सर्वाधिक सामाजिक लाभ का नियम सिद्धान्त ठीक है परन्तु इसे व्यवहार में परिणत करने में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं: (१) मुद्रा या किसी अन्य इकाई के रूप में करारोपण द्वारा हुए त्याग तथा व्यय द्वारा हुये लाभ को नापना सम्भव नहीं है तथा त्याग और लाभ की अन्तर्व्यक्तीय तुलना भी सम्भव नहीं है। इसका यह परिणाम होता है कि सीमान्त त्याग और सीमान्त लाभ को ठीक-ठीक नहीं नापा जा सकता तथा उस विन्दु को भी नहीं जाना जा सकता जहाँ पर ये दोनों समान होते हैं। (२) राज्य विशाल राशि में आय प्राप्त कर उसका व्यय करता है और यदि किसी प्रकार कुल त्याग तथा कुल लाभ को नापा भी जा सके फिर भी इस बात को तो नापा नहीं जा सकता कि लगाय गए कर के सीमान्त रुपये द्वारा कितना त्याग होता है तथा सार्वजनिक व्यय के सीमान्त रुपये द्वारा कितना लाभ होता है। अतः वास्तविक व्यवहार में चित्र १ के संस्थैति के बिन्दु K को नहीं जाना जा सकता। (३) यहाँ पर वर्णित सर्वाधिक सामाजिक लाभ के सिद्धान्त में स्थैतिक स्थितियाँ मान ली गई हैं परन्तु वास्तविक व्यवहार में प्रवैगिक दशायें होती हैं तथा प्राप्त और व्यय की गई आय की मात्रा उस दर को प्रभावित करती है जिस दर से सीमान्त सामाजिक लाभ में कमी तथा सीमान्त सामाजिक त्याग में वृद्धि होती है। इसलिये चित्र १ के K बिन्दु का ठीक-ठीक निश्चित किया जा सकना सम्भव नहीं है और उस राशि को भी ठीक-ठीक नही जाना जा सकता जिसकी प्राप्ति तथा व्यय सामाजिक लाभ को सर्वाधिक करने के लिये वाञ्छनीय है क्योंकि यह आंशिक रूप से इस बात पर आधारित है कि राज्य कितनी आय की प्राप्ति तथा व्यय कर चुका है। इसलिये यह सदा सम्भव नहीं है कि सामाजिक लाभ और त्याग के सम्बोध को अधिक वास्तविक तथा व्यावहारिक रूप दिया जा सके।

ये कठिनाइयाँ केवल राजवित्त के सिद्धान्त की ही नहीं वरन् कल्याणकारी अर्थशास्त्र के सभी विभागों में समान रूप से पाई जातीं हैं। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यद्यपि सामाजिक लाभ तथा सामाजिक त्याग के वास्तविक और व्यावहारिक रूप को जान सकना सम्भव नहीं है, फिर भी हम इन अनुमानों के आधार पर समस्या का विश्लेषण कर सकते हैं और आर्थिक कल्याण की

कसौटी की उपयोगिता की मापनीयता तथा त्याग की अन्तर्व्यक्तीय तुलना इत्यादि जैसी आत्मनिष्ट समस्याओं में अपने को उलझाये बिना ही ज्ञात कर सकते हैं।

संघीय वित्त

राजवित्त के सिद्धान्त की जिस प्रकार ऊपर व्याख्या की गई है उसी प्रकार से वह संघीय वित्त (federal finance) में भी लागू होता है जब अनेक स्वतन्त्र इकाइयाँ मिलकर एक संघ बनाती हैं। परन्तु राजवित्त के सिद्धान्त को संघ में लागू करते समय अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। चूँकि केन्द्र तथा राज्य दोनों एक ही प्रकार के व्यक्तियों पर कर लगाते हैं, इसलिए कर को अधिक न्यायोचित बनाने में विशेष कठिनाई होती हैं। केन्द्र तथा राज्य द्वारा लगाये गये कर कुछ व्यक्तियों पर अन्य की अपेक्षा अधिक तीव्र पड़ सकते हैं जिससे सन्तुलन बिगड़ जाता है और न्यूनतम सामूहिक त्याग के नियम को व्यवहार में परिणत करना अत्यन्त कठिन कार्य हो जाता है। भारत में चूँकि केन्द्रीय सरकार अधिकांश प्रत्यक्ष करों—जैसे आय कर, व्यय कर, तथा सम्पत्ति कर—को लगाती है तथा राज्य सरकारें अधिकांश अप्रत्यक्ष करों—जैसे बिक्री कर, उत्पादन शुल्क—को लगाती हैं इसलिए कर प्रणाली अधिक प्रतिगामी हो गई है है और उसका भार निर्धन व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है।

परन्तु संघीय वित्त के बारे में जो सबसे बड़ी कठिनाई होती है वह यह है कि या तो राज्य सरकारें अनावश्यक व्यय करें तथा जितनी आय की उन्हें आवश्यकता है उतनी आय को प्राप्त करने के लिए आवश्यक प्रयास न करें अथवा अधिकांश लोचपूर्ण आय के स्रोतों पर केन्द्रीय सरकार का एकाधिपत्य हो और राज्य सरकारों को पर्याप्त संसाधनों की प्राप्ति न हो सके जो कि उनके विकासात्मक कार्यों को करने के लिये अत्यन्त आवश्यक होते हैं। संघीय वित्त के सिद्धान्त का प्रमुख उद्देश्य है उन कठिनाइयों को दूर करने की विधि बतलाना तथा यह सुनिश्चित करना कि राजवित्त का सिद्धान्त उतनी ही सरलता तथा कुशलता के साथ संघ की स्थिति में लागू होता है।

संघीय वित्त का सिद्धान्त. व्यय में शिथिलता को रोकने के लिये यह कहा जा सकता है कि "राजवित्त का मौलिक सिद्धान्त, कि जहाँ तक सम्भव हो सके वहाँ तक आय प्राप्त करने का उत्तरदायित्व तथा उसे व्यय करने की स्वतन्त्रता साथ साथ रहनी चाहिए, संघ के लिये जितना मौलिक है उतना ही अन्य वैत्तिक

संस्थाओं के लिये भी है ।" इस सिद्धान्त का यह अर्थ है कि संघ की विभिन्न इकाइयों को अपने क्षेत्र में कर लगाने की स्वतन्त्रता तथा प्राप्त आय को व्यय करने का पूर्ण उत्तरदायित्व होना चाहिए जबकि केन्द्रीय सरकार को भी उस सीमा तक अपने करों को लगाना चाहिए जितनी आय की आवश्यकता उसे व्यय करने के लिये है और इसका पूर्ण उत्तरदायित्व उसके ऊपर होना चाहिए। संघीय वित्त का यह सिद्धान्त उस स्थिति में पर्याप्त हो सकता है जब आर्थिक विकास निम्न स्तर का हो और संघ के प्रत्येक भाग की आर्थिक स्थिति लगभग एक सी हो तथा सार्वजनिक आय की आवश्यकता कम हो । परन्तु इस सिद्धान्त का बहुत कुछ महत्व उस समय कम हो जाता है जब संघ की विभिन्न इकाइयों का आर्थिक विकास असमान हो जैसा कि भारत में है जहाँ उड़ीसा और आसाम एक प्रकार की आर्थिक स्थिति में हैं तथा बम्बई और पश्चिमी बंगाल दूसरे प्रकार की आर्थिक स्थिति में । यदि निर्धन राज्य अपने व्यय करने की स्वतन्त्रता के अनुरूप आय प्राप्त करने के लिये उत्तरदायी हों तब वे अपनी निर्धनता के कारण अधिक आय प्राप्त नहीं कर सकते। परिणामस्वरूप उनका आर्थिक विकास पिछड़ जायेगा । इसके विपरीत, अधिक विकसित राज्य जिन्हें पर्याप्त आय प्राप्त होती है उनका अनावश्यक व्यय अवश्य होगा यदि अतिरिक्त आय प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है। अतः, यह संघीय वित्त का सही सिद्धान्त नहीं है कि "आय प्राप्त करने का उत्तरदायित्व सदैव व्यय की स्वतन्त्रता के साथ रहना चाहिए"।

संघीय वित्त के सिद्धान्त के अधिक वास्तविक विवरण के अनुसार प्रत्येक प्रकार से केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के कर लगाने तथा व्यय करने के अधिकारों का स्पष्ट रूप से विभाजन इस प्रकार होना चाहिए कि (१) सार्वजनिक व्यय से सीमान्त सामाजिक लाभ सम्पूर्ण संघ के करारोपण द्वारा उत्पन्न सीमान्त सामाजिक त्याग के समान हो; (२) जहाँ तक सम्भव हो सके वहाँ तक संघ के प्रत्येक क्षेत्र का समान आर्थिक विकास सुनिश्चित किया जा सके; तथा (३) उपलब्ध संसाधनों तथा जनता की आवश्यकताओं के अनुरूप सम्पूर्ण संघ का आर्थिक विकास सर्वाधिक हो सके ।

संघीय वित्त के इन उद्देश्यों में निहित हैं कि: (१) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों करों को लगा सकती हैं जैसा भी उनके लिये सुविधाजनक तथा मितव्ययी हो; (२) आय के कुछ विभक्त मद हो सकते हैं जिससे कि केन्द्रीय सरकार कुछ कर एकत्रित कर सके जिनका कुछ अंश तो वह स्वयं अपने पास रखे और कुछ को राज्यों में वितरित कर दे; (३) केन्द्रीय सर-

कार राज्यों को आर्थिक सहायता (subventions) तथा सहायक अनुदान (grants-in-aid) उनके आर्थिक विकास के लिए दे सकती है जो उनके सामर्थ्य के बाहर हैं; तथा (४) इस प्रकार की आर्थिक सहायता न तो एकत्रित करने के स्रोत के आधार पर और न ही जनसंख्या के आधार पर दी जानी चाहिए वरन् व्यापक अर्थ में आर्थिक प्रगति तथा विकास करने के लिये दी जानी चाहिए। भारत में संघीय वित्त की प्रणाली बहुत कुछ इन सिद्धान्तों के अनुरूप हैं ।

अध्याय १४

सार्वजनिक व्यय

(Public Expenditure)

ऐसा कहा जाता है कि सार्वजनिक आय की अपेक्षा सार्वजनिक व्यय राजवित्त का अधिक प्रमुख अंग होता है क्योंकि व्यक्तियों के व्यवहार के विरुद्ध (जो पहले आय प्राप्त कर तब अपना बजट तैयार करते हैं) राज्य पहले अपने व्यय का बजट तैयार कर लेता हैं, तब उसी के अनुसार आय प्राप्त करने का प्रयास करता है। सार्वजनिक व्यय का वास्तविक महत्व इस बात में निहित है कि कुछ व्ययों को निश्चित कर लेने के उपरान्त राज्य अपने व्ययों के लिए आय न केवल करों, सार्वजनिक ऋणों तथा सार्वजनिक उद्योगों के अतिरेक से प्राप्त करता है वरन् सार्वजनिक व्यय तथा सार्वजनिक आय के अन्तर (gap) की हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा भी पूर्ति करता है।

सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण

एडम स्मिथ के अनुसार सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण तीन श्रेणियों में किया जा सकता है: (१) अन्य स्वतंत्र देशों के अन्याय और हिंसा से समाज की सुरक्षा करने के लिए, (२) नागरिकों में आन्तरिक न्याय सुनिश्चित करने के लिए, तथा (३) ऐसी सार्वजनिक संस्थाओं और निर्माण कार्यों की स्थापना तथा रक्षा करने के लिये जो सम्पूर्ण समाज के लिए तो लाभप्रद होते हैं परन्तु इन व्ययों से किसी व्यक्ति को मैद्रिक लाभ नहीं प्राप्त हो सकता। एक दूसरे वर्गीकरण के अनुसार सार्वजनिक व्यय का विभाजन (१) रक्षात्मक व्यय, जैसे सुरक्षा तथा आधुनिक सरकार का पुलिस पर किया गया व्यय; (२) व्यावसायिक व्यय जो व्यावसायिक उद्योगों तया व्यापार और वाणिज्य के विकास को प्रोत्साहित करने की अन्य योजनाओं पर किया जाता है; तथा (३) विकासात्मक व्यय, जैसे स्वास्थ्य, शिक्षा और सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर किया गया व्यय।

सार्वजनिक व्यय का एक अन्य वर्गीकरण भी किया जा सकता है: (१) उत्पादक तथा अनुत्पादक व्यय. उत्पादक व्यय सार्वजनिक व्यय का वह अंश है जिसकी लागत का भुगतान सरकार को प्रत्यक्ष रूप से हो जाता है जैसे रेल पर किया गया व्यय। अनुत्पादक व्यय शिक्षा, स्वास्थ्य और सुरक्षा पर किया गया व्यय होता है यद्यपि जो जनता की आय अर्जित करने की शक्ति में वृद्धि करता है तथा अप्रत्यक्ष रूप में राज्य को अधिक कर-आय की प्राप्ति कराता है, फिर भी वह प्रत्यक्ष

रूप से राज्य की आय में वृद्धि नहीं करता । (२) जानपद तथा सुरक्षा व्यय. सुरक्षा व्यय के अन्तर्गत वायु, जल तथा भू सेना और देश की सुरक्षा से सम्बन्धित अन्य परियोजनाओं पर किए गए व्यय सम्मिलित हैं। शेष जानपद व्यय होते हैं, जैसे प्रशासन, पुलिस और सार्वजनिक उद्योगों पर किए गए व्यय । (३) केन्द्रीय, राज्य तथा स्थानीय व्यय. यह वर्गीकरण व्यय करने वाली सत्ता के अनुसार किया गया है जैसे केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार तथा स्थानीय सरकारों द्वारा किए गए व्यय। सार्वजनिक व्यय के ये सभी वर्गीकरण एक प्रकार के व्यय को दूसरी प्रकार के व्यय से अलग करने के लिए कोई उपयुक्त आधार नहीं प्रस्तुत करते तथा कोई सिद्धान्तीय समस्या नहीं उत्पन्न करते । इनमें से कोई भी पूर्ण तथा परिग्राही नहीं हैं।

आधुनिक वर्गीकरण के अनुसार "सरकारी व्यय मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं: (१) साधन क्रय (factor purchase) तथा (२) हस्तान्तरित व्यय (transfer expenditure)। साधन क्रय के अन्तंगत वे व्यय सम्मिलित हैं जो सरकार द्वारा सार्वजनिक वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में चाही गई मध्यवर्ती वस्तुओं (intermediate goods) और सेवाओं के क्रय करने के लिए किए जाते हैं। इसके उदाहरण हैं सरकारी एजेन्सियों को बनाए रखने के लिए किए गए व्यय, सार्वजनिक निर्माण कार्यों की लागत तथा सैनिक व्यय । हस्तान्तरित व्यय वे होते हैं जो निजी क्षेत्र (private sector) में एक वर्ग से दूसरे वर्ग में केवल क्रय शक्ति को हस्तान्तरित करते हैं । ये या तो निःशुल्क हस्तान्तरण हो सकते हैं (अर्थात् प्राप्त करने वाले से प्रतिकर की आवश्यकता नहीं होती) अथवा प्रवर्तमान सम्पत्ति अधिकारों के लिए भुगतान हो सकते हैं । इसके अन्तर्गत सम्मिलित हैं सार्वजनिक ऋण पर दिया गया ब्याज, व्यस्थों को दी गई सुविधाएें, भूमि अनुदान, तथा बेरोजगारी के समय दी जाने वाली आर्थिक सहायता। साधन क्रय तथा हस्तान्तरित व्ययों के रूप में स्पष्टतः मौलिक अन्तर इस आधार पर होता है कि वे निजी क्षेत्र में किस सीमा तक हस्तक्षेप करते हैं।

अन्य प्रकार के व्ययों से हस्तान्तरित व्यय इस अर्थ में भिन्न होते हैं कि इनमें प्राप्त करने वाले बदले में कोई सेवा प्रदान नहीं करते। हस्तान्तरित भुगतान दो श्रेणी के अर्न्तगत विभाजित किए जाते हैं: ऐसे व्यक्तियों को अनुदान जो संसदीय नियम द्वारा सुयोग्य (eligible) घोषित किए गए हैं, तथा सार्वजनिक ऋणों पर दिए गए ब्याज। व्यक्ति के अनुदानों को भी दो उप-विभागों में विभाजित किया जा सकता है । कुछ प्रकार की आर्थिक सहायतायें तो शुद्धतः देन होती हैं, उदाहरणार्थ आश्रित बच्चों की सहायता प्रत्यक्ष अनुदान है। इसके विपरीत एक वयस्क

को दिए गए बोनस में यह निहित है कि प्राप्त करने वाले ने देश की सेवा की है जिसका पूर्ण रूपेण पारिश्रमिक उस समय नहीं दिया जा सका जब वह कार्य कर रहा था।

हस्तान्तरित व्ययों तथा साधन क्रम व्ययों के रूप में इस प्रकार का वर्गीकरण अन्य वर्गीकरणों से श्रेष्ठ है क्योंकि (१) यह अतिव्यापी (overlapping) नहीं है, (२) यह आधुनिक बजटीय प्राविधि के अनुकूल है, तथा (३) यह सरकार द्वारा किए गए विभिन्न प्रकार के मूलभूत अन्तरों को भलीभांति स्पष्ट कर देता है।

सार्वजनिक व्यय के सामान्य नियम

जिस प्रकार **करारोपण के नियम** (canons) होते हैं उसी प्रकार सार्वजनिक व्यय के भी कुछ नियम होते हैं जिनका वर्णन फिण्डले शिराज तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने किया है। परन्तु ये उतने स्पष्ट नहीं हैं जितने कि कर के नियम हैं तथा ये कोई अधिक आवश्यक कार्य नहीं करते।

(१) लाभ (benefit). लाभ का नियम यह है कि सरकार को व्यय सम्बन्धी निर्णय करने पर सार्वजनिक व्यय द्वारा विभिन्न दिशाओं में लोगों के 'लाभ की सामर्थ्य' को ठीक उसी प्रकार ध्यान में रखना चाहिए जिस प्रकार सरकार कर लगाते समय लोगों के कर देने की सामर्थ्य को ध्यान में रखती है। मुख्य कठिनाई यहाँ यह होती है कि लाभ को नापा नहीं जा सकता तथा वास्तविक व्यवहार में सीमान्त लाभ के आधार पर सार्वजनिक व्यय का नियोजन करना यदि असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन तो हो ही जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ सार्वजनिक व्यय वैयक्तिक लाभ को बढ़ा सकते हैं, पर सामाजिक लाभ को नहीं। परन्तु लाभ के सिद्धान्त के अनुसार हम सामाजिक लाभ को सर्वाधिक करना चाहते हैं, व्यक्तिगत लाभ को नहीं। यह एक महान् व्यावहारिक कठिनाई उत्पन्न करता है।

(२) मितव्ययिता (economy). मितव्ययिता का नियम यह बतलाता है कि सार्वजनिक व्यय के सभी अपव्ययों (wastes) को न होने देना चाहिए जिससे सार्वजनिक आय का व्यय जनता के सर्वोत्तम हित में किया जा सके। मितव्ययिता का अर्थ व्ययहीनता तथा कंजूसी नहीं है। इसका अर्थ केवल सभी प्रकार के अति-व्ययों तथा अपव्ययों को रोकना है। मितव्ययिता के अभाव में समाज को दी हुई आय से कुल लाभ सर्वाधिक नहीं होगा वरन् उससे कम होगा।

(३) स्वीकृति (sanction). इस नियम का अर्थ है कि सार्वजनिक व्यय करने के पहले उसकी स्वीकृति सम्बन्धित प्राधिकारी से प्राप्त कर लेनी चाहिए। यह इस बात को सुनिश्चित करेगी कि (क) अतिव्यय तथा अपव्ययों को रोका

जा सके, (ख) उचित ढंग से लेखा निरीक्षण हो सके, तथा (ग) सार्वजनिक व्यय पर संसदीय नियन्त्रण तथा निरीक्षण हो सके। समुचित स्वीकृति के अभाव में बहुत कुछ सम्भावना इस बात की है कि सार्वजनिक निधि का दुरुपयोग तथा दुरुपयोजन (misappropriation) हो जाये।

(४) अतिरेक (surplus). वैयक्तिक वित्त के सदृश, सार्वजनिक प्राधिकारी को बजट को केवल संतुलित करने का ही प्रयास नहीं करना चाहिए वरन् प्रत्येक वर्ष अतिरेक का भी सृजन करना चाहिये चाहे वह अतिरेक कितना ही अल्प क्यों न हो। इस नियम का उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि अपव्यय को रोका जा सके और अर्थव्यवस्था पर अतिभार न पड़ने पाए। परन्तु आधुनिक युग में यह नियम अधिक उपयुक्त नहीं है क्योंकि अधिकांश सरकारों को सुरक्षा, विकासात्मक योजनाओं, तथा सामाजिक कार्यों पर व्यय अपनी वार्षिक आयों से कहीं अधिक करना होता है। महत्वपूर्ण बात यह नहीं है कि अतिरेक बजट हो वरन् उचित यह हैं कि पूर्ण वृत्ति की स्थितियों को लाकर उन्हें स्थापित रखा जाये तथा राष्ट्र की आन्तरिक एवं बाह्य सुरक्षा सुनिश्चित की जाये।

(५) लोचपूर्णता (elasticity). लोचपूर्णता के नियम का अर्थ यह है कि आवश्यकता पड़ने पर बिना कठिनाई के सार्वजनिक व्यय में कमी अथवा वृद्धि करना सम्भव हो सके। जहाँ तक सार्वजनिक व्यय में वृद्धि करने का प्रश्न है इसमें वृद्धि अत्यन्त सरलता से की जा सकती है, यदि राज्य को आवश्यक संसाधन उपलब्ध हों। लोचपूर्णता के सम्बन्ध में वास्तविक बात यह है कि आवश्यकता पड़ने पर सार्वजनिक व्यय में कमी भी की जा सके। उदाहरणार्थ, सार्वजनिक व्यय लोचपूर्ण होगा यदि सुरक्षा अथवा विकासात्मक योजनाओं पर किए जाने वाले व्ययों को अल्पकालीन सूचना पर ही बिना अधिक अस्तव्यस्ता के कम किया जा सके। वास्तविक व्यवहार में, फिर भी, सार्वजनिक व्यय में कटौती का विरोध विशेषतः वे लोग करते हैं जिन्हें उस व्यय से लाभ होता है। चूँकि अधिकांश स्थितियों में इसका अर्थ कुछ योजनाओं को अर्द्धपूर्ण छोड़ देना होता है, अतः सार्वजनिक व्यय सदा लोचपूर्णता के नियम को सन्तुष्ट नहीं करता।

सार्वजनिक व्यय का सिद्धान्त. जिस प्रकार करारोपण का सिद्धान्त समाज में 'न्यूनतम सामूहिकृत त्याग' (least aggregate sacrifice) की चेष्टा करता है उसी प्रकार सार्वजनिक व्यय का सिद्धान्त 'सर्वाधिक सामाजिक लाभ' (maximum social benefit) प्रदान करता है। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न दिशाओं में सार्वजनिक व्यय इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि प्रत्येक दिशा में 'सीमान्त सामाजिक लाभ' समान हो। जब व्यय किए गए

अन्तिम रुपये द्वारा विभिन्न दिशाओं में लाभ समान होगा तभी सामाजिक लाभ सर्वाधिक होगा। मान लीजिये हम एक ऐसे बिन्दु से प्रारम्भ करते हैं जहाँ विभिन्न दिशाओं में व्यय से—प्रयोग **अ, ब, स** से—सामाजिक सीमान्त लाभ समान है। यदि एक रुपये के व्यय का हस्तान्तरण **अ** से **ब** के प्रयोग में होता है तब इसका अर्थ यह होगा कि **ब** में जहाँ अब एक अतिरिक्त रुपया व्यय किया जा रहा है वहाँ अब सीमान्त लाभ हस्तान्तरण (transfer) के पूर्व की अपेक्षा कम होगा। ऐसा ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार होता है। चूँकि हस्तान्तरण के पूर्व **अ** और **ब** के सीमान्त सामाजिक लाभ समान थे इसलिए हस्तान्तरण के परिणामस्वरूप **ब** के प्रयोग में अतिरिक्त रुपये से सामाजिक लाभ **अ** के प्रयोग में सीमान्त रुपये से प्राप्त सामाजिक लाभ से कम होगा जहाँ इस रुपये का व्यय अब तक किया जा रहा था। इस प्रकार के हस्तान्तरण से समाज का कुल सामाजिक लाभ कम हो जायेगा।

यह आवश्यक नहीं है कि विभिन्न दिशाओं में सदैव समान मात्रा के व्यय से ही अन्तिम रुपये से सामाजिक लाभ समान होगा। मान लीजिए सार्वजनिक व्यय से सीमान्त सामाजिक लाभ उस समय बराबर होता है जब शिक्षा, पुलिस तथा सुरक्षा पर क्रमशः १००,१५० तथा २०० करोड़ रुपये व्यय किए जाते हैं। परन्तु परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाने के कारण यदि अब समाज शिक्षा को सुरक्षा की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण समझने लगा, तो दी हुई आय द्वारा विभिन्न दिशाओं में सीमान्त सामाजिक लाभ समान करने के लिए यह आवश्यक हो जायेगा कि कुछ सार्वजनिक व्यय—मान लीजिए ५० करोड़ रुपये—का हस्तान्तरण सुरक्षा से शिक्षा पर किया जाये। इसलिए हमें लाभ (benefit) पर एक प्रवैगिक दृष्टिकोण रखनी चाहिए। इसके अतिरिक्त लाभ से तात्पर्य केवल सार्वजनिक व्यय से हुए व्यक्तियों के संतोष से नहीं होना चाहिये वरन् इसके अन्तर्गत सभी व्यक्तियों के हित से सम्बन्धित व्यापक राष्ट्रीय हित निहित होना चाहिए।

व्यावहारिक कठिनाइयाँ. सार्वजनिक व्यय का यह सिद्धान्त सैद्धान्तिक रूप में ठीक है। परन्तु वास्तविक व्यवहार में इसे कार्यान्वित करने में अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं: (१) सामाजिक लाभ को परिभाषित करना सदैव सरल नहीं होता। यदि हम सामाजिक लाभ को परिभाषित नहीं कर सकते तो विभिन्न दिशाओं में व्यय किए गए अन्तिम रुपये से समान लाभ प्राप्त करना संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त विभिन्न वैकल्पिक दिशाओं जिनमें सार्वजनिक व्यय लोगों की आवश्यकताओं के अनुसार किया जाना चाहिये, उससे हुए सामाजिक लाभ को सरलतापूर्वक नहीं नापा जा सकता। भारत में, उदाहरणार्थ, प्रथम पंच

वर्षीय योजना के आरम्भ होने के पूर्व यह भलीभाँति अनुभव नहीं किया गया कि नदी घाटी योजनाओं पर किए गए सार्वजनिक व्यय से अन्य योजनाओं की अपेक्षा अधिक सामाजिक लाभ होता। सामाजिक लाभ की ठीक नाप तथा उन विभिन्न दिशाओं के ज्ञान के अभाव के कारण जिनमें इस लाभ को समान करना है, इस सिद्धान्त को वास्तविक व्यवहार में लागू करना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

(२) इस सिद्धान्त में निहित परिकल्पना, कि सार्वजनिक व्यय अल्प मात्रा में किया जाता है, अयथार्थ है। यदि हम विभिन्न दिशाओं में सार्वजनिक व्यय को एक रुपये के रूप में विचार करें तब सार्वजनिक व्यय से सीमान्त सामाजिक लाभ को समान किया जा सकना संभव है। परन्तु नदी घाटी योजनाओं, शिक्षा, पुलिस तथा सुरक्षा पर व्यय बड़ी राशि में किए जाते हैं और विभिन्न दिशाओं में व्यय किए गए अन्तिम रुपये द्वारा हुए सामाजिक लाभ को समान नहीं किया जा सकता है।

(३) अतीत में किए गए निर्णय वर्तमान के निर्णयों को भी प्रभावित कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, ऐसी योजनाओं पर व्यय करते रहना वाँछनीय हो जाता है जो इस समय उतनी आवश्यक नहीं प्रतीत होतीं जितनी कि अतीत में थीं, परन्तु जिनको अपूर्ण नहीं छोड़ा जा सकता क्योंकि वे अत्याधिक मँहगी होती हैं। इसका अर्थ यह है कि इस परिवर्तनशील विश्व में सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त के अनुसार कार्य करना संभव नहीं है, तथा अर्द्धपूर्ण कार्यों को पूरा तो करना ही होगा चाहे उनसे सामाजिक लाभ कितना ही कम क्यों न प्राप्त हो।

(४) सामाजिक व्ययों को संसद स्वीकृत करते हैं जिनमें बहुत जोर दबाव चलते रहते हैं तथा ऐसी परियोजनाएँ भी स्वीकृत हो जाती हैं जिनसे सामाजिक लाभ उतना नहीं होता जितना कि व्यक्तिगत लाभ होता है। इसका उदाहरण भारतीय सरकार द्वारा उन सार्वजनिक स्कूलों पर किया गया व्यय है जो केवल महाराजाओं के लड़कों की शिक्षा के लिए ही होते हैं। यह केवल व्यक्तिगत लाभ को ही बढ़ाता है, सामाजिक लाभ को नहीं। वैयक्तिक तथा सामाजिक लाभ की यह असंगति सार्वजनिक व्यय द्वारा सर्वाधिक सामाजिक लाभ सुनिश्चित होने के लिए कठिनाई उत्पन्न करती है।

दूसरी समस्या जो अंशतः सैद्धान्तिक है तथा अंशतः व्यावहारिक, वह यह है कि विभिन्न दिशाओं में व्यय किए गए अन्तिम रुपये द्वारा लाभ को समान कर देना ही पर्याप्त नहीं है। राजवित्त के सिद्धान्त के अनुसार इस सीमान्त सामाजिक लाभ को करारोपण के सीमान्त सामाजिक त्याग—अर्थात् सार्वजनिक व्यय करने के लिए प्राप्त किये गए सार्वजनिक आय के अन्तिम रुपये द्वारा त्याग—के बराबर होना चाहिए। सभी देशों, विशेषतया भारत जैसे अर्ध विकसित देश, में

सार्वजनिक व्यय की बहुत अधिक आवश्यकता है तथा लोग आय प्रदान करने के लिए उतने कर का वहन करने में समर्थ नहीं हो सकते जिससे सार्वजनिक व्यय के सीमान्त सामाजिक लाभ को सार्वजनिक आय के सीमान्त सामाजिक त्याग के बराबर किया जा सके। ऐसी स्थिति में राज्य को या तो सार्वजनिक व्यय में कटौती करनी होगी अथवा उसे सार्वजनिक आय और सार्वजनिक व्यय के अन्तर (gap) की पूर्ति करने के लिए हीनार्थ प्रबन्धन (deficit financing) का आश्रय लेना पड़ेगा। प्रथम प्रकार की स्थिति में तो विभिन्न दिशाओं में सार्वजनिक व्यय के सीमान्त सामाजिक लाभ को सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त के अनुसार बराबर नहीं किया जा सकता; तथा दूसरी स्थिति में राजवित्त का सिद्धान्त खडित हो जाता है। इससे एक विशेष कठिनाई उत्पन्न हो जाती है जिससे छुटकारा पाना सरल नहीं होता।

सार्वजनिक व्यय की सीमा. १८ वीं तथा १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में, जब क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक सिद्धान्त में अपना योगदान दिया था, सार्वजनिक व्यय सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय का अपेक्षाकृत एक अत्यन्त सूक्ष्म भाग होता था। राज्य बहुत कम सेवाओं—जैसे सुरक्षा, पुलिस क्रियाएं, स्त्रियों और बच्चों की रक्षा तथा कुछ अन्य कार्य—को ही करता था। इन परिस्थितियों में सरकार की आय को सार्वजनिक व्यय के लिए पर्याप्त न होने का कोई प्रश्न ही नहीं था। परिणामस्वरूप क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त पर अपेक्षाकृत कम जोर दिया।

परन्तु कालान्तर में सार्वजनिक व्यय में अत्यधिक वृद्धि इन कारणों से हुई : (१) सरकार की क्रियाओं में वृद्धि। सुरक्षा, पुलिस तथा स्त्रियों और बच्चों की रक्षा करने के अतिरिक्त सरकार ने शिक्षा, गृह निर्माण, सफाई, औद्योगिक तथा कृषि विकास पर भी अधिक व्यय करना प्रारम्भ कर दिया। इससे सरकार के लिए न केवल पर्याप्त आय प्राप्त करने की समस्या उत्पन्न हुई वरन् निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्रों में प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न होने लगी तथा एक क्षेत्र से दूसरे में संसाधनों का हस्तान्तरण होने लगा; (२) व्यावसायिक चक्रों से उत्पन्न आर्थिक क्रियाओं में हुए भीषण ऊर्ध्वगामी (upward) तथा निम्नगामी (downward) परिवर्तनों को रोकने अथवा कम करने की आवश्यकता ने सरकार को अवसाद (depression) के समय सार्वजनिक व्यय में वृद्धि करने के लिए बाध्य किया जिससे वस्तुओं और सेवाओं की मांग का सृजन हो सके तथा जनता की क्रय शक्ति में वृद्धि हो जाए ताकि अवसाद की भयंकरता में कमी हो सके। इसके विपरीत आर्थिक तेजी (boom) के समय जब आर्थिक क्रियायें काफी तीव्र गति से होती हैं और स्फीतिक दशाऐं उत्पन्न होने लगती हैं तब सरकार को अपने व्ययों को भविष्य के

लिए स्थगित करके उसमें कमी कर देनी होती है। अवसाद काल में सार्वजनिक व्यय में वृद्धि तथा आर्थिक तेजी के समय उसमें कमी कर देने की आवश्यकता ने सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त में एक नवीन रुचि उत्पन्न कर दी; तथा (३) यह देखा गया कि निजी औद्योगिक क्षेत्र के अन्तर्गत केवल उन्हीं उद्योगों का विकास हो पाता था जिनकी प्रदा की माँग शीघ्र होती थी तथा ऐसे उद्योगों का बहुधा विकास नहीं हो पाता था जिनकी मांग भविष्य में उत्पन्न होने की संभावना थी। इस असन्तुलन को ठीक करने के लिए राज्य को हस्तक्षेप करना पड़ा। इससे सार्वजनिक व्यय के महत्व में और भी अधिक वृद्धि हो गई।

राष्ट्रीय आय तथा सार्वजनिक व्यय में अनुपात. सार्वजनिक व्यय तथा सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय के उचित अनुपात के विषय में भी काफी अनुमान किए गए हैं। भारत में अब तक सार्वजनिक व्यय सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय का लगभग ८½ प्रतिशत है जब कि कुछ योरोपीय देशों में २० प्रतिशत से अधिक है। "सरकार के कुल व्यय और राष्ट्रीय आय का सम्बन्ध.........एक सामूहीकृत माप है जो सरकार की क्रियाओं के सामान्य आर्थिक प्रभाव से सम्बद्ध है। यह अपने स्वयं की क्रियाओं की पूर्ति करने के लिए दिये गए उत्पादन के साधनों के लिए सरकार द्वारा किए गए व्यय तथा अन्य स्तर के सरकारी गुटों के जोर-दबाव और व्यक्तियों को उनके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आर्थिक अनुदानों में कोई अन्तर नहीं प्रस्तुत करता।" इस आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचना संभव है कि कुल सरकारी व्यय का राष्ट्रीय आय से अनुपात अत्यन्त संदिग्ध है तथा इस कथन में कोई अधिक तथ्य नहीं है कि सार्वजनिक व्यय की सीमा कर-सामर्थ्य की सीमा है।

जर्मन अर्थशास्त्री एडौल्फ वैग्नर ने सभी देशों के सार्वजनिक व्यय में अत्यधिक वृद्धि देखने के उपरान्त वृद्धिमान राज्य क्रियाओं के नियम (law of increasing state activity) का प्रतिपादन किया। वैग्नर के अनुसार सार्वजनिक व्यय में जनसंख्या की वृद्धि से अधिक अनुपातिक वृद्धि होने की प्रवृत्ति है। इस प्रतिभास को उन्होंने इस नियम के द्वारा समझाया कि जनसंख्या के घनत्व में वृद्धि से राज्य को अब उन कार्यों को भी करना पड़ता है जो पहिले व्यक्तियों द्वारा ही कर लिए जाते थे अथवा उन कार्यों की आवश्यकता कम घने क्षेत्रों में पड़ती ही नहीं। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं: पुलिस तथा अग्नि सुरक्षा, कूड़े कर्कट की सफाई, राजकीय संस्थायें, संग्रहालय इत्यादि।

समुचित परिकल्पनाओं के अन्तर्गत वैग्नर द्वारा बतलाए गए सार्वजनिक व्यय में वृद्धि होने के कारण में काफी सत्यांश है। फिर भी, सार्वजनिक व्यय में वृद्धि होने के कारण इतने जटिल हैं कि उन्हें किसी एक नियम के द्वारा नहीं सम-

झाया जा सकता । किसी भी परिस्थिति में यह जानना बहुत आवश्यक है कि क्या वास्तव में सार्वजनिक व्यय में निजी व्यय की अपेक्षा अधिक वृद्धि होने की प्रवृत्ति है अथवा नहीं। यदि इस प्रकार की प्रवृत्ति वर्तमान है, तब चाहे वह नियम का सम्मानित रूप ग्रहण करे अथवा नहीं, यह प्रश्न तुरन्त उत्पन्न होता है: क्या सार्वजनिक व्यय की निजी व्यय के अनुपात में अनवरत वृद्धि में यह निहित है कि राज्य समाजवाद (state socialism) की दिशा में गमन हो रहा है ? या इसका केवल इतना ही अर्थ है कि सार्वजनिक व्यय में वृद्धि की प्रवृत्ति व्यक्तियों के आर्थिक तथा राजनैतिक जीवन पर नियन्त्रण के बिना ही है? चूँकि इस सम्बन्ध में विश्व के विभिन्न देशों में समान प्रवृत्ति को पा सकना संभव नहीं है इसलिए वैग्नर के नियम का न तो कोई अधिक महत्व है और न यह कोई उद्देश्य ही सिद्ध करता है।

सार्वजनिक व्यय के प्रभाव. कर के समान सार्वजनिक व्यय का भी देश के आर्थिक जीवन पर शक्तिशाली प्रभाव पड़ता है। जब कि कर (tax) कार्य, उपभोग और बचत करने की इच्छा को कम कर सकता है, सार्वजनिक व्यय इनमें वृद्धि आंशिक रूप में लोगों की आय में वृद्धि करके (जिसके परिणामस्वरूप उनकी क्रय शक्ति में भी वृद्धि हो जाती है) और अंशतः सामाजिक परिव्ययों में कमी कर के कर सकता है।

सार्वजनिक व्यय के परिणामस्वरूप (१) कुल राष्ट्रीय आय और प्रदा में वृद्धि होती है क्योंकि कुछ सार्वजनिक उद्योग तो प्रत्यक्ष रूप में प्रदा तथा वस्तुओं और सेवाओं में वृद्धि करते हैं जबकि कुछ अन्य सार्वजनिक उद्योग (जैसे भारत का औद्योगिक वित्त निगम, राज्कीय वैत्तिक निगम तथा अन्य सदृश्य संस्थायें) निजी उद्योगों को पूँजी तथा अन्य उत्पादन के साधनों को उपलब्ध करा कर तथा अन्य प्रकार से उत्पादन लागत में कमी करने में सहायता कर, अप्रत्यक्ष रूप में उत्पादन वृद्धि कराने में सहायक होते हैं; (२) मनोरंजन, अस्पताल तथा अन्य सुविधाओं में वृद्धि हुई है। यह सुविधायें उपभोक्ताओं को निःशुल्क मिलती हैं तथा उनके जीवन निर्वाह व्यय को कम करने में सहायक होती हैं। सार्वजनिक व्यय के अभाव में इन लाभों को प्राप्त करने के लिए नागरिकों को अपनी सीमित आय को इन मदों पर व्यय करने के लिए बाध्य होना पड़ता। इसका अर्थ यह हुआ कि जबकि कर के प्रभाव से लोगों की मौद्रिक आय घट जाती है, सार्वजनिक व्यय का यह प्रभाव होता है कि इससे लोगों की वास्तविक आय में वृद्धि होती है; तथा (३) आर्थिक विकास की दर में वृद्धि होती है, विशेषतया अर्धविकसित देशों में। सार्वजनिक व्यय असन्तुलन को ठीक करता है तथा देश को अधिक समृद्धिशाली बनाता है।

अध्याय १५

सार्वजनिक आय

(Public Revenue)

सरकार अपनी आय कई स्रोतों, जैसे कर, सार्वजनिक उद्योगों के अतिरेक, ड्यूटी तथा जुर्माने से प्राप्त करती है। अपने व्यय की पूर्ति करने के लिए वह हीनार्थ प्रबन्धन तथा देश के भीतर अथवा विदेश में सार्वजनिक ऋणों का भी आश्रय ले सकती हैं। सार्वजनिक आय का वर्गीकरण यह दिखाने के लिए आवश्यक है कि किन स्रोतों से सरकार अपनी आय प्राप्त करती है; उन विभिन्न स्रोतों में पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार का है तथा उनके प्रभाव देश की अर्थ-व्यवस्था पर क्या पड़ते हैं।

सार्वजनिक आय का वर्गीकरण

एक प्रकार के वर्गीकरण के अनुसार सार्वजनिक आय को निम्न में विभाजित करना सम्भव है: (१) प्रत्यक्ष आय; (२) व्युत्पादित आय (derivative revenue); तथा (३) पूर्वानुमानित आय (anticipatory revenue)। प्रत्यक्ष आय सार्वजनिक उद्योगों से प्राप्त आय कहलाती है; व्युत्पादित आय, जो जनता की आय से प्राप्त होती है, कर, फीस तथा जुर्मानों से प्राप्त हुई आय होती है; तथा पूर्वानुमानित आय सरकार द्वारा निर्गमित सार्वजनिक ऋणों के लाभ द्वारा प्राप्त होती है। दूसरे प्रकार के वर्गीकरण के अनुसार सार्वजनिक आय का वर्गीकरण (१) निःशुल्क आय, (२) प्रसंविदात्मक आय, तथा (३) अनिवार्य आय में किया जा सकता है।

निःशुल्क आय (gratuitous revenue). निःशुल्क आय के अन्तर्गत निहित हैं उपहार तथा लोगों द्वारा दिये गये दान इत्यादि। ये निःशुल्क रूप में प्रदान किए जाते हैं तथा इनकी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष मांग राज्य से नहीं की जाती। इस प्रकार की सार्वजनिक आय का महत्व आधुनिक युग में काफी कम हो गया है। सेलिगमैन ने सभी प्रकार की निःशुल्क आयों को एक श्रेणी के अन्तर्गत रखा है। एक प्रकार से ये सभी आय एक सदृश्य हैं तथा अन्य प्रकार की आयों से इनमें महत्वपूर्ण अन्तर है। राज्य इस बात के लिए बाध्य नहीं होता कि वह इसके बदले में उतनी वस्तुओं और सेवाओं को प्रदान करे।

प्रसंविदात्मक आय (contractual revenue). सार्वजनिक आय की प्रसंविदात्मक श्रेणी के अन्तर्गत उस प्रकार की आय सम्मिलित है जो सार्वजनिक

सम्पत्ति तथा उद्योग से प्राप्त होती है। राज्य के पास भूमि और इमारतों के रूप में सम्पत्ति होती है जो वह लोगों को किराये पर दिये रहती है। इस प्रकार के स्रोतों से प्राप्त आय प्रसंविदात्मक आय कहलाती है। फिर, राज्य के पास उद्योग भी होते हैं। वह वस्तुओं का उत्पादन कर उन्हें तथा सेवाओं को जनता को बेच सकता है। रेल, पोस्ट आफिस, सिंचाई, नहर, अफीम इत्यादि सरकार द्वारा व्यवस्थित उद्योगों के उदाहरण हैं। इन उद्योगों की प्रदा के विक्रय से प्राप्त आय भी प्रसंविदात्मक आय होती है। सभी प्रकार की प्रसंविदात्मक आयों को सेलिग-मैन 'मूल्य' कहते हैं। उन्हें मूल्य इस कारण कहा जाता है क्योंकि बहुत कुछ सीमा तक ये उन मूल्यों से काफी मिलती-जुलती हैं जो निजी उत्पादक अपनी बेची गयी वस्तुओं और सेवाओं के लिए लेता है। यदि आप वस्तुओं को खरीदते हैं तब आप उसके लिए भुगतान कीजिये अन्यथा नहीं। इन स्रोतों द्वारा आय जनता की सरकार के साथ प्रसंविदा करने की स्वीकृति पर आधारित हैं।

अनिवार्य आय (compulsory revenue). तीसरे प्रकार की श्रेणी को सेलिगमैन ने अनिवार्य आय कहा है। इसका उपविभाजन तीन श्रेणियों—सर्वोपरि भू-सम्पदा (eminent domain), दण्ड अधिकार तथा कर अधिकार—में किया जा सकता है। राज्य को सर्वोपरि भू-सम्पदा का अधिकार है। वह अपने नागरिकों की सम्पत्ति का अपहरण (expropriation) कर सकता है। साधारण परि-स्थिति में बहुधा इस अधिकार का प्रयोग नहीं किया जाता। परन्तु जब भी अधि-कार का प्रयोग किया जाता है तब इस प्रकार से प्राप्त धन को बहुधा अपहरण कहते हैं। जब राज्य अपने दण्ड अधिकारों का प्रयोग करता है और लोगों पर रुपये के रूप में जुर्माना तथा अर्थदण्ड लगाता है तब पुनः उसे कुछ आय की प्राप्ति होती है। इस प्रकार से प्राप्त आय को जुर्माना तथा दण्ड कहते हैं। आधुनिक राज्य इस स्रोत से भी कुछ आय प्राप्त करते हैं। परन्तु इसकी मात्रा पर सदैव आश्रित नहीं हुआ जा सकता। यह राज्य की कुल आय का एक अल्प अंश ही होता है। सेलिगमैन ने अनिवार्य आयों का पुनः वर्गीकरण तीन श्रेणियों—फीस, विशेष अभिनिर्धारण (special assessment)[1] तथा कर—में किया।

यह वर्गीकरण न तो हमारा ध्यान आय प्राप्त करने के सबसे महत्वपूर्ण विचारों पर अथवा अर्थव्यवस्था पर उन से उत्पन्न हुए प्रभावों पर केन्द्रित करते हैं। सार्व-

---

१. विशेष अभिनिर्धारण उस प्रकार का भुगतान है जो एक बार सदा के लिए लगाई गई उन लागतों के लिए किया जाता है जिन से सम्पत्ति में सुधार जनता के हित में किए जाते हैं। ये उस अनुपात में लगाये जाते हैं जिस अनुपात में सम्पत्ति-स्वामियों को लाभ होता है।

अध्याय १५

सार्वजनिक आय

(Public Revenue)

सरकार अपनी आय कई स्रोतों, जैसे कर, सार्वजनिक उद्योगों के अतिरेक, ड्यूटी तथा जुर्माने से प्राप्त करती है। अपने व्यय की पूर्ति करने के लिए वह हीनार्थ प्रबन्धन तथा देश के भीतर अथवा विदेश में सार्वजनिक ऋणों का भी आश्रय ले सकती हैं। सार्वजनिक आय का वर्गीकरण यह दिखाने के लिए आवश्यक है कि किन स्रोतों से सरकार अपनी आय प्राप्त करती है; उन विभिन्न स्रोतों में पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार का है तथा उनके प्रभाव देश की अर्थ-व्यवस्था पर क्या पड़ते हैं।

सार्वजनिक आय का वर्गीकरण

एक प्रकार के वर्गीकरण के अनुसार सार्वजनिक आय को निम्न में विभाजित करना सम्भव है: (१) प्रत्यक्ष आय; (२) व्युत्पादित आय (derivative revenue); तथा (३) पूर्वानुमानित आय (anticipatory revenue)। प्रत्यक्ष आय सार्वजनिक उद्योगों से प्राप्त आय कहलाती है; व्युत्पादित आय, जो जनता की आय से प्राप्त होती है, कर, फीस तथा जुर्मानों से प्राप्त हुई आय होती है; तथा पूर्वानुमानित आय सरकार द्वारा निर्गमित सार्वजनिक ऋणों के लाभ द्वारा प्राप्त होती है। दूसरे प्रकार के वर्गीकरण के अनुसार सार्वजनिक आय का वर्गीकरण (१) निःशुल्क आय, (२) प्रसंविदात्मक आय, तथा (३) अनिवार्य आय में किया जा सकता है।

निःशुल्क आय (gratuitous revenue). निःशुल्क आय के अन्तर्गत निहित हैं उपहार तथा लोगों द्वारा दिये गये दान इत्यादि। ये निःशुल्क रूप में प्रदान किए जाते हैं तथा इनकी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष मांग राज्य से नहीं की जाती। इस प्रकार की सार्वजनिक आय का महत्व आधुनिक युग में काफी कम हो गया है। सेलिगमैन ने सभी प्रकार की निःशुल्क आयों को एक श्रेणी के अन्तर्गत रखा है। एक प्रकार से ये सभी आय एक सदृश्य हैं तथा अन्य प्रकार की आयों से इनमें महत्वपूर्ण अन्तर है। राज्य इस बात के लिए बाध्य नहीं होता कि वह इसके बदले में उतनी वस्तुओं और सेवाओं को प्रदान करे।

प्रसंविदात्मक आय (contractual revenue). सार्वजनिक आय की प्रसंविदात्मक श्रेणी के अन्तर्गत उस प्रकार की आय सम्मिलित है जो सार्वजनिक

सम्पत्ति तथा उद्योग से प्राप्त होती है। राज्य के पास भूमि और इमारतों के रूप में सम्पत्ति होती है जो वह लोगों को किराये पर दिये रहती है। इस प्रकार के स्रोतों से प्राप्त आय प्रसंविदात्मक आय कहलाती है। फिर, राज्य के पास उद्योग भी होते हैं। वह वस्तुओं का उत्पादन कर उन्हें तथा सेवाओं को जनता को बेच सकता है। रेल, पोस्ट आफिस, सिंचाई, नहर, अफीम इत्यादि सरकार द्वारा व्यवस्थित उद्योगों के उदाहरण हैं। इन उद्योगों की प्रदा के विक्रय से प्राप्त आय भी प्रसंविदात्मक आय होती है। सभी प्रकार की प्रसंविदात्मक आयों को सेलिग-मैन 'मूल्य' कहते हैं। उन्हें मूल्य इस कारण कहा जाता है क्योंकि बहुत कुछ सीमा तक ये उन मूल्यों से काफी मिलती-जुलती हैं जो निजी उत्पादक अपनी बेची गयी वस्तुओं और सेवाओं के लिए लेता है। यदि आप वस्तुओं को खरीदते हैं तब आप उसके लिए भुगतान कीजिये अन्यथा नहीं। इन स्रोतों द्वारा आय जनता की सरकार के साथ प्रसंविदा करने की स्वीकृति पर आधारित हैं।

अनिवार्य आय (compulsory revenue). तीसरे प्रकार की श्रेणी को सेलिगमैन ने अनिवार्य आय कहा है। इसका उपविभाजन तीन श्रेणियों—सर्वोपरि भू-सम्पदा (eminent domain), दण्ड अधिकार तथा कर अधिकार—में किया जा सकता है। राज्य को सर्वोपरि भू-सम्पदा का अधिकार है। वह अपने नागरिकों की सम्पत्ति का अपहरण (expropriation) कर सकता है। साधारण परि-स्थिति में बहुधा इस अधिकार का प्रयोग नहीं किया जाता। परन्तु जब भी अधि-कार का प्रयोग किया जाता है तब इस प्रकार से प्राप्त धन को बहुधा अपहरण कहते हैं। जब राज्य अपने दण्ड अधिकारों का प्रयोग करता है और लोगों पर रुपये के रूप में जुर्माना तथा अर्धदण्ड लगाता है तब पुनः उसे कुछ आय की प्राप्ति होती है। इस प्रकार से प्राप्त आय को जुर्माना तथा दण्ड कहते हैं। आधुनिक राज्य इस स्रोत से भी कुछ आय प्राप्त करते हैं। परन्तु इसकी मात्रा पर सदैव आश्रित नहीं हुआ जा सकता। यह राज्य की कुल आय का एक अल्प अंश ही होता है। सेलिगमैन ने अनिवार्य आयों का पुनः वर्गीकरण तीन श्रेणियों—फीस, विशेष अभिनिर्धारण (special assessment)[1] तथा कर—में किया।

यह वर्गीकरण न तो हमारा ध्यान आय प्राप्त करने के सबसे महत्वपूर्ण विचारों पर अथवा अर्थव्यवस्था पर उन से उत्पन्न हुए प्रभावों पर केन्द्रित करते हैं। सार्व-

---

१. विशेष अभिनिर्धारण उस प्रकार का भुगतान है जो एक बार सदा के लिए लगाई गई उन लागतों के लिए किया जाता है जिन से सम्पत्ति में सुधार जनता के हित में किए जाते हैं। ये उस अनुपात में लगाये जाते हैं जिस अनुपात में सम्पत्ति-स्वामियों को लाभ होता है।

जनिक आय का एक पूर्ण तथा परिग्राही वर्गीकरण प्रस्तुत करने के स्थान पर हमें कर, फीस तथा मूल्य के अन्तर को भली-भाँति समझ लेना चाहिये।

कर (taxes). "कर समाज के व्यक्तियों द्वारा अपने शासक प्राधिकारियों को दिया गया अनिवार्य भुगतान है जो सार्वजनिक व्यय करने के लिए दिया जाता है तथा जिसके बदले में कोई निश्चित सेवा प्रदान करने की गारंटी नहीं दी जाती"। दूसरी परिभाषा के अनुसार, "कर व्यक्ति द्वारा सरकार को दिया गया अनिवार्य भुगतान है जो सभी के हित के कार्यों पर किए गये व्यय के लिए दिया जाता है तथा इसके बदले में किसी व्यक्ति को विशेष लाभ नहीं प्रदान किया जाता"।

कर के सम्बन्ध में महत्वपर्ण बाते यह हैं: (१) कर अनिवार्य आरोपण होते हैं। एक व्यक्ति के लिए यह सम्भव है कि वह आय कर से छुटकारा न्यूनतम छूट की सीमा से कम आय प्राप्त करके प्राप्त कर सकता है तथा बिक्री तथा उत्पादन कर से उन वस्तुओं को न खरीद कर बच सकता है। इस प्रकार प्रत्येक कर का भुगतान अनिवार्य नहीं होता परन्तु करारोपण इस आशय में अनिवार्य होता है कि जिस पर भी राज्य चाहता है कर लगा सकता है तथा लोगों को कर का भुगतान करना पड़ेगा चाहे वे उसे पसन्द करें अथवा नहीं; (२) कर की आय सामान्य लाभ के लिए व्यय की जाती है; तथा (३) कर देने वाले व्यक्ति को उसके द्वारा दिये गये कर के अनुपात में लाभ नहीं प्राप्त होता।

फीस (fee). "किसी व्यक्ति, स्वाभाविक (natural) अथवा निगम (corporate), द्वारा धन के रूप में उस अनिवार्य भुगतान को फीस कहते हैं जो सार्वजनिक प्राधिकारी को इसलिए दिये जाते हैं जिससे उन सरकारी कार्यो के व्यय को पूरा किया जा सके जो सामान्य लाभ प्रदान करने के साथ-साथ विशेष लाभ भी प्रदान करते हैं।" यद्यपि कर और फीस दोनों अनिवार्य होते हैं परन्तु इनमें महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि कर को सामान्य लाभ के लिए प्राप्त किया जाता है, परन्तु फीस की वसूली एक विशेष सेवा के लिए की जाती है जो यद्यपि सामान्य हित में होती है परन्तु उससे अधिक लाभ वे उठाते हैं जो उसका भुगतान करते हैं।

मूल्य (price). मूल्य का भुगतान सरकार द्वारा व्यक्ति के लिए प्रदान की गयी कुछ विशिष्ट सेवाओं के लिए किया जाता है, जैसे रेल टिकट का मूल्य। राज्य अथवा किसी सार्वजनिक उद्योग द्वारा लिया गया मूल्य ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार निजी क्षेत्र के उत्पादक द्वारा लिया गया मूल्य। मूल्य की प्रमुख विशेषता यह है कि यह एक ऐच्छिक भुगतान है तथा इसका भुगतान केवल

उन्हीं को करना होता है जो उन सेवाओं का प्रयोग करते हैं, तथा मूल्य का भुगतान बहुधा प्राप्त हुए लाभ के अनुपात में होता है।

करों का वर्गीकरण

आधुनिक राज्य में कर सार्वजनिक आय के सबसे महत्वपूर्ण स्रोत होते हैं। अतः हमें करो के वर्गीकरण, प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों में भेद, तथा प्रगामो, अनुपातिक, प्रतिगामो, और उद्योगामो (ह्रासी) करों के अन्तर का अध्ययन भली भाँति कर लेना चाहिए।

प्रत्यक्ष कर (direct tax). प्रत्यक्ष कर को परिभाषित या तो इस प्रकार से किया जा सकता है कि यह वह कर है जो पूर्णतः उस व्यक्ति द्वारा दिया जाता है जिस पर वह लगाया जाता है, अथवा इस प्रकार से कि यह वह कर है जो सरकार उन्हीं व्यक्तियों पर लगाती है जिनसे वह उसका भुगतान कराना चाहती है। इन दोनों परिभाषाओं में कुछ अन्तर है परन्तु यह अन्तर अधिक सार नहीं रखता क्योंकि यदि सरकार को करारोपण सिद्धान्त तथा देश की आर्थिक स्थिति की पूर्ण जानकारी है तब उसका अन्तिम करापात उस व्यक्ति पर पड़ेगा जिस पर सरकार चाहती है कि वह पड़े। प्रत्यक्ष करों के उदाहरण हैं आय-कर, सम्पत्ति-कर तथा पूँजी लाभ-कर।

परोक्ष कर (indirect tax). "परोक्ष कर उस कर को कहते हैं जिसका पूर्ण या आंशिक रूप में हस्तान्तरण उस व्यक्ति से जिस पर कर लगाया गया है, अन्य व्यक्यिों पर किया जा सकता है।" परोक्ष कर के उदाहरण हैं बिक्री कर, उत्पादन-कर तथा आयात-कर। उदाहरणार्थ, आयात-कर पहले तो आयातक द्वारा दिया जाता है परन्तु वह उसका हस्तान्तरण थोक तथा फुटकर विक्रेताओं की सहायता से आंशिक रूप में विदेशी उत्पादकों पर तथा आंशिक रूप से आन्तरिक उपभोक्ता पर कर देता है।

आजकल प्रत्यक्ष तथा परोक्ष करों में भेद बहुधा अभिनिर्धारण (assessment) के बिन्दु की अपेक्षा अभिनिर्धारण के आधार पर किया जाता है। वे कर जो आय प्राप्ति पर आधारित होते हैं प्रत्यक्ष कर कहे जाते हैं तथा जो व्यय के आधार पर लगाये जाते हैं वे परोक्ष कर कहे जाते हैं। इसीलिए आय-कर, लाभ-कर, तथा पूँजी लाभ-कर प्रत्यक्ष कर कहे जाते हैं, और कस्टम ड्यूटी, उत्पादन-कर तथा स्टैम्प ड्यूटी (पूँजी व्यय पर आधारित) परोक्ष कर कहलाते हैं।

तुलना. आधुनिक राज्य में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों कर सरकार के लिये वांछित आय प्राप्त करने के लिये आवश्यक हैं। फिर भी प्रत्यक्ष कर के कुछ ऐसे

लाभ होते हैं जो परोक्ष कर में नहीं पाये जाते तथा परोक्ष कर में कुछ ऐसे लाभ होते हैं जो प्रत्यक्ष करों में नहीं पाये जाते।

(१) प्रत्यक्ष कर अधिक न्यायोचित होते हैं क्योंकि ये सरकार द्वारा जान-बूझकर 'भुगतान करने की सामर्थ्य' के आधार पर लगाये जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि आय-कर सदृश प्रत्यक्ष करों को लगाते समय सरकार उन व्यक्तियों की कर देने की क्षमता का पता लगाने में समर्थ हो सकती है जिन पर प्रत्यक्ष कर लगाया जाता है परन्तु परोक्ष करों के विषय में इस प्रकार की जानकारी सदा सम्भव नहीं होती क्योंकि 'मूल्य प्रक्रिया' (price mechanism) के द्वारा यह विभिन्न व्यक्तियों पर हस्तान्तरित किये जा सकते हैं तथा इस बात को ठीक प्रकार से नहीं जाना जा सकता कि इसका भार अन्ततः किस व्यक्ति पर पड़ता है तथा विभिन्न व्यक्तियों पर इस प्रकार के कर का भार किस अनुपात में पड़ा। बहुधा ऐसा होता है कि परोक्ष-करों, यथा आयात-कर और बिक्री-कर, का भार धनी व्यक्तियों की अपेक्षा निर्धन व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है।

(२) प्रत्यक्ष कर इस आशय में अधिक लोचपूर्ण होते हैं कि जब राष्ट्रीय आय तथा प्रदा में वृद्धि होती है तब कर-आय की मात्रा में स्वतः वृद्धि हो जाती है। किसी परोक्ष-कर विशेष से उतनी अधिक अनुपातिक आय नहीं होगी यदि राष्ट्रीय आय और प्रदा में वृद्धि के साथ-साथ लोग उन वस्तुओं का अधिक अनुपातिक उपभोग नहीं करते जिन पर परोक्ष-कर लगाये गये हैं। परन्तु इसके विपरीत, परोक्ष कर से लाभ, विशेषतः भारत जैसे अर्ध विकसित देश के लिए, यह है कि इस कर को बहुत से व्यक्ति देते हैं और यदि इसकी दर में उचित वृद्धि हो जाये तब अधिक आय प्राप्त की जा सकती है। इसके विपरीत प्रत्यक्ष करों से आय में वृद्धि करने का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है क्योंकि कम व्यक्ति ही इस कर का भुगतान करते हैं।

(३) प्रत्यक्ष करों से होने वाली आय अधिक निश्चित होती है तथा इन्हें एकत्रित करना भी मितव्ययी होता है। लोगों की आय तथा कर की दरों की जानकारी होने पर बहुत कुछ निश्चितता के साथ कर द्वारा प्राप्त होने वाली सम्भावित आय को परिकलित किया जा सकता है। और चूँकि कर अपेक्षाकृत कम व्यक्तियों से वसूल किया जाता है इसलिए इसे वसूल करना अत्यन्त सरल तथा सस्ता होता है। इसके विपरीत, परोक्ष करों को वसूल करने के लिए बहुत परिजटिल विधि की आवश्यकता है। अतः परोक्ष करों की वसूली उतनी मितव्ययीपूर्ण नहीं होती जितनी प्रत्यक्ष करों की वसूली होती है। इसके अतिरिक्त, परोक्ष करों द्वारा होने

वाली आय उनकी परिवर्तनशील दशाओं पर आधारित है तथा यह सदा निश्चय नहीं किया जा सकता कि परोक्ष करों से कितनी सम्भावित आय प्राप्त होगी।

(४) प्रत्यक्ष करों की कठिनाई यह है कि इनका मनोवैज्ञानिक भार लोगों पर अधिक पड़ता है क्योंकि उन्हें कर देने की मात्रा का ठीक ज्ञान रहता है। परोक्ष करों का मनोवैज्ञानिक भार कम रहता है क्योंकि इनका भुगतान अदृश्य रूप में होता है तथा कर देने वाले व्यक्ति को इस बात का आभास नहीं होता कि उसे कितनी मात्रा कर में देनी है। परन्तु प्रत्यक्ष करों का लाभ यह है कि ये लोगों को अपने नागरिक उत्तरदायित्वों के प्रति जागरूक बनाते हैं तथा इससे उन्हें यह संतोष मिलता है कि वे सामान्य भार का वहन बाँट कर कर रहे हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष-करों का शिक्षाप्रद प्रभाव पड़ता है जो परोक्ष करों का नहीं पड़ता।

(५) प्रत्यक्ष करों को प्रगामी बनाना सरल कार्य है जबकि परोक्ष कर बहुधा प्रतिगामी होते हैं। बहुत कठिनाइयों से ही परोक्ष करों को प्रगामी बनाया जा सकता है।

अब हमें कुछ अधिक विस्तार से अनुपातिक, प्रगामी, प्रतिगामी तथा अधोगामी (ह्रासी) कर के अन्तर को समझ लेना चाहिए।

अनुपातिक कर (proportional tax). अनुपातिक-कर एक ही दर से लगाया जाता है चाहे कर देने वाले व्यक्ति की आय कितनी ही क्यों न हो। यदि कर १० प्रतिशत की दर से लगाया जाता है तब जिस व्यक्ति की वार्षिक आय १०० रुपया है वह १० रुपये कर देगा और जब किसी की वार्षिक आय १०,००० रुपये है तो वह १,००० रुपये कर देगा। इसे भली-भाँति समझ लेना चाहिये कि जो स्थिर रहती है वह दर है, कर की मात्रा नहीं जिसमें लोगों की आय में वृद्धि के साथ वृद्धि हो जाती है।

प्रगामी कर (progressive tax). प्रगामी-कर के अन्तर्गत कर की मात्रा में ही वृद्धि नहीं होती वरन् ज्यों-ज्यों लोगों की आय बढ़ती है त्यों-त्यों कर की दर भी बढ़ती जाती है। यह प्रगामी कर की स्थिति होगी यदि एक व्यक्ति जिसकी वार्षिक आय १,००० रुपया है वह १०% अर्थात् १०० रुपया कर देता है और दूसरा व्यक्ति जिसकी वार्षिक आय १०,००० रुपया है वह २५% अर्थात् २,५०० रुपया कर देगा तथा एक व्यक्ति जिसकी वार्षिक आय १,००,००० रुपया है वह ५०% अर्थात् ५०,००० रुपया कर देगा।

प्रतिगामी कर (regressive tax). प्रतिगामी कर के अन्तर्गत कम आय वाले व्यक्ति के कर की दर अधिक आय वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक होती है। प्रतिगामी कर की स्थिति उस समय होगी जब एक व्यक्ति जिसकी वार्षिक आय १,००० रुपया है अपनी आय का १०% अर्थात् १०० रुपया कर में देता है और १०,००० रुपया वार्षिक आय वाला व्यक्ति ८% अर्थात ८०० रुपया कर देगा तथा १,००,००० रुपया वार्षिकआय वाला व्यक्ति अपनी आय का ५% अर्थात् ५,००० रुपया कर में देगा। प्रतिगामी-कर प्रगामी-कर के ठीक विपरीत होता है और कुछ परोक्ष-कर, जैसे खाद्यानों तथा कपड़ों पर बिक्री कर, प्रतिगामी होते हैं क्योंकि निर्धन व्यक्ति अपनी आय का अधिक भाग इन वस्तुओं पर व्यय करते है तथा धनी व्यक्ति इन वस्तुओं पर अपनी आय का अत्यन्त सूक्ष्म भाग ही व्यय करते हैं। इससे परोक्ष करों का भार निर्धन व्यक्तियों पर अधिक पड़ता है।

अधोगामी कर (degressive tax). अधोगामी-कर वह है जिसमें "बड़ी आयों पर कम आय की अपेक्षा अधिक ऊँची दर से कर लगाया जाता है परन्तु उस सीमा तक नहीं जिसमें अधिक आय वाले व्यक्तियों का अनुपातिक त्याग कम आय वाले व्यक्तियों की अपेक्षा बहुत अधिक हो"। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि कर प्रणाली को प्रगामी बना दिया जायऔर उन व्यक्तियों के लिए जिनकी वार्षिक आय १,००० रुपया है कर की दर १०% हो तथा उन व्यक्तियों की जिनकी वार्षिक आय ३,५०,००० रुपया या इससे अधिक है उनकी कर-दर ६०% हो तब वे व्यक्ति भी जिनकी वार्षिक आय १०,००,००० रुपया है ६०% की दर से कर देगें, यद्यपि न्यायोचित दृष्टिकोण से ३,५०,००० रुपया आय वाले व्यक्तियों की अपेक्षा उन पर कर की दर अधिक होनी चाहिए। हमारे उदाहरण में सबसे अधिक आय वाले समूह में कर अधोगामी है क्योंकि इसमें ऊँची आय वाले व्यक्तियों को उतना त्याग नहीं करना पड़ता जितना कि उन पर पड़ना चाहिये।

निष्कर्ष. प्रतिगामी-कर सबसे निकृष्ट करहोता है क्योंकि यह धनी व्यक्तियों की अपेक्षा जिनकी कर क्षमता अधिक होती है निर्धन व्यक्तियों पर अधिक त्याग उत्पन्न करता है। अनुपातिक-कर बुरा है क्योंकि यह धनी व्यक्तियों पर उनकी सामर्थ्य से कम त्याग आरोपण करता है। इसके अतिरिक्त यह बुरा इसलिए भी है कि यह आधुनिक राज्य के लिये, जिसका वार्षिक व्यय काफी अधिक है, पर्याप्त आय प्राप्त करने में असमर्थ' होता है। जैसा कि अभी बतलाया जायेगा, प्रगामी कर 'भुगतान करने के मामर्थ्य' केनियम पर आधारित है और सिद्धान्ततः ठीक है तथा पर्याप्त आय प्राप्त करने में समर्थ है। यदि कर-प्रणाली प्रगामी होती है तब ऊँची आय वाले समूह के लिये कुछ सीमा तक अधोगामिता आवश्यक

है क्योंकि कर को शुद्धतः प्रगामी बनाने का कोई भी प्रयास लाभ तथा बचत करने के उत्साह को नष्ट कर देगा।

प्रगामी-कर के पक्ष में

आधुनिक युग में सभी देशों में प्रगामी-कर लगाने का प्रयास किया जाता है क्योंकि अधिक प्रगामी कर के द्वारा ही आधुनिक राज्य के लिये पर्याप्त आय प्राप्त की जा सकती है और, दूसरे, यह कर 'भुगतान करने की सामर्थ्य' के सिद्धान्त के अनुरूप है। प्रगामी-कर की वाँछनीयता तीन कारणों से है:—

(१) 'भुगतान करने के सामर्थ्य' के नियम का यह अर्थ है कि करों को लोगों की सामर्थ्य के अनुसार लगाना चाहिए तथा लोगों के सामर्थ्य को उनकी आय तथा उनकी सीमान्त उपयोगिता द्वारा जाना जा सकता है। प्रगामी-कर की वाँछनीयता इस बात पर आधारित है कि किस दर से आय में वृद्धि के कारण आय की सीमान्त उपयोगिता में कमी होती है। यदि घटने की दर अनुपात से कम है तब प्रतिगामी कर वाँछित है। यदि घटने की दर बिल्कुल अनुपातिक है तब अनुपातिक-कर वाँछित है। प्रगामी-कर उस समय वाँछित होगा जब आय की सीमान्त उपयोगिता में कमी आय में वृद्धि के अनुपात से अधिक तेजी से होती है। बहुत कुछ सम्भावना इस बात की है कि एक बिन्दु तक जहाँ पर व्यक्ति, अथवा जो कोई भी हो, की न्यूनतम आवश्यकतायें सन्तुष्ट हो गई हों, तब आय की सीमान्त उपयोगिता में कमी कम अनुपातिक होगी अथवा, अधिक से अधिक, आय की वृद्धि के अनुपातिक होगी। परन्तु जब आय एक निश्चित सीमा से अधिक हो जाती है, जो विभिन्न व्यक्तियों के लिए अलग-अलग होगी, तब आय की सीमान्त उपयोगिता में तीव्र कमी—अनुपातिक से अधिक—निस्सन्देह होगी जब सम्बन्धित व्यक्तियों की न्यूनतम आवश्यकतायें पूर्णतः सन्तुष्ट हो जाती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि आय में वृद्धि होने के साथ-साथ मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता में अधिक तीव्र गति से कमी होती है और यह वाँछनीय हो कि सभी कर देने वालों पर समान सीमान्त त्याग पड़े तब १,५०,००० रुपया वार्षिक आय वाले व्यक्ति को, उस व्यक्ति की अपेक्षा जिसकी वार्षिक आय १०,००० रुपया है और जो २०% कर देता है, अधिक ऊँची दर से (मान लीजिए आय का ५०%) कर देना चाहिए।

(२) प्रगामी-कर के औचित्य का दूसरा कारण यह है कि धनी व्यक्तियों को पुलिस-सुरक्षा, सड़कों के प्रयोग, अस्पताल की सुविधायें तथा राज्य द्वारा प्रदान की गई अन्य प्रकार की सेवाओं की निर्धन व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक आवश्यकता रहती है। राज्य की अनुपस्थिति में धनी व्यक्तियों को इन सुविधाओं

की व्यवस्था स्वयं करनी होती जो इनके लिए बहुत महँगा सिद्ध होता। इसलिए उन्हें कुल कर भार का अधिक प्रगामिक अनुपात वहन करना चाहिए क्योंकि राज्य व्यय के अभाव में इन लोगों को स्वयं काफी व्यय करने के उपरान्त ये सुविधायें प्राप्त हो पातीं।

(३) अन्त में, कल्याणकारी अर्थशास्त्र के आधार पर भी प्रगामी-कर वाँछनीय है। इसका अर्थ यह है कि समाज के कल्याण को सर्वाधिक करने के लिए राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह ऐसे व्यय करे जिनसे निर्धन व्यक्तियों की स्थिति में सुधार हो तथा इस कार्य के लिए पर्याप्त आय प्राप्त करने के लिए धनी व्यक्तियों पर प्रगामी दर से कर लगाये। अन्य शब्दों में, प्रगामी-कर धन के वितरण को सुधारने, विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों की अर्जन क्षमता, धन तथा कल्याण की असमानताओं को दूर करने की एक विधि है। प्रगामी-कर का मूलभूत औचित्य यह है कि सभी व्यक्ति समान उत्पन्न हुए हैं, तथा उन्हें कार्य करने और सम्पत्ति एवं कल्याण प्राप्त करने का समान अवसर प्राप्त होना चाहिए।

आलोचना. प्रगामी-कर के विरुद्ध अनेक तर्क प्रस्तुत किए गये हैं। यह कहा जाता है कि प्रगामी कर स्वच्छन्द होता है। यह बहुत सत्य नहीं है। प्रगामी-कर आय में वृद्धि होने पर आय की ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता के नियम पर आधारित है तथा ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता एक वास्तविक तथ्य है। केवल प्रगामिता की दर स्वच्छन्द हो सकती है। परन्तु इसका प्रयोग प्रगामी-कर के विरुद्ध तर्क के रूप में नहीं किया जा सकता। जहाँ तक दर का प्रश्न है, इसे निस्संदेह प्रवर्तमान दशाओं के अनुरूप होना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रगामिता की दर में जिस प्रकार की स्वच्छन्दता है वह केवल कर-नीति तक ही सीमित नहीं है वरन् कल्याणकारी विचारधाराओं से युक्त सभी आर्थिक नीतियों में होती है।

यह भी तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि प्रगामी-कर लोगों के कार्य करने की प्रेरणा का हनन करता है, इसलिए यह समाज के सर्वोत्तम हित में नहीं है। जो लोग कार्य करते हैं तथा आय अर्जन करते हैं उन्हें अनुपातिक-कर देना नहीं खलेगा। परन्तु यदि कर की दर प्रगामी हो जाती है तब वह उतने परिश्रम से कार्य न कर अधिक आय का अर्जन नहीं करेंगे यदि उसका अधिकाँश भाग कर के रूप में देना पड़े। परन्तु यह तर्क ठीक नहीं है क्योंकि प्रगामी-करों का ऐसा प्रभाव नहीं हो सकता वरन् एक सीमा के बाद अत्यधिक करारोपण का हो सकता है। यदि प्रगामिता की दर एक उचित सीमा के भीतर रक्खी जाती है तब कोई कारण नहीं है कि प्रगामी-कर लोगों के कार्य तथा बचत करने की इच्छा का हनन कर दे। यहाँ इस बात को भी व्यक्त कर देना चाहिए कि एक निश्चित सीमा के आगे आय

बढ़ती जायेगी चाहे अर्जन करने की कितनी ही प्रेरणा हो तथा अर्जन करने वाले व्यक्ति की जो भी प्रवृत्ति हो।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि उपयोगिता की अन्तर्व्यक्तीय तुलना नहीं की जा सकती तथा यह तर्क नहीं दिया जा सकता कि ज्यों-ज्यों एक व्यक्ति की आय में वृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों आय द्वारा प्राप्त सीमान्त उपयोगिता में काफी तेजी से कमी होती जाती है तथा धनी व्यक्तियों की आय की सीमान्त उपयोगिता निर्धन व्यक्तियों की अपेक्षा कम होती है। इस प्रकार प्रगामी-कर में सैद्धान्तिक औचित्य तथा आधार की कमी है। परन्तु, जैसा कि हमने ऊपर व्यक्त कर दिया है, यद्यपि शुद्धतः वैज्ञानिक दृष्टिकोण से उपयोगिता को न तो नापा जा सकता है और न उसकी अन्तर्व्यक्तीय तुलना ही की जा सकती है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह मान लेना अधिक गलत नहीं है कि समान आय वाले तथा एक प्रकार की परिस्थिति में रहने वाले विभिन्न व्यक्तियों की आय की सीमान्त उपयोगिता बहुत कुछ सीमा तक एक सी होगी तथा ज्यों-ज्यों आय में वृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों उसकी सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है और जब आय में कमी होती है तब उसकी सीमान्त उपयोगिता बढ़ती है। आय की सीमान्त उपयोगिता के घटने और बढ़ने की ठीक दर के बारे में मतभेद हो सकता है। परन्तु इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वृद्धिमान आय के साथ-साथ इसमें काफी तीव्रता से कमी होती है तथा जीवन निर्वाह के निम्नतर स्तर से अधिक ह्रासमान आय के साथ-साथ इसकी वृद्धि अधिक तेजी से होती है। अतः हमारा यह निष्कर्ष बिल्कुल सही है कि प्रगामी-कर पूर्णतः वाँछनीय है।

करारोपण के परिनियम

अपनी पुस्तक *Wealth of Nations* में एडम स्मिथ ने करारोपण के चार परिनियमों—क्षमता, निश्चितता, सुविधा तथा मितव्ययता—की चर्चा की है। उसके अनुसार ये चार परिनियम एक स्वीकार्य कर-प्रणाली के आधार होने चाहिए।

भुगतान करने की क्षमता (ability to pay). भुगतान करने की क्षमता के परिनियम का यह अर्थ है कि करारोपण लोगों के भुगतान करने की सामर्थ्य के अनुसार होना चाहिए। निर्धन व्यक्तियों पर, जिनकी आय कम होती है और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी पर्याप्त नहीं होती, कम कर लगाना चाहिए तथा अधिक आय वाले व्यक्तियों पर, जो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के बाद भी कुछ बचा सकते हैं, निर्धन व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक कर

लगना चाहिए। एक उचित तथा न्यायपूर्ण कर प्रणाली का यह उद्देश्य होना चाहिए कि वह प्रत्येक कर देने वाले पर समान त्याग--समान सीमान्त त्याग—डाले। इस सिद्धान्त का आधार यह है कि सभी व्यक्ति समान हैं तथा सार्वजनिक व्यय में प्रत्येक को अपनी सामर्थ्य के अनुसार योग देना चाहिए। जैसा कि हम आगे देखेंगे, वास्तविक व्यवहार में यह हमें न्यूनतम 'सामूहीकृत त्याग' के सिद्धान्त की ओर ले जाता है।

निश्चितता (certainty). इस परिनियम का अर्थ यह है कि भुगतान करने का समय, भुगतान करने की विधि तथा कर दिये जाने की मात्रा प्रत्येक कर देने वाले तथा सरकार को ज्ञात होनी चाहिए। यह कर को स्वच्छन्द होने से रोकेगा। यदि कर लगाने वाले प्राधिकारी ने एकाएक जिस व्यक्ति पर चाहा उस पर कर लगा दिया तब कर प्रणाली स्वच्छन्द बन जायेगी। यदि कर पूर्व से ही ज्ञात है तथा उसकी दर प्रकाशित की जा चुकी हैं तब इस प्रकार की सम्भावना कम हो जाती है। दूसरी बात यह है कि 'एक प्राचीन कर कर होता ही नहीं' इसलिए यदि एक व्यक्ति बहुत दिन से एक निश्चित मात्रा कर में देता चला आ रहा है तब उस कर का मनोवैज्ञानिक भार कम पड़ता है। अन्त में, यदि कर दी जाने वाली मात्रा पूर्व से ज्ञात है तब भुगतान करने वाला व्यक्ति अपने व्ययों में कटौती करके उसे देने की व्यवस्था पहले से ही कर लेता है। उदाहरणार्थ, आय-कर, धन-कर, तथा सम्पत्ति-कर, कर प्रणाली के इस परिनियम को सन्तुष्ट करते हैं परन्तु आयात-कर और बिक्री-कर जैसे परोक्ष कर इस सिद्धान्त की पूर्ति नहीं करते क्योंकि वह व्यक्ति जिन्हें अन्ततः इस कर का भार वहन करना पड़ता है वह पहले से यह नहीं जानने कि उन पर कितने कर का भार पड़ेगा।

निश्चितता के सिद्धान्त पर कर भुगतान करने वाले व्यक्ति के दृष्टिकोण से ही नहीं वरन् सरकार के दृष्टिकोण से भी विचार करना चाहिए जिसे आय की प्राप्ति होती है। यदि सरकार को एक निश्चित समय में होने वाली आय का ठीक ज्ञान है तब वह अपने व्यय का नियोजन अधिक उचित प्रकार से कर सकती है।

सुविधा. कर इस प्रकार से लगाया जाना चाहिए जिससे कि वह कर देने वालों को अत्यन्त सुविधाजनक प्रतीत हो। इस परिनियम का उद्देश्य है कर देने के मनोवैज्ञानिक भारों तथा असुविधाओं को कम करना। आय-कर बहुधा स्रोत पर ही एकत्रित कर लिया जाता है, बिक्री-कर वस्तु के बिकने के समय

एकत्रित किया जाता है और आयात-कर देश के भीतर वस्तु का आयात होते समय लगाया जाता है जिससे कर देने वालों को कर देने में सुविधा हो तथा उन पर अधिक भार न पड़े।

मितव्ययिता. कर के नियम तथा प्रक्रियायें सरल होनी चाहिए जिससे उन्हें लोग सरलतापूर्वक समझ सकें और हिसाब बनाने तथा कर विवरण (tax returns) भरने में उन्हें अधिक व्यय न करना पड़े। इसके अतिरिक्त कर निर्धारित और एकत्रित करने की प्रणाली अधिक जटिल तथा महँगी नहीं होनी चाहिए। यदि इस सिद्धान्त की अवहेलना की जाती है तो सरकार कर से उतना लाभ नहीं प्राप्त कर सकती जितना लोगों को कर देने में भार पड़ता है। यद्यपि एडम स्मिथ ने इस बात पर अधिक जोर नहीं दिया, फिर भी मितव्ययिता के सम्बोध को अधिक व्यापक बना लेना सम्भव है जिसका अर्थ यह होगा कि कर प्रणाली इस प्रकार की होनी चाहिए जिससे देश का आर्थिक विकास अवरुद्ध न हो तथा कर देने वाले व्यक्तियों के उत्साह का हनन न हो। यदि कोई कर व्यापक राष्ट्रीय दृष्टिकोण से हानिकारक है तथा देश के आर्थिक विकास का अवरोधक है तब उसे मितव्ययी नहीं कहा जा सकता।

पर्याप्तता. एडम स्मिथ के चार परिनियमों में आगे चलकर एक नवीन परिनियम पर्याप्तता को जोड़ दिया गया जिसके अनुसार कर प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिससे सरकार को व्यय करने के लिए पर्याप्त आय प्राप्त हो सके। यदि कर से आय पर्याप्त नहीं होती तब अपने व्ययों की पूर्ति के लिए सरकार को हीनार्थ प्रबन्धन का सहारा लेना पड़ेगा जिससे देश में स्फीतिक दशायें उत्पन्न हो सकती हैं जो राष्ट्र के लिए हानिकारक हो सकती हैं।

करारोपण से कर देने वालों के उपभोग तथा अन्य वस्तुओं पर व्यय करने की आय में कमी हो जाती है जिससे उन्हें अपने उपभोग स्तर में कमी करनी पड़ती है। इसके विपरीत, हीनार्थ प्रबन्धन से वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में वृद्धि हो जाती है तथा लोगों को वास्तविक रूप में अपने उपभोग को कम करना पड़ता है क्योंकि कीमतों में वृद्धि हो जाने से उनकी आय वस्तुओं और सेवाओं को कम मात्रा में खरीदने के लिए ही पर्याप्त होती है। परन्तु इसी कार्य को हीनार्थ प्रबन्धन की अपेक्षा कर अधिक अच्छी तरह से करता है क्योंकि कर 'भुगतान करने के सामर्थ्य के आधार पर लगाया जाता है, जब कि हीनार्थ प्रबन्धन इसी कार्य को बिना भेद-भाव तथा अव्यवस्थित ढंग से करता है।

कर का मापदण्ड (criteria of taxation). आधुनिक अर्थशास्त्र में कर के परिनियमों को भिन्न प्रकार से व्यक्त किया जाता है, यद्यपि ये एडम स्मिथ के परिनियम के अनुरूप हो हैं। एक अच्छी कर प्रणाली की निम्नलिखित विशेषतायें होनी चाहिए :

न्याय्यता (equity). कर को विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों के लिए न्यायोचित होना चाहिए तथा इसे 'भुगतान करने के सामर्थ्य' के आधार पर लगाया जाना चाहिए जिससे निर्धन व्यक्तियों की तुलना में धनी व्यक्ति अपनी आय तथा अर्जन करने की क्षमता के अनुसार अधिक कर दें। यह एडम स्मिथ के 'भुगतान करने की क्षमता' के परिनियम जैसा ही है।

अनुप्रेरणा (incentive). अनुप्रेरणा के मापदण्ड का यह अर्थ है कि कर इस प्रकार से लगाया जाना चाहिए जिससे लोगों के अर्जन, बचत तथा औद्योगिक तथा अन्य प्रकार के व्यवसायों में विनियोग करने की प्रेरणा कुंठित न हो जाये। इस दृष्टिकोण से आय-कर की अपेक्षा व्यय-कर अधिक पसन्द किया जाना चाहिए। परोक्ष-करों को प्रत्यक्ष-करों की अपेक्षा अधिक पसन्द करना चाहिए क्योंकि ये लोगों के कार्य करने तथा बचत करने की प्रेरणा का उस सीमा तक हनन नहीं करते जिस सीमा तक प्रत्यक्ष-कर करते हैं। इस मापदण्ड में एडम स्मिथ की 'निश्चितता' तथा 'सुविधा' के परिनियमों का कुछ अंश सम्मिलित है।

आर्थिक विकास तथा स्थिरता. इस मापदण्ड का अर्थ यह है कि कर इस प्रकार से लगाया जाना चाहिए जिससे सरकार को पर्याप्त आय प्राप्त हो सके ताकि वह पूर्ण वृत्ति तथा वाँछित विकास की दर निजी उद्योगों के आर्थिक विकास करने में व्यवधान उत्पन्न किए बिना ही सुनिश्चित कर सके। इस मापदण्ड में 'पर्याप्तता' का परिनियम सन्निहित है।

प्रशासनीय कुशलता. प्रशासनीय कुशलता का सम्बन्ध केवल कर एकत्रित करने के व्यय को न्यूनतम करने से ही नहीं है वरन् इस बात से भी है कि कर को ऐसा होना चाहिए जिससे कर देने वाले व्यक्तियों पर न्यूनतम भार पड़े, कर अपवंचन (evasion) को रोका जा सके, तथा कर लगाने एवं एकत्रित करने की विधि सरकार और कर देने वाले दोनों के लिए अत्यन्त सुगम तथा सरल हो। यह मापदण्ड ठीक उसी प्रकार का है जिस प्रकार एडम स्मिथ का मितव्ययिता का परिनियम, यद्यपि एडम स्मिथ के परिनियम से, जो कर एकत्रित करने के व्यय तक ही सीमित था, इसका आशय अधिक व्यापक है।

न्यूनतम सामूहीकृत लाभ का सिद्धान्त

'भुगतान करने की क्षमता' का सिद्धान्त तथा प्रगामी-कर प्रणाली हमें 'समान त्याग' के नियम की ओर नहीं ले जातीं वरन् न्यूनतम सामूहीकृत त्याग (principle of least aggregate sacrifice) की ओर ले जाती हैं। समान त्याग का अर्थ यह होगा कि त्याग अथवा प्रति व्यक्ति से ली गई उपयोगिता की इकाइयों की मात्रा बिल्कुल समान हो। अतः कर के परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति पर लगाया गया कुल त्याग समान होना चाहिए। न्यूनतम सामूहीकृत त्याग के सिद्धान्त (जिसका तात्पर्य है कि पूरे समाज पर कुल त्याग न्यूनतम हो) का अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का कुल त्याग नहीं वरन् सीमान्त त्याग समान हो। यदि सीमान्त त्याग समान नहीं है तब समाज के कुल त्याग में कमी करके कर-भार का उस बिन्दु तक पुनःवितरण किया जा सकता है जिस बिन्दु पर त्याग न्यूनतम होता है। इस सिद्धान्त का तार्किक आशय यह है कि करारोपण के बाद सबके पास शेष उपयोगिता समान हो, न कि प्रत्येक व्यक्ति से ली गयी उपयोगिता समान हो।

मान लीजिये हम **अ** और **ब** दो ऐसे व्यक्तियों को लेते हैं जो एक प्रकार की परिस्थिति में हैं और कर प्रणाली इस प्रकार की है जिससे प्रत्येक व्यक्ति का सीमान्त त्याग समान है। यदि **अ** एक रुपया अधिक कर देता है तथा **ब** को एक रूपया कम कर देना पड़ता है तब परिणाम यह होगा कि कुल त्याग में वृद्धि हो जायेगी। ऐसा इसलिए है कि **अ** और **ब** दोनों समान स्थिति में हैं और यदि अधिक कर लगाया जाता है, तो दोनों के लिए सीमान्त त्याग में वृद्धि होगी तथा कम कर लगाने पर सीमान्त त्याग में कमी होगी। **अ** जो अब १ रुपया अधिक कर देता है उसके सीमान्त त्याग में वृद्धि, **ब** के सीमान्त त्याग में १ रुपया कम कर देने से हुई कमी की अपेक्षा, अधिक होगी। यह इस बात को स्पष्ट करता है कि समाज पर कुल त्याग न्यूनतम उस समय होगा जब कर द्वारा विभिन्न व्यक्तियों पर हुआ सीमान्त त्याग समान रहता है। समान रूप से यह तर्क तब भी लागू होगा जब अनेक व्यक्ति विभिन्न परिस्थितियों में हैं।

न्यूनतम सामूहीकृत त्याग के सिद्धान्त को एक चित्र के द्वारा भी समझाया जा सकता है। विभिन्न आय के वर्गों को x-axis पर तथा आय-स्तर को y-axis पर दिखलाया गया है। न्यूनतम सामूहीकृत त्याग के सिद्धान्त का अर्थ होगा कि (१) एक निश्चित न्यूनतम आय के लोग—चित्र २ में i, j, k और l वर्ग के व्यक्ति—जिनकी वार्षिक आय ३,६०० रुपया से कम है कर से पूर्णतः मुक्त हैं; (२) एक निश्चित सीमा से ऊँची आय को, जिसे nt रेखा द्वारा दिखलाया गया है, विभिन्न आय के अंशों पर कर की दरों को इस प्रकार से व्यवस्थित करके आत्म-

सात किया जा सकता है कि १½ लाख रुपया से अधिक आय वाले व्यक्तियों की सम्पूर्ण अतिरिक्त आय कर द्वारा ले ली जाये; तथा (३) इन सीमाओं के भीतर आय वाले लोगों (हमारे उदाहरण में जिनकी आय ३,६०० रुपया से अधिक है तथा १½ लाख रुपये से कम) अर्थात् चित्र २ में *d, e, f* और *g* आय श्रेणी वाले व्यक्तियों पर कर की दर अत्यन्त तीव्र प्रगामी है।
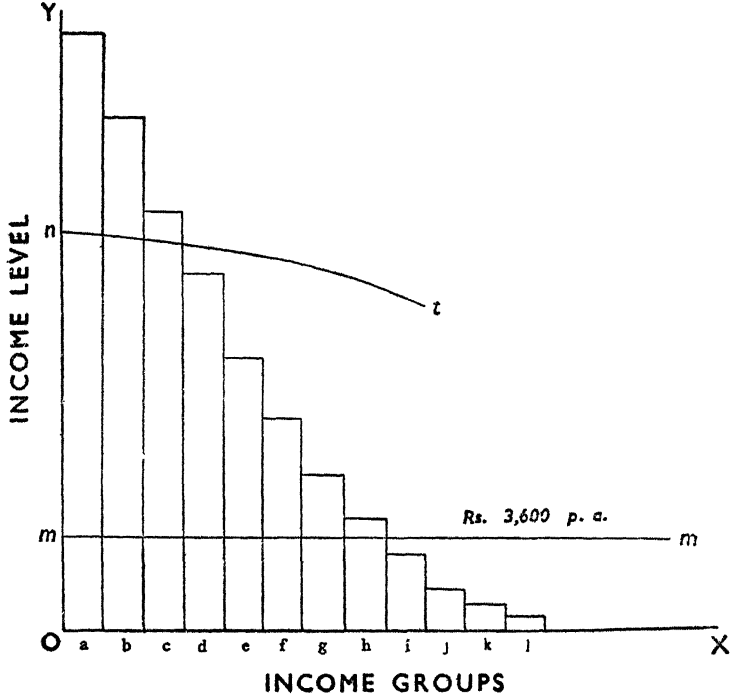
चित्र २

एक निश्चित सीमा से कम आय वाले व्यक्तियों को कर से बिल्कुल मुक्त कर देना आवश्यक है क्योंकि यदि इन लोगों पर भी कर लगा दिया जाता है तब सभी कर देने वाले व्यक्तियों के त्याग को बराबर करने के लिए यह आवश्यक हो जायेगा कि ऊँची आय वाले व्यक्तियों पर अधिक दर से कर लगाया जाये। ऐसा इसलिए है कि निम्नतर आय वाले व्यक्तियों की आय उनके निम्नस्तरीय जीवन-निर्वाह के लिए भी पर्याप्त नहीं होती, तथा उन पर लगाया गया १ रुपया कर भी महान त्याग तथा अधिक मनोवैज्ञानिक भार उत्पन्न करता है। उच्चतम आय वर्ग के व्यक्ति भी समान सीमान्त त्याग करें इसके लिए यह आवश्यक है कि उन पर ऊँचे दर

से कर लगाया जाये। यदि न्यूनतम आय-स्तर के व्यक्तियों पर कर लगाया जाता है तब सभी कर-दाताओं के समान सीमान्त त्याग के लिए यह आवश्यक हो जायेगा कि ज्यों-ज्यों उनकी आय में वृद्धि होती जाये त्यों-त्यों प्रगामिता की दर में भी वृद्धि होती जाये। इसके अतिरिक्त, कम आय वाले व्यक्तियों पर लगाया गया प्रत्यक्ष-कर प्रशासनीय कुशलता के परिनियम की अवहेलना करता है क्योंकि कम आय-वाले बहुत से व्यक्तियों से केवल अल्प राशि ही कर द्वारा एकत्रित की जा सकेगी। इसलिए कर के सामूहीकृत त्याग को न्यूनतम करने के लिए यह आवश्यक है कि कम आय वाले वर्ग के लोगों को आय-कर जैसे प्रत्यक्ष-कर से बिल्कुल ही मुक्त कर दिया जाये।

सबसे अच्छा तो यह होता कि अतिरिक्त ऊँची आयों को आत्मसात कर करोपरान्त सभी ऊँची आय वाले व्यक्तियों के पास समान आय शेष छोडी जाती। ऐसी स्थिति में चित्र २ की *nt* रेखा, जो करोपरान्त छोड़ी गयी सर्वाधिक आय को प्रदर्शित करती है, एक अनुभूमिक सीधी रेखा होती। परन्तु यदि ऐसा किया गया होता तो ऊँची आय-वर्ग के व्यक्तियों की अधिक आय अर्जित करने की प्रेरणा कुण्ठित हो जाती। यदि ऊँचे आय-वर्ग के व्यक्तियों के पास करोपरान्त उनसे कम आय-वर्ग वाले व्यक्तियों की अपेक्षा कुछ अधिक आय शेष रह जाती है तब आय का यह अन्तर उनकी आय वृद्धि करने की प्रेरणा को सुरक्षित रखता है। इसी कारण से *nt* रेखा कुछ बायें से दाहिनी ओर झुकती हुई खींची गयी है जो यह प्रदर्शित करती है कि कर के बाद *a* आय-श्रेणी वाले व्यक्तियों के पास *b* आय-श्रेणी वाले व्यक्तियों की अपेक्षा कुछ अधिक आय शेष रह जायेगी तथा इसी प्रकार अन्य वर्गों के बारे में भी दिखलाया गया है। न्यूनतम सामूहीकृत त्याग के सिद्धान्त के लिए यह आवश्यक है कि न्यूनतम तथा उच्चतम आय-वर्ग के व्यक्तियों पर कर प्रगामी वृद्धिमान दर के आधार पर आर्थिक स्थितियों, लोगों की आय तथा जीवन-स्तर के सम्बन्ध और धन के वितरण को ध्यान में रखकर लगाना चाहिए।

आलोचनायें. 'न्यूनतम सामूहीकृत त्याग' के सिद्धान्त के विरुद्ध अन्य आलोचनायें की गई हैं :—

(१) यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि करारोपण का यह सिद्धान्त अपूर्ण है क्योंकि यह सार्वजनिक व्यय के प्रभावों को ध्यान में नहीं रखता। परन्तु यह आलोचना सारहीन है क्योंकि उसी सामान्य विचार को हम व्यय-पक्ष पर भी लागू कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि हम न्यूनतम त्याग के तर्क को स्वीकार करते हैं कि कर के उपरान्त अतिरिक्त आय का अपहरण इस प्रकार हो जाता है जिससे पूर्ण

आय की समानता स्थापित हो जाती है, तब सिद्धान्ततः ऐसा कोई कारण नहीं है कि कर के परिकलन में व्यक्तियों के हित में किए गए सरकार द्वारा व्यय के लाभपूर्ण प्रभावों को सम्मिलित न किया जाये। इस आलोचना को दूर करने के लिए हमें सार्वजनिक आय की 'नियोजन स्थिति' तथा आय की 'वास्तविक प्राप्ति' स्थिति में भेद स्पष्ट करना चाहिए। "जब हम सार्वजनिक आय के नियोजन पर विचार करते हैं, अर्थात् कितनी आय प्राप्त करनी है, तब हमें इस बात पर भी विचार करना होता है कि उसका व्यय किस प्रकार से होगा तथा लोगों के हित में उसके सम्भावित प्रभाव क्या पड़ते हैं। परन्तु जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि आय-प्राप्ति किस प्रकार से की जाये, तब हम निस्सन्देह सार्वजनिक व्यय पर निष्पक्ष रूप से विचार कर सकते हैं।

(२) न्यूनतम सामूहीकृत त्याग का सिद्धान्त कुछ लोगों को कर से बिल्कुल मुक्त कर देता है और इसलिए यह दोषपूर्ण है। सार्वजनिक व्यय में प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ योग देना चाहिए और यदि कुछ लोग कर से बिल्कुल मुक्त कर दिए जाते हैं तब वे सार्वजनिक आय में कुछ भी योग नहीं देते तथा वे उस उत्तर-दायित्व की भावना का अनुभव नहीं करते जो सामान्य हित के लिए आवश्यक है। इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि 'न्यूनतम सामूहीकृत त्याग' का सिद्धान्त केवल प्रत्यक्ष-करों पर ही लागू होता है तथा निम्न आय वर्ग के व्यक्ति (जो ऐसे कर नहीं देते) परोक्ष-करों का भुगतान करते हैं। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि वे सार्वजनिक व्यय में कुछ भी योग-दान नहीं देते।

(३) यह भी तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि चूँकि 'न्यूनतम सामूहीकृत त्याग' सिद्धान्त के अन्तर्गत ऊँची आय वर्ग के लोगों पर अधिक ऊँची दर से कर लगाया जाता है अतः उनकी बचत तथा कार्य करने की प्रेरणा कुण्ठित हो जाती है। इसके विरुद्ध हमें इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि अत्यन्त ऊँची आय-वर्ग के व्यक्तियों की आय में तो स्वतः वृद्धि होती रहती है चाहे ये लोग अधिक तत्परता से कार्य करें या न करें। प्रेरणा का प्रश्न तो केवल उन्हीं व्यक्तियों के लिए उठता है जो न्यूनतम मुक्त-सीमा तथा उच्चतम आय-सीमा के बीच होते हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि "न्यूनतम सामूहीकृत त्याग" का सिद्धान्त अनुप्रेरणा परि-नियम के विरुद्ध है।

(४) बहुधा यह कहा जाता है कि न्यूनतम सामूहीकृत त्याग का सिद्धान्त केवल प्रत्यक्ष-करों में ही लागू होता है, परोक्ष-करों में नहीं। परन्तु परोक्ष-करों में भी कुछ अंश तक प्रगामिता ऐसी वस्तुओं पर अधिक कर लगाकर जिनका उपभोग अधिकाँश

ऊँची आय-वर्ग के व्यक्ति करते हैं (जैसे रेडियो, कार तथा रेफ्रीजरेटर इत्यादि) तथा निर्धन व्यक्तियों द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं पर कम कर लगाकर लाई जा सकती है। यह सही तर्क है कि परोक्ष-करों में प्रत्येक व्यक्ति के सीमान्त त्याग को समान नहीं किया जा सकता। परन्तु यह आलोचना केवल न्यूनतम सामूहीकृत त्याग के सिद्धान्त पर ही नही लागू होती वरन् राजवित्त के सम्पूर्ण सिद्धान्त पर भी लागू होती है। मानवीय संस्थायें अपूर्ण होती हैं तथा हमारे पास उपलब्ध मापने तथा परिकलन करने की विधि अपर्याप्त है। इसलिये कर में या अन्य किसी भी वस्तु में सीमान्त त्याग का उचित ढग से समायोजन करना पूर्ण रूप से सम्भव नहीं है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सभी व्यावहारिक कार्यों के लिए न्यूनतम सामहीकृत त्याग का सिद्धान्त करारोपण का एक संतोषजनक सिद्धान्त है।

अध्याय १६

करापात

(Incidence of Taxation)

करापात का सिद्धान्त करों के हस्तान्तरित होने की दशाओं तथा प्रक्रियाओं एवं विभिन्न व्यक्तियों में कर के प्रत्यक्ष मौद्रिक भार के वितरित होने के अनुपात का अध्ययन करता है। इस सिद्धान्त को भली भाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि आघात (impact), विवर्तन (shifting) तथा आपात (incidence) को परिभाषित कर लिया जाये।

आघात (impact). आघात उस व्यक्ति पर पड़ता है जो सर्वप्रथम कर का भुगतान करता है। उदाहरणार्थ, आयात-कर का आघात उस वस्तु के आयातक पर पड़ता है, उत्पादन-कर का उत्पादक पर तथा गृह-कर का आघात मकान मालिक पर पड़ता है। यद्यपि ये लोग कर सरकार को देते हैं परन्तु ये अधिक से अधिक उसके भार को दूसरों पर विवर्तित करने का प्रयास करते हैं। ये अपने प्रयास में केवल सीमित अंश तक ही सफल हो सकते हैं तथा यदि परिस्थितियाँ उनके प्रतिकूल हैं तब यह प्रक्रिया अत्यधिक समय ले सकती है। परन्तु वे कर का अधिकांश अनुपात अथवा कुछ परिस्थितियों में तो सम्पूर्ण कर को दूसरे व्यक्तियों पर विवर्तित कर सकते हैं।

विवर्तन (shifting). यह वह प्रक्रिया है जिससे कर को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति पर स्थानान्तरित किया जाता है। कर का विवर्तन केवल वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यों में परिवर्तन करके किया जा सकता है। इसका विवर्तन या तो आगे अथवा पीछे की ओर किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, आयातक जो आयात-कर देता है वह आंशिक रूप में उसका विवर्तन उपभोक्ताओं पर थोक तथा फुटकर विक्रेताओं के द्वारा आयात की गई वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि करके कर सकता है, तथा आंशिक रूप में उसका विवर्तन पीछे की ओर विदेशी उत्पादकों पर उनसे खरीदी गई वस्तुओं के कम दाम देकर कर सकता है। इसी प्रकार उत्पादक जो उत्पादन-कर देता है वह कुछ भाग का विवर्तन उपभोक्ताओं पर तथा कुछ भाग का विवर्तन कच्चे माल, मशीन तथा उत्पादन के साधनों को प्रदान करने वालों पर कर सकता है।

आपात (Incidence). यह व्यक्ति पर कर का अन्तिम मौद्रिक भार है जिसका विवर्तन वह अब आगे दूसरे व्यक्तियों पर नहीं कर सकता। एक उपभोक्ता जो आयात की गई वस्तुओं का अधिक मूल्य देता है तथा दूसरों पर उसके भार को विवर्तन नहीं कर सकता, वह करापात के उस अंश का वहन करता है जो उस पर पड़ता है और उसके मौद्रिक भार को भी उठाता है। एक श्रमिक को उत्पादन-कर के उस अंश का वहन करना पड़ता है जो उस पर मौद्रिक मजदूरी में कमी के रूप में पड़ता है तथा जिसे वह दूसरों पर विवर्तित करने में समर्थ नहीं है। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

करापात को अधिक व्यापक रूप में परिभाषित करने के अनेक प्रयास किये गये हैं जिससे इसके अन्तर्गत विभिन्न उद्योगों में उत्पादन के साधनों की विनियुक्ति के प्रभाव, अथवा वृत्ति के लिए आये हुए उत्पादन के साधनों की पूर्ति पर प्रभाव भी निहित हों। इन व्यापक परिभाषाओं के विपरीत १९२७ में कालविन कमेटी ने इस सम्बोध को सीमित बनाने का प्रयास किया, जिसका सम्बन्ध तात्कालिक अल्पकालीन वितरणात्मक प्रभावों से था न कि सापेक्ष्य प्रदा तथा कार्य करने वाले साधनों की पूर्ति पर हुए दीर्घकालीन प्रभावों से। सेलिगमैन के अनुसार "हम वास्तविक करापात को उसी समय ठीक तरह से जान सकते हैं जब हमें यह ज्ञात हो जाय कि कब, क्यों तथा किस प्रकार से कर का विवर्तन होता है और जब हम करापात का सही ज्ञान प्राप्त कर लें तभी हम कर के व्यापक प्रभावों की व्याख्या कर सकते हैं"। अतः हमें करापात तथा कर के प्रभावों के भेद को स्पष्ट कर लेना चाहिए। करापात का अर्थ है अन्तिम मौद्रिक भार, तथा कर के प्रभाव का अर्थ होता है उपभोग, उत्पादन, विनिमय, तथा वितरण पर हुए प्रभाव जिसमें करापात भी सम्मिलित है।

हमने इस बात को ऊपर ही स्पष्ट कर दिया है कि करापात तथा कर का विवर्तन वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में हुए परिवर्तनों के द्वारा होता है। एक चित्र द्वारा इस प्रकिया को प्रदर्शित किया जा सकता है। चित्र ३ में बेची तथा खरीदी गई वस्तुओं की मात्रा को x-axis पर तथा प्रति इकाई वस्तु का मूल्य y-axis पर दिखलाया गया है। क्रय तथा विक्रय की गई वस्तुओं का पूर्ति वक्र SS तथा मांग वक्र DD कर लगने के पूर्व R बिन्दु पर मिलते हैं तथा ON मात्रा के लिए OP मूल्य दिया जा रहा है। अब यदि TQ के बराबर कर लगाया जाता है तब पूर्ति वक्र विवर्तित होकर S'S' का रूप ग्रहण कर लेगी तथा OM मात्रा, जिसका अब क्रय-

विक्रय होता है, के लिए OP′ मूल्य दिया जायेगा। चूंकि उपभोक्ता OP (=RN) के बराबर तो कर लगने के पहले ही मूल्य दे रहा था, इसलिए वह अब कर के
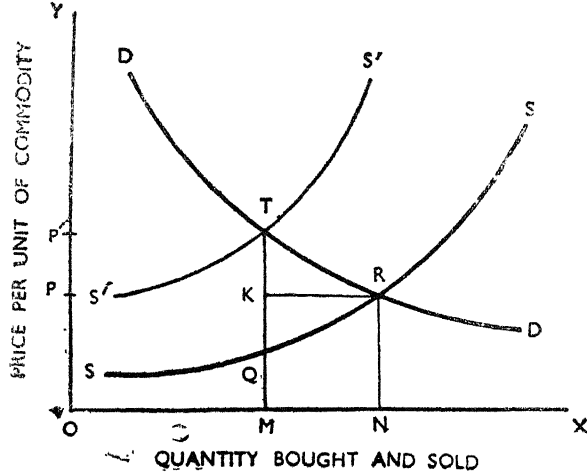
चित्र ३

उपरान्त केवल TK मात्रा के बराबर अतिरिक्त मूल्य देता है तथा मूल्य बढ़कर OP′ (=TM) हो जाता है। इस प्रकार करापात अथवा उत्पादकों और उपभोक्ताओं पर प्रत्यक्ष मौद्रिक भार $\frac{KQ}{TK}$ के अनुपात में पड़ता है।

विभिन्न व्यक्तियों—क्रेताओं तथा विक्रेताओं—में कर के भार का विभाजन उनकी मांग और पूर्ति में सापेक्षिक लोच के अनुसार होगा। इसे निम्नलिखित ढंग से दिखलाया जा सकता है :

$$\text{मांग की लोच} = \frac{\text{परिमाण में हुआ अनुपातिक परिवर्तन}}{\text{मूल्य में हुआ अनुपातिक परिवर्तन}}$$

$$= \frac{MN/ON}{TK/RN}$$

$$= \frac{MN}{ON} \times \frac{RN}{TK}$$

$$\text{पूर्ति की लोच} = \frac{\text{परिमाण में हुआ अनुपातिक परिवर्तन}}{\text{मूल्य में हुआ अनुपातिक परिवर्तन}}$$

$$=\frac{MN/ON}{KQ/RN}$$

$$=\frac{MN}{ON}\times\frac{RN}{KQ}$$

विक्रेताओं (उत्पादकों) तथा क्रेताओं में करापात इस अनुपात में होगा :

$$\frac{\text{मांग की लोच}}{\text{पूर्ति की लोच}}$$

$$=\frac{\frac{MN\times RN}{ON\times TK}}{\frac{MN\times RN}{ON\times KQ}}$$

$$=\frac{MN\times RN}{ON\times TK}\times\frac{ON\times KQ}{MN\times RN}$$

$$=\frac{KQ}{TK}$$

चूंकि कर (TQ के बराबर) के परिणामस्वरूप मूल्य OP (=RN) से परिवर्तित होकर OP′ (=TM) हो जाता है, इसलिए TK कर-भार का वहन उपभोक्ता करता है तथा KQ भार का वहन उत्पादक। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विक्रेताओं (उत्पादकों) और क्रेताओं (उपभोक्ताओं) में करापात का विभाजन उनकी मांग और पूर्ति की सापेक्ष्य लोच के अनुसार होता है।

वस्तुओं पर कर (taxes on commodities). विवर्तन की प्रक्रिया में कर का मौद्रिक भार कुछ अंश तक सम्बन्धित पक्षों पर पड़ सकता है तथा वास्तविक करापात का विभाजन क्रेताओं तथा विक्रेताओं की सापेक्ष्य मांग और पूर्ति की लोच के अनुसार होता है। यह प्रक्रिया इतनी परिजटिल होती है कि इसके सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं निर्धारित किया जा सकता। केवल इसकी व्यापक प्रवृत्तियों को ही बतलाया जा सकना सम्भव है। यदि किसी वस्तु की मांग पूर्णतया अलोचपूर्ण है जबकि पूर्ति पूर्णतया लोचपूर्ण है, तब सम्पूर्ण करापात क्रेता पर होगा। इसके विपरीत, यदि वस्तु की पूर्ति पूर्णतया अलोचपूर्ण है जबकि उसकी माँग पूर्णतया लोचपूर्ण होती है, तब करापात का सम्पूर्ण भार विक्रेता पर पड़ेगा।

परन्तु ये चरम स्थितियाँ हैं और बहुधा क्रेता एवं विक्रेता दोनों कर के मौद्रिक भार (अर्थात् वास्तविक करापात) का वहन माँग और पूर्ति की लोच के अनुपात में करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि आयात-कर, उत्पादन-कर, बिक्री-कर तथा अन्य प्रकार के करों का भार विभिन्न व्यक्तियों पर उनकी माँग और पूर्ति की सापेक्ष्य लोच के अनुपात के अनुसार होगा।

वास्तविक एकाधिकारिक आय की स्थिति (case of monopoly net revenue). यदि वास्तविक एकाधिकारिक आय अथवा अन्य प्रकार के अतिरेकों पर एक राशि में ही कर लगा दिया जाता है तब उसका विवर्तन नहीं हो सकता क्योंकि अतिरेक अर्जित करने वाला व्यक्ति अथवा एकाधिकारिक आय प्राप्त करने वाला एकाधिकारी तो वस्तुओं का अधिकतम मूल्य अपनी आय को सर्वाधिक करने के लिए लेता ही है। अतः कर का विवर्तन नहीं किया जा सकता। केवल जब कर प्रगामी दर से लगाया जायेगा तथा उसकी दर में वृद्धि अतिरेक की मात्रा में वृद्धि के साथ होती है तब एकाधिकारी अथवा अतिरेक अर्जित करने वाला व्यक्ति विभिन्न मूल्य ले सकता है जो उसके हित में हों। ऐसी स्थिति में कर के कुछ अंश का विवर्तन क्रेताओं पर हो जायेगा क्योंकि एकाधिकारी या अतिरेक अर्जित करने वाला व्यक्ति अपने अतिरेक को सर्वाधिक करने के लिए वस्तु के मूल्य में वृद्धि कर देता है।

आय-कर की स्थिति (case of income tax). कुछ अर्थशास्त्रियों के मतानुसार सामान्य आय-कर का विवर्तन नहीं किया जा सकता। इसके पक्ष में डाल्टन ने तीन तर्क दिये हैं :

(१) यदि अतिरेक नहीं है तब कोई आय-कर नहीं होगा चाहे अन्य प्रकार के कर भले ही दिये जायें। आयकर उत्पादन की लागत नहीं होता वरन् व्यवसाय में सफलता की लागत होता है।

(२) व्यावसायिक लोग जो मूल्य प्राप्त करते हैं वह दी गई आय-कर की मात्रा द्वारा प्रभावित नहीं होता। परिस्थितियों को देखकर जो वे सर्वाधिक आय सुनिश्चित करने वाला मूल्य लेते हैं वह इस बात द्वारा बिल्कुल प्रभावित नहीं होता कि वे आय-कर देते हैं अथवा नहीं या कितना देते हैं।

(३) संसाधनों की पूर्ति की लोच जो सामान्य आय-कर के योग्य होती है वह अल्पकाल में अत्यन्त अल्प होती हैं, क्योंकि कर के परिणामस्वरूप एक प्रयोग से दूसरे प्रयोग में संसाधनों का विनियोजन लाभप्रद नहीं होगा यदि वह पहले भी लाभप्रद नहीं था।

इस तर्क में प्रमुख दोष यह है कि यह आय में निहित 'अधिशेष अंश'[1] तथा अन-अधिशेष अंश (non-rent element) में भेद स्पष्ट नहीं करता। चूँकि आय का क्रय विक्रय होता है, इसलिये क्रेता तथा विक्रेता में एक प्रकार का विनियोग सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अतः सिद्धान्ततः कर का विवर्तन हो सकता है। यदि डाक्टर डाल्टन तथा अन्य लोगों के निष्कर्ष सही हैं तब इसका यह अर्थ होगा कि आय की मांग या आय प्राप्त करने वाले व्यक्तियों द्वारा प्रयास अथवा थकन की पूर्ति पूर्णतः अलोचपूर्ण है क्योंकि तभी वे कर का विवर्तन करने में समर्थ नहीं हो सकेंगे। सामान्य आय-कर का विवर्तन किया जा सकता है यद्यपि बहुधा इसका विवर्तन नहीं किया जाता। चूँकि अधिकांश आयों में कुछ अधिशेष अंश रहता है इसलिये आय पर लगाया गया अनुपातिक अथवा 'एक निश्चित राशि' कर का विवर्तन नहीं हो सकता। परन्तु यदि कर अधिशेष अंश से अधिक लगाया जाता है तब यह प्रयास की पूर्ति को घटा देगा। ऐसी स्थिति आय पर उन करों की भी होती है जो प्रगामी रूप में अधिशेष अंश पर पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में भी ऐसा हो सकता है कि कर देने वाले के लिये सबसे उपयुक्त स्थिति यह हो सकती है कि वह प्रयास की पूर्ति में कमी करके अपने आराम में वृद्धि कर ले। बहुत सी वस्तुओं में 'अधिशेष अंश' अत्यन्त सूक्ष्म होता है, इसलिए बहुधा वस्तुओं पर लगाये गये करों का विवर्तन हो जाता है।

कर के प्रभाव (effects of taxation). करापात तो कर के केवल उन्हीं प्रभावों को प्रदर्शित करता है जो मौद्रिक भार से सम्बन्धित होते हैं। परन्तु हमें विनिमय, उपभोग, वितरण तथा आर्थिक विकास की दर पर हुए कर के प्रभावों को भी देखना चाहिए। इस सम्बन्ध में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं: (१) विभिन्न करों के प्रभाव विभिन्न व्यक्तियों के कार्य, बचत तथा उपभोग करने की प्रवृत्ति पर भिन्न-भिन्न पड़ते हैं; (२) परिवर्तनशील दशाओं के साथ-साथ प्रभावों में परिवर्तन इस प्रकार होता है जिसे नापा नहीं जा सकता; तथा (३) कर के सामान्य प्रभाव करापात के प्रभावों की अपेक्षा अधिक जटिल होते हैं तथा उनकी व्यापक जानकारी प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। फिर भी विभिन्न करों के सम्भावित सामान्य प्रभावों के बारे में कुछ साधारण विचार प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

वस्तु करों के प्रभाव. यह कर वस्तुओं पर आयात, उत्पादन, विक्रय, क्रय तथा उपभोग पर लगाये गये करों का रूप ग्रहण कर सकते हैं। ये सभी परोक्ष-कर

---

१. आय का अधिशेष उसे कहते हैं जो 'अवसर लागत' पर अतिरेक होता है।

क्रेताओं एवं विक्रेताओं द्वारा उनकी मांग और पूर्ति की सापेक्ष्य लोच के अनुसार दिये जाते हैं। परन्तु सब कुछ मिलाकर इन करों का प्रभाव यह होता है कि उत्पादन, आयात तथा उपभोग में कमी हो जाती है। जहां तक ऐसा होता है वहाँ तक उपभोग स्तर तथा आर्थिक विकास की दर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त वस्तुओं के कम उत्पादन तथा कम बिक्री का बहुधा प्रभाव यह होता है कि कच्चे माल, श्रम तथा अन्य उत्पादन के साधनों की माँग कम होती है तथा इनकी कीमतें कम हो जाती हैं। परन्तु इसके विरुद्ध हमें इस बात पर भी विचार करना चाहिये कि अधिक आय के कारण सार्वजनिक व्यय में वृद्धि का क्या परिणाम होगा? सार्वजनिक व्यय की वृद्धि से वस्तुओं की मांग बढ़ जायेगी जिससे उनके उत्पादन और उपभोग में वृद्धि होगी तथा इससे कच्चे माल, श्रम तथा अन्य उत्पादन के साधनों की मांग भी बढ़ेगी।

चूँकि अधिकांश आधुनिक राज्य अपनी आय का अधिक अंश उत्पादक कार्यों पर व्यय करते हैं, अतः यह आवश्यक नहीं है कि सार्वजनिक आय तथा व्यय पर साथ विचार करने पर कर का प्रभाव उत्पादन, विनिमय, उपभोग तथा वितरण पर प्रतिकूल पड़ेगा। बहुत सम्भावना इस बात की भी है कि कर उत्पादन प्रणाली में अनुकूल परिवर्तन उत्पन्न करे तथा इसके द्वारा धन के वितरण में भी कुछ सुधार हो सकता है यदि परोक्ष-कर विलासिता की वस्तुओं तथा ऐसी वस्तुओं के उत्पादन को हतोत्साहित करते हैं] जो लोगों के स्वास्थ्य, क्षमता तथा चरित्र पर बुरा प्रभाव डालती हैं तथा ऐसी वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहित करते हैं जो लोगों के स्वास्थ्य तथा क्षमता मे वृद्धि करने में सहायक होते हैं।

आय-कर तथा अन्य प्रकार के प्रत्यक्ष करों के प्रभाव. चूँकि ये कर सामान्यतः प्रगामी होते है, अतः धन के वितरण को सुधारने, सम्पत्ति तथा अर्जन क्षमता की असमानताओं को दूर,करने में ये सहायक होते हैं। अत्यधिक आय-कर का प्रतिकूल प्रभाव यह हो सकता है कि लोगों के कार्य करने की प्रेरणा तथा बचत करने की इच्छा समाप्त हो जाये। परन्तु कुछ सीमा तक यह दोष कर की दर को एक निश्चित सीमा के भीतर रखकर तथा प्रत्यक्ष करों का सतर्कता से चुनाव कर के दूर किया जा सकता है। "धनी व्यक्तियों का अधिव्यय (dis-saving) कर के भार का परिणाम नहीं होता तथा आय-कर के उस विचित्र प्रभाव द्वारा होता है जो बचत को हतोत्साहित कर उपभोग को प्रोत्साहित करता है। यदि आय-कर से प्राप्त होने वाली उतनी ही मात्रा को अधिक धनी व्यक्तियों से व्यय-कर के द्वारा प्राप्त किया जाये तब धनी व्यक्तियों के उपभोग में कमी हो जाना निश्चित है तथा उसी अनुपात में बचत में वृद्धि भी

अध्याय १७

कर-दान क्षमता

(Taxable Capacity)

किसी देश अथवा व्यक्ति की कर-दान क्षमता को ज्ञात करने का उद्देश्य कर की उस सीमा की जानकारी प्राप्त करना है जहाँ तक सार्वजनिक आय प्राप्त करने के लिए कर लगाया जा सके तथा ऐसी प्रतिकूल परिस्थितियाँ न उत्पन्न हो जायें जिनसे करारोपण का उद्देश्य ही नष्ट हो जाये। शाब्दिक अर्थ में किसी राष्ट्र की कर-दान क्षमता कुल राष्ट्रीय आय ऋण (minus) जनसंख्या के जीवन निर्वाह के लिए वांछित राशि के बराबर होती है। परन्तु कर-दान क्षमता का इस प्रकार का अर्थ वास्तविक नहीं है। इस पर विचार करते समय हमें लोगों की अर्जन क्षमता तथा जीवन निर्वाह व्यय पर हुए कर तथा सार्वजनिक व्यय के प्रभावों को भी ध्यान में रखना चाहिए। कर-दान क्षमता के सम्बोध का अध्ययन बहुधा दो रूप में किया जाता है: (१) निरपेक्ष (absolute) कर-दान क्षमता, तथा (२) सापेक्ष्य (relative) कर-दान क्षमता।

निरपेक्ष कर-दान क्षमता. निरपेक्ष कर-दान क्षमता को परिभाषित करना अत्यन्त कठिन है। सर जोशिया स्टैम्प के मतानुसार एक राष्ट्र की निरपेक्ष कर-दान क्षमता वह सर्वाधिक कर की मात्रा होती है जिसे लोग बिना वास्तविक कष्ट-मय एवं निकृष्ट जीवन व्यतीत किए तथा आर्थिक संगठन को बिना अत्यधिक अस्त व्यस्त किए सार्वजनिक कोष को दे सकने में समर्थ होते हैं। यह परिभाषा अस्पष्ट तथा अनिश्चित है क्योंकि 'वास्तविक कष्टमय तथा निकृष्ट जीवन' शब्द का स्पष्ट अर्थ दे सकना सम्भव नहीं है। फिण्डले शिराज ने निरपेक्ष कर-दान क्षमता की परिभाषा निष्पीड़नियता की सीमा' (limit of squeezability) के रूप में दी है। एक दूसरे स्थान पर वे इसकी परिभाषा "न्यूनतम उपभोग से अतिरिक्त उत्पादन के रूप में देते हैं जो प्रति इकाई जनसंख्या के लिए उतना उत्पादन बनाए रखने के लिये आवश्यक है जिससे अनेक वर्षों तक वास्तविक जीवन स्तर अप-रिवर्तित रहे।" अपनी पुस्तक में एक दूसरे स्थान पर शिराज इसे 'राष्ट्र की अनु-कूलतम कर देयता' के रूप में परिभाषित करते हैं जिसका अर्थ है प्राप्त तथा व्यय किये जाने वाले कर की सर्वाधिक मात्रा जो समाज में सर्वाधिक आर्थिक कल्याण उत्पन्न करें। शिराज द्वारा दी गई कर-दान क्षमता की विभिन्न परिभाषाओं में कुछ अन्तर है परन्तु सामान्यतः उनका आशय लगभग एक ही है। कठिनाई तो यह

है कि हम यह ठीक नहीं जानते कि किसी दी हुई परिस्थिति में 'निष्पीड़नियता की सीमा' क्या है तथा 'वास्तविक जीवन निर्वाह' को ठीक-ठीक परिभाषित करना भी सम्भव नहीं है जो कर देने के उपरान्त अनेक वर्षों तक अपरिवर्तित रहें। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि डाक्टर डाल्टन अधिक सही थे जब उन्होंने निरपेक्ष कर-दान क्षमता के सम्बोध को 'मन्द संक्रम (slipshod muddle) के अतिरिक्त कुछ भी नहीं बताया तथा यह कहा कि समाज की कर-दान क्षमता के विषय में विस्मित छानबीन एक भ्रान्ति है'।

निरपेक्ष कर-दान क्षमता का कुछ सार्थक अर्थ निकाला जा सकना सम्भव है यदि हम कर तथा व्यय दोनों को दृष्टि में रखें। यह निश्चित करने के लिये कि राज्य को कितना कर लगाना चाहिए हमें इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि उसे कितना व्यय करना चाहिए। ये दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं तथा निरपेक्ष कर-दान क्षमता राजवित्त की समस्या है, केवल कर की समस्या नहीं। राज्य को उस समय तक कर लगाते तथा व्यय करते जाना चाहिए जब तक सार्वजनिक व्यय द्वारा सीमान्त लाभ कर के सीमान्त त्याग से अधिक हो। इसके बाद राज्य को कर नहीं लगाना चाहिए क्योंकि यहाँ सामाजिक कल्याण सर्वाधिक होता है। यदि निरपेक्ष कर-दान क्षमता को इस प्रकार परिभाषित किया जाये तब कर की मात्रा पर एक निरपेक्ष सीमा लगाई जा सकती है जहाँ तक राज्य को कर लगाना चाहिए।

अनुकूलतम बजट का सम्बोध (concept of optimal budget). इसी प्रकार का मत प्रोफेसर मसग्रेव का भी है। वे कहते हैं कि कर-दान क्षमता शब्द ही पक्षपात पूर्ण है। प्रारम्भ से ही यह समस्या को बजट के कर-पक्ष तक ही सीमित रखती है, व्यय-पक्ष पर बिल्कुल ध्यान नहीं देती, तथा क्षमता पर ही ध्यान केन्द्रित कर यह सार्वजनिक गृहस्थी के उस उच्चतम आकार को बतलाती है जितना निजी क्षेत्र सम्भाल सकता है, तथा उस न्यूनतम सीमा की आवश्यकता पर ध्यान नहीं देती जिसके बिना निजी क्षेत्र रह ही नहीं सकता। समस्या पर निष्पेक्ष विचार करने के लिये यह आवश्यक है कि बजट नीति एवं कल्याण के स्तर के सभी अन्तर्सम्बन्धों को दृष्टि में रखा जाये; इस प्रकार के दृष्टिकोण में ऐसी आकस्मिक स्थितियों पर भी ध्यान देना चाहिए जिनमें अपर्याप्त तथा अत्यधिक सामाजिक आवश्यकताओं के स्तर की सन्तुष्टि हो। अन्य शब्दों में करदान क्षमता के सम्बोध का परित्याग अनुकूलतम बजट के सम्बोध के पक्षमें कर देना चाहिए।

आगे चलकर वे कहते हैं कि अनुकूलतम बजट का अपरिष्कृत सम्बोध भी जो राष्ट्रीय प्रदा के आकार को बजट नीति से सम्बद्ध करता है, कर-दान क्षमता के एकांगी सम्बोध से श्रेष्ठ है जिसमें निम्नतम सीमा की समस्या तथा बजट

के व्यय पक्ष पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जाता। यदि कर-दान क्षमता को इस प्रकार परिभाषित किया जाये तब इससे कुछ व्यावहारिक लाभ उठाया जा सकता है परन्तु उस स्थिति में यह कर-दान क्षमता सम्बोध—जिस प्रकार से बहुधा इसे समझा जाता है—रह ही नहीं पायेगा तथा जिस पर अब हम विचार कर रहे हैं वह कर-दान क्षमता नहीं है वरन् दी हुई दशाओं के अन्तर्गत राजवित्त की अनुकूलतम संस्थिति है। इस प्रकार की अनुकूलतम संस्थिति तथा सार्वजनिक आय एवं व्यय का स्तर (जो संस्थिति में अवश्य ही समान रहता है) देश-देश में तथा एक ही देश में विभिन्न समयों में भिन्न होगा।

सम्पूर्ण समस्या पर इस नवीन प्रकार से विचार करने के अतिरिक्त एक राष्ट्र की निरपेक्ष कर-दान क्षमता के अनुमान करने की समस्या महान कठिनाइयाँ उत्पन्न करती है। दिसम्बर १९४५ के 'इकानामिक जर्नल' के एक लेख में प्रोफेसर कोलिन क्लार्क ने इस मत का प्रतिपादन किया कि राष्ट्रीय आय के एक निश्चित अनुपात से अधिक करारोपण अत्यधिक स्फीतिक दशायें उत्पन्न करता है क्योंकि यदि हम कर तथा सार्वजनिक व्यय के सम्मिलित प्रभावों को ध्यान में रखें तब इसके परिणामस्वरूप वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति प्रवर्तमान मूल्यों पर कुल मांग को सन्तुष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं होगी। यह सरकार की कुल आय तथा व्यय की उच्चतम सीमा निर्धारित करती है। अनेक परिदृढ़ परिकल्पनाओं के आधार पर, जिनकी कटु आलोचना अनेक अर्थशास्त्रियों ने की है, वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि, मुक्त अर्थव्यवस्था में, राष्ट्रीय आय के २५% से अधिक कर लगता है तब इसका निस्सन्देह परिणाम यह होगा कि अत्यधिक स्फीतिक दशायें उत्पन्न हो जायेंगी जो कर को इस सीमा से बढ़ने में रोक देंगी। प्रोफेसर कोलिन क्लार्क के अनुसार यह निरपेक्ष कर-दान क्षमता की सीमा है। परन्तु जिन परिकल्पनाओं पर यह आधारित है वे अवास्तविक हैं अतः कुल राष्ट्रीय आय की २५% कर-दान क्षमता की सीमा कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं करती।

सापेक्ष्य कर-दान क्षमता. सापेक्ष्य कर-दान क्षमता का सम्बोध अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट है। यहाँ पर कर-दान क्षमता का अर्थ होता है विभिन्न देशों अथवा एक देश के विभिन्न राज्यों की सामान्य व्यय में योग देने की क्षमता जिसके द्वारा सबका लाभ होता है। यदि हम राज्य के करदाताओं में कर के भार के अनुभाजन पर विचार करते हैं तब उनसे कर प्राप्त करने की सही तथा वैज्ञानिक विधि करारोपण के सिद्धान्त के अनुरूप होगी। इसी प्रकार जब हम अनेक राष्ट्रों पर विचार करते हैं तब सामान्य व्यय के अर्थ-संचालन की सापेक्ष्य कर-दान क्षमता उनकी सापेक्षिक योग्यताओं द्वारा होगी जिसका

अर्थ यह हुआ कि सामान्य व्यय का अर्थ संचालन इस प्रकार से होना चाहिए जिससे उनकी सीमान्त उपयोगितायें समान हों। केवल इसी परिस्थिति में इन समाजों का कुल सामूहीकृत त्याग न्यूनतम होगा। डाल्टन के मतानुसार भी सापेक्ष्य कर-दान क्षमता को एक बोधगम्य अर्थ दिया जा सकता है तथा कुछ आधारभूत सिद्धान्तों को निश्चित किया जा सकता है जिनके अनुसार दो या दो से अधिक व्यक्तियों में भुगतान करने की योग्यता के आधार पर कर के भारों का विभाजन हो सके। इसी प्रकार के सिद्धान्त का प्रयोग दो या दो से अधिक समाजों में सामान्य व्यय के भार वहन के लिए भी किया जा सकता है। हम भुगतान करने की क्षमता को कर-दान क्षमता भी कह सकते हैं, परन्तु वास्तविक समस्या अपरिवर्तित ही रहती है।

किसी राष्ट्र की सापेक्ष्य कर-दान क्षमता अनेक बातों पर आधारित है, जैसे (१) कुल राष्ट्रीय लाभांश; (२) इस लाभांश का वितरण; (३) देश में व्यक्तियों की संख्या; (४) उनका जीवन स्तर; (५) लोगों का जीवन के प्रति रुख; (६) लगाये गए करों का स्वरूप तथा उनके लगाये जाने एवं एकत्रित करने की विधि; (७) लोगों को सरकारी व्यय द्वारा प्राप्त हुआ लाभ; (८) सार्वजनिक हित के लिए कर लगाने तथा सार्वजनिक आय को व्यय करने वाली सरकार की प्रशासनात्मक कुशलता।

"कर-दान क्षमता देश-देश तथा समय-समय में बदलती रहती है। यह परिवर्तन राष्ट्रीय आय, जनसंख्या, समय तथा व्यक्तियों में राष्ट्रीय आय का वितरण, एवं सामाजिक तथा सामूहिक आधार पर सेवाएं प्रदान करने के क्षेत्र पर आधारित हैं। ज्यों-ज्यों इनका क्षेत्र बढ़ता जाता है त्यों-त्यों राज्य कर की मात्रा में वृद्धि करके अधिक व्यय कर सकता है। यह राज्य की प्रशासनात्मक कुशलता पर भी आधारित है। एक अकुशल राज्य बुद्धिमत्ता से व्यय करने तथा न्यायोचित ढंग से कर प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। यदि करों की प्राप्ति करारोपण के सिद्धान्त के अनुसार तथा व्यय को सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त के अनुसार किया जाता है तब राज्य अधिक मात्रा में कर की प्राप्ति तथा अधिक मात्रा में व्यय कर सकने में समर्थ रहता है। ऐसा वह अन्य प्रकार से नहीं कर सकता। इसमें यह निहित है कि लोग एक प्रकार के कर स्तर का वहन एक ही प्रकार की परियोजना में कर सकते हैं, अन्य प्रकार से नहीं—ठीक वैसे ही जैसे एक प्रकार के कर को प्राप्त केवल एक ही प्रकार के व्यय की परियोजना के अन्तर्गत किया जा सकता है, अन्य प्रकार से नहीं।"

अध्याय १८

हीनार्थ प्रबन्धन
(Deficit Financing)

आधुनिक युग में, विशेषतया लॉर्ड केन्स द्वारा प्रतिपादित नवीन विचार-धाराओं के कारण, सन्तुलित बजट[1] का महत्व बहुत कुछ कम हो गया है। फिर भी, राज्य का वास्तविक उद्देश्य उपलब्ध संसाधनों का पूर्ण अथवा अधिकांश विकास करना होता है तथा ऐसी स्थिति को काफी समय तक बनाये रखना होता हैं। इसका अर्थ यह है कि आवश्यकता पड़ने पर राज्य को राष्ट्रीय प्रदा तथा आय में वृद्धि एवं पूर्ण वृत्ति की स्थिति प्राप्त करने के लिए हीनार्थ प्रबन्धन भी करना पड़ता है।

परिभाषा. हीनार्थ प्रबन्धन का अर्थ उस स्थिति से होता है जब कि सरकार के आय तथा पूँजी बजट दोनों को मिलाकर कुल परिव्यय इन बजटों के कुल संसाधनों से अधिक हो जाता है। इस प्रकार हीनार्थ प्रबन्धन का अर्थ होता है सरकार को उपलब्ध सभी संसाधनों, जैसे कर आय, व्यावसायिक सेवाओं से प्राप्त आय, सार्वजनिक ऋण, अल्प बचत, सम्भरण निधि (provident fund) तथा अन्य सेवाओं, से प्राप्त आय को मिला कर सरकारी वित्त में कमी। हीनार्थ प्रबन्धन के सिद्धान्त की व्याख्या करने के पूर्व यह आवश्यक है कि हीनार्थ प्रबन्धन तथा इससे कुछ मिलती जुलती अन्य प्रविधियों के अन्तर को स्पष्ट कर लेना चाहिये।

अन्य प्रविधियों से तुलना

हीनार्थ बजटीकरण. हीनार्थ बजटीकरण का अर्थ उस स्थिति से होता है जब सरकार चालू आय की सीमा से अधिक आय लेखे पर अतिरिक्त व्यय करने के लिए बजट बनाती है। "उन देशों में जहाँ कुछ स्थूल तथा अस्पष्ट अन्तर सरकारी बजटों में चालू तथा पूँजी मदों में किया जाता है (चाहे उनका वर्गीकरण

---

१. परम्परागत सिद्धान्त के अनुसार राजवित्त का उपयुक्त नियम यह है कि बजट को सन्तुलित रखा जाये। सामान्यतः सन्तुलित बजट वह होता है जिसमें राज्य का व्यय ऋण के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से प्राप्त आय के बराबर हो। अन्य शब्दों में, सन्तुलित बजट वह है जिसमें कोई सार्वजनिक ऋण न हो। फिर भी परम्परागत सिद्धान्त कुछ प्रकार के व्ययों के अर्थ-प्रबन्धन को ऋण द्वारा करने की अनुमति देता है।

आय तथा पूँजी, सामान्य तथा असाधारण, सीमा से अधिक तथा सीमा से कम के रूप में किया जाये) वहाँ पर हीनार्थ बजट का परम्परागत अर्थ होता है चालू आय में (अथवा उससे सम्बन्धित किसी भी प्रकार के लेखे में) हुई कमी। अतः हीनार्थ बजटीकरण को हीनार्थ प्रबन्धन से सम्भ्रमित नहीं कर देना चाहिए। हमें इस बात को स्पष्टतया समझ लेना चाहिए कि यद्यपि हीनार्थ प्रबन्धन तथा हीनार्थ बजटीकरण दोनों का उद्देश्य एक ही है, यथा सार्वजनिक व्यय के लिए अतिरिक्त संसाधनों की प्राप्ति करना; फिर भी दोनों में अन्तर है। हीनार्थ बजटीकरण केवल सरकार के आय बजट से सम्बन्धित है जबकि हीनार्थ प्रबन्धन आय तथा पूँजी दोनों बजटों से सम्बन्धित है। हीनार्थ प्रबन्धन में निहित प्रमुख विचार यह है कि ऐसे निश्चित समय में (बहुधा १ वर्ष) जनता तथा सरकार दोनों का कुल परिव्यय मिलाकर अर्थव्यवस्था में उपलब्ध कुल वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति से अधिक हो, परन्तु हीनार्थ बजटीकरण में इस प्रकार की तुलना निहित नहीं है।

कुछ देशों में, मुख्यतया संयुक्त राज्य अमेरिका में, जहाँ पर यद्यपि सरकार की आय तथा पूंजी बजट में अन्तर किया जाता है, परन्तु वहाँ हीनार्थ प्रबन्धन का प्रयोग उसी आशय में किया जाता है जिस आशय में हीनार्थ बजटीकरण का। परन्तु इन दोनों में अन्तर करना अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है। हीनार्थ बजटीकरण को उस स्थिति तक सीमित रखना चाहिए जिसमें सार्वजनिक व्यय सार्वजनिक आय से अधिक होता है परन्तु राज्य अपने घाटे की पूर्ति सार्वजनिक ऋण अथवा अल्प-बचत इत्यादि के द्वारा कर पाता है तथा अतिरिक्त संसाधनों को एकत्रित करने में समर्थ हो पाता है। तथा हीनार्थ प्रबन्धन से आशय उस स्थिति से होना चाहिए जब सार्वजनिक व्यय सार्वजनिक आय से अधिक हो जाता है तथा राज्य इस कमी की पूर्ति 'सृजित मुद्रा' की सहायता से या तो केन्द्रीय बैंक द्वारा उपयोजन (accommodation) प्राप्त कर अथवा अतिरिक्त पत्र मुद्राओं को छापकर करता है। इस प्रकार के अन्तर का एक आधार है। कर, सार्वजनिक ऋण, अल्प-बचत, तथा सरकारी उद्योगों के अतिरेकों द्वारा प्राप्त की गई आय में किसी न किसी प्रकार से केवल इतना ही होता है कि जनता से क्रय शक्ति का हस्तान्तरण सरकार को हो जाता है तथा इस सीमा तक सम्बन्धित वस्तुओं और सेवाओं (कुल राष्ट्रीय प्रदा में से) का प्रयोग अब जनता के स्थान पर सरकार द्वारा किया जाता है। इसके विपरीत हीनार्थ प्रबन्धन की स्थिति में सृजित मुद्रा द्वारा संचालित सरकारी परिव्ययों के पीछे इस प्रकार की कोई वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति नहीं होती। यह न केवल 'सामाजिक लेखा' के लिए वरन् आर्थिक विकास की प्रक्रिया के लिए भी एक महत्वपूर्ण अन्तर प्रस्तुत करता है।

कार्यात्मक वित्त (functional finance). कार्यात्मक वित्त में सरकार न केवल ऐसे परिव्ययों को करती है जिनका वर्तमान में प्रयोग शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई तथा लोगों के हित में की गई अन्य सेवाओं के लिए किया जाता है वरन् वह अपने कार्यों के राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था पर पड़े हुए दीर्घकालीन प्रभावों को भी ध्यान में रखती है। "क्योंकि ध्यान इस बात पर दिया जाता है कि राष्ट्र पर कैसी प्रतिक्रिया होती है तथा वह किस प्रकार कार्य करता है अतः यह ठीक ही कार्यात्मक वित्त कहा जाता है।

यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि अपने चरम रूप में कर केवल इसी लिए नहीं लगा देना चाहिए कि सरकार को भुगतान करने के लिए मुद्रा की आवश्यकता है, तथा सरकार को ऋण केवल उसी समय लेना चाहिए जब यह वांछनीय समझा जाये कि जनता के पास मुद्रा कम तथा सरकारी बाण्ड अधिक हो। करारोपण तथा ऋण लेने के सम्बन्ध में निर्णय व्यापक आर्थिक प्रभावों को दृष्टि में रखकर करना चाहिए न कि केवल अपनी क्रियाओं को करने के लिए सरकार की आय प्राप्त करने की इच्छा द्वारा। नवीन विचार धारा के अनुसार यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि सरकार अपने वार्षिक बजट को सन्तुलित रखे ही। अर्थ-व्यवस्था में प्रसार अथवा संकुचन लाने के लिए बजटों को जान-बूझकर असन्तुलित किया जा सकता है।

अतः कार्यात्मक वित्त का हीनार्थ प्रबन्धन से स्पष्ट भेद कर लेना चाहिए। वास्तव में जिस आशय में हम ने हीनार्थ प्रबन्धन का अर्थ लिया है उस आशय में यह क्रियात्मक वित्त के लिए आवश्यक नहीं है; केवल हीनार्थ बजटीकरण ही इसके लिए पर्याप्त है। इन दोनों में जो सामान्य बात है वह यह है कि इन दोनों का उद्देश्य आर्थिक विकास की दर को तीव्र करना है। यहाँ इस बात को भी व्यक्त कर देना चाहिए कि अपने बढ़े हुए विकासात्मक परिव्ययों के लिए राज्य न केवल हीनार्थ बजटीकरण वरन् हीनार्थ प्रबन्धन का भी आश्रय ले सकता है। अतः कार्यात्मक वित्त तथा हीनार्थ प्रबन्धन में कोई असंगति नहीं है।

सृजित मुद्रा द्वारा अर्थ प्रबन्धन. जैसा कि इस पुस्तक के ८वें अध्याय में विस्तार के साथ समझाया जा चुका है, व्यापारिक बैंकों को साख सृजन करने का अधिकार होता है। हम ने वहाँ जो उदाहरण लिया था उसमें लोगों ने व्यापारिक बैंकों के पास ३०० करोड़ रुपये नक़द निक्षेप के रूप में रखा था। इसके परिणाम-स्वरूप यह बैंक ३००० करोड़ रुपये की कुल मात्रा ऋण दे सके, जिसमें से २७०० करोड़ रुपया 'सृजित मुद्रा' थी। यदि बैंक लोगों को केवल ३०० करोड़ रुपया ही

ऋण देते तब अर्थव्यवस्था में ऋण ली गई मुद्रा के पीछे केवल इतने के बराबर ही वस्तुएँ और सेवायें उपलब्ध होतीं तथा जो लोग इसका व्यय करते वही इन वस्तुओं और सेवाओं का प्रयोग करते, न कि वे व्यक्ति जिन्होंने रुपया बैंक में जमा किया है। परन्तु यदि बैंक २,७०० करोड़ रुपये सृजित मुद्रा में से ऋण देते तब बाजार में इसके बराबर वस्तुएँ और सेवायें उपलब्ध नहीं होतीं। इतनी बात हीनार्थ प्रबन्धन तथा सृजित मुद्रा द्वारा अर्थ प्रबन्धन में समान रूप से पाई जाती है तथा इन दोनों स्थितियों में व्यय के पीछे समान वस्तुएँ और सेवाएँ उपलब्ध नहीं होतीं। परन्तु इसके अतिरिक्त ये दोनों बिल्कुल भिन्न हैं। जब राज्य कुल आय तथा कुल व्यय के असन्तुलन को दूर करने के लिए लोगों से ऋण लेता है तब लोगों द्वारा ऋण या तो उनकी बचत द्वारा अथवा सृजित मुद्रा द्वारा दिया जा सकता है। यदि वे ऋण को अपनी बचत से देते हैं तब यह स्पष्ट रूप से हीनार्थ बजटीकरण की स्थिति होगी, हीनार्थ प्रबन्धन की नहीं क्योंकि अर्थव्यवस्था का कुल व्यय उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा से अधिक नहीं होता। हीनार्थ प्रबन्धन की स्थिति केवल उसी समय होगी जब लोग सृजित मुद्रा से ऋण देते हैं क्योंकि उस स्थिति में कुल व्यय उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा से अधिक हो जाता है।

वास्तविक व्यवहार में यह पता लगाना अत्यन्त कठिन तथा असम्भव है कि सरकार के ऋण का कितना अनुपात लोगों की बचत द्वारा तथा कितना सृजित मुद्रा द्वारा दिया गया है। "ऐसा प्रतीत होता है कि इस कठिनाई को दूर करने का केवल यही उपाय है कि सरकारी प्रतिभूतियों के सम्बन्ध में जनता की वास्तविक आत्मसात क्षमता (absorptive capacity) का अनुमान किया जाये तथा सरकार द्वारा बेची गई अतिरेक प्रतिभूतियों का (जो अतिरेक बैंकों द्वारा ले लिया जाता है) प्रयोग सरकारी व्ययों के अर्थ संचालन के लिए किया जाता है जो हीनार्थ प्रबन्धन के बराबर होता है। यहाँ पर वास्तविक आत्मसात क्षमता से आशय सरकारी प्रतिभूतियों को उस मात्रा से है जिसे जनता के अपने पास स्थायी आधार पर—अर्थात उन आत्मसात को छोड़कर जो सामयिक अथवा अन्य अस्थायी कारणों द्वारा उत्पन्न होते हैं—रखने की सम्भावना है"। परन्तु यह एक सन्तोषजनक समाधान नहीं है तथा कठिनाई को दूर करने में 'वास्तविक आत्मसात क्षमता' के सम्बोध का कोई व्यवहारिक महत्व नहीं है। यह इस बात को प्रदर्शित करता है कि सार्वजनिक ऋण के उस अनुपात का पता लगाना सम्भव नहीं है जो वास्तव में सृजित मुद्रा द्वारा अर्थ संचालित होता है, तथा इस प्रकार हीनार्थ प्रबन्धन का रूप ग्रहण कर सकता है।

हीनार्थ प्रबन्धन की आवश्यकता. सामान्य परिस्थितियों में हीनार्थ प्रबन्धन आवश्यक नहीं होना चाहिए। सरकार को अपने व्ययों की पूर्ति करारोपण अथवा यदि कर पर्याप्त नहीं होता और बजट में एक अस्थायी घाटा हो जाता है, तब कर तथा ऋणों द्वारा करना चाहिए। अतः सामान्य परिस्थितियों के अन्तर्गत कभी कभी हीनार्थ बजटीकरण आवश्यक हो सकता है; हीनार्थ प्रबन्धन नहीं। कुछ विशेष परिस्थितियां होती हैं जिनमें हीनार्थ प्रबन्धन आवश्यक हो जाता है:

(१) हीनार्थ प्रबन्धन युद्ध सदृश कुछ संकटकालीन परिस्थितियों में आवश्यक हो जाता है। ऐसी परिस्थितियों में राज्य को युद्ध संचालन करने के लिए अतिरिक्त कर तथा ऋणों द्वारा पर्याप्त आय प्राप्त करना सम्भव नहीं होता। इसका कारण अंशतः तो यह है कि जनता की कर देने तथा ऋण प्रदान करने की क्षमता सीमित होती है, तथा अंशतः यह है कि कर लगाने तथा उसे एकत्रित करने और सार्वजनिक ऋण प्राप्त करने के लिए पर्याप्त समय नहीं रहता। ऐसी परिस्थिति में राज्य या तो अधिक नोट छाप कर या केन्द्रीय बैंक से विधि तथा साधन अग्रिमों (ways and means advances) को लेकर, अथवा केन्द्रीय बैंक को कोष बिलों (treasury bills) को बेच कर, हीनार्थ प्रबन्धन कर सकती है। इस प्रकार का हीनार्थ प्रबन्धन बिल्कुल उचित है चाहे इसका कुछ भी परिणाम क्यों न हो, क्योंकि इसके अभाव में राज्य की सुरक्षा संकट में पड़ सकती है।

(२) आर्थिक विकास की दर तीव्रतर करने तथा पूर्ण वृत्ति की स्थिति लाने के लिए कभी-कभी हीनार्थ प्रबन्धन करना आवश्यक हो जाता है। भारत जैसे अर्ध विकसित देश में प्रति व्यक्ति आय कम होने के कारण लोगों के कर देने तथा सरकार को ऋण प्रदान करने की क्षमता अत्यन्त कम है। यदि सरकार अपने व्यय के लिए कर द्वारा प्राप्त आय पर आश्रित रहती है तब कोई विकासात्मक परियोजानाएं अधिक मात्रा में संचालित नहीं की जा सकेंगी। यदि सरकार हीनार्थ बजटीकरण का आश्रय ग्रहण करती है तथा अपने व्यय और आय के अन्तर की पूर्ति लोगों से ऋण लेकर करती है, तब वह केवल सीमित विकासात्मक परियोजनाओं को ही संचालित कर सकती है क्योंकि सरकारी ऋणों को प्रदान करने की लोगों की क्षमता अत्यन्त न्यून होती है। ऐसी स्थिति में हीनार्थ प्रबन्धन ही एक ऐसी व्यवहारिक विधि है जिससे देश का तीव्र आर्थिक विकास तथा पूर्ण वृत्ति की दशा लाई जा सकती है।

सभी संसाधनों की पूर्ण वृत्ति को प्राप्त करने से सम्बन्धित जो दूसरी महत्वपूर्ण बात है वह है प्रभावपूर्ण मांग। सभी आर्थिक संसाधनों की पूर्ण वृत्ति प्राप्त

करने की प्रक्रिया यह है कि वस्तुएं उत्पादित हों, बिकें तथा पुनर्उत्पादित हों जब तक सभी संसाधनों का पूर्ण प्रयोग न हो जाय। परन्तु केन्सीय अर्थशास्त्र के अनुसार (अ) लोग अपनी कुल आय का व्यय वर्तमान उपभोग पर नहीं करते, अर्थात लोगों की सीमान्त-उपभोग प्रवृति (marginal propensity to consume) १ से कम होती है; तथा (ब) लोगों की आय में वृद्धि के साथ सीमान्त-उपभोग-प्रवृति कम हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि आर्थिक विकास की दर कम हो जाती है।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए सरकार के लिए यह आवश्यक है कि वह विकासात्मक परियोजनाओं पर व्यय करे जिससे लोगों की आय में वृद्धि हो जाय तथा सीमान्त-उपभोग-प्रवृत्ति १ से कम होने पर भी समर्थ माग (effective demand) बढ़कर उस सीमा तक पहुँच जाय जिससे पूर्ण वृत्ति की अवस्था हो जाय। विकासात्मक परियोजनाओं पर व्यय करने के लिए सरकार को हीनार्थ बजटीकरण का आश्रय लेना सम्भव है तथा अपनी कुल आय तथा कुल व्यय के अन्तर को पूरा करने के लिए वह लोगों से ऋण भी ले सकती है। चूँकि आर्थिक विकास की प्रक्रिया में समय-बिलम्ब होता है, तथा सार्वजनिक ऋण से केवल सीमित मात्रा में ही आय प्राप्त की जा सकती है, अतः हीनार्थ बजटीकरण प्रभावपूर्ण मांग को उस सीमा तक बढ़ा सकने में समर्थ नहीं होता जिससे पूर्ण वृत्ति की दिशायें लाई जा सकें तथा वे काफी समय तक स्थिर रह सकें। अतः हीनार्थ प्रबन्धन विकासात्मक योजनाओं पर पर्याप्त मात्रा में उँचे स्तर तक सार्वजनिक व्यय करने, गुणक प्रक्रिया (multiplier process) द्वारा लोगों की आय में वृद्धि करने, तथा परिणाम स्वरुप प्रभावपूर्ण मांग में इस सीमा तक वृद्धि करने में सहायक होता है जिससे श्रम तथा अन्य आर्थिक संसाधनों को पूर्ण आर्थिक वृत्ति की अवस्था में लाया जा सके। इस उद्येश्य के लिए हीनार्थ प्रबन्धन पूर्ण तथा उचित है क्योंकि इसके द्वारा ही आर्थिक विकास की दर में पर्याप्त वृद्धि इस दर तक की जा सकती है जिससे पूर्ण वृत्ति की दिशायें लाई जा सकें तथा अर्थव्यवस्था को इस स्तर तक रखा जा सके।

(३) यदि लोग कर तथा ऋण देने के लिए रुचिकर नहीं होते तब सरकार के लिए यह राजनीतिक दृष्टि से उचित नहीं होता कि वह उन्हें वैसा करने के लिएं बाध्य करे। या तो चुनाव निकट रहने के कारण अथवा कोई ऐसा राष्ट्रीय संकटकालीन समय होने पर जिसमें सरकार अतिरिक्त करों को लगा कर जनता का कोपभाजन नहीं बनना चाहती हो तथा सार्वजनिक ऋण प्राप्त करने के लिए उपयुक्त स्थिति न होने पर सरकार अपनी कुल आय तथा कुल व्यय के अन्तर को पूरा करने के लिए हीनार्थ प्रबन्धन कर सकती है। इस प्रकार का हीनार्थ प्रबन्धन पूर्ण रूप से अनुचित है।

स्फीतिक सम्भाव्यता. हीनार्थ प्रबन्धन लोगों की मौद्रिक आय, तदनुसार उनकी क्रयशक्ति, में वृद्धि करता है। यदि अर्थ व्यवस्था में वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति उतनी अधिक तीव्र गति से नहीं होती जितनी तेजी से लोगों की आय में वृद्धि होती है, तब इसके परिणाम स्वरूप मूल्य स्तर में स्फीतिक वृद्धि हो जायेगी। यहाँ इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि कठिनाई का वास्तविक कारण मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि नहीं वरन् लोगों की क्रयशक्ति में वृद्धि होना है। हीनार्थ प्रबन्धन के परिणाम स्वरूप मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि अधिक नोटों के छाप देने, सरकार के नक़द शेष में कमी कर देने अथवा केन्द्रीय बैंक से कोष बिलों अथवा विधि एवं साधन अग्रिमों के आधार पर ऋण लेने के कारण होती है। परन्तु यदि हीनार्थ प्रबन्धन से कुल मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि न भी होने दी जाय तब भी इसके परिणाम स्वरूप लोगों की क्रयशक्ति में वृद्धि होगी ही। मानलीजिए हम एक ऐसी काल्पनिक स्थिति लेते हैं जिसमें केन्द्रीय बैंक खुले बाजार की क्रियाओं द्वारा १०० करोड़ रुपये परिचलन से हटा लेता है जब कि हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा भी १०० करोड़ रुपये के बराबर अति-रिक्त मुद्रा का सृजन होता है। इस स्थिति में यद्यपि अर्थ व्यवस्था में मुद्रा की कुल मात्रा की पूर्ति में वृद्धि नहीं हुई है, फिर भी कीमतों में स्फीतिक वृद्धि हो सकती है क्योंकि लोगों की क्रय-शक्ति तथा वस्तुओं की मांग में वृद्धि हो जाती है जब कि बाजार में वस्तुओं की पूर्ति नहीं बढ़ती। अतः हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा उत्पन्न हुई कीमतों में स्फीतिक वृद्धि का प्रमुख कारण मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि नहीं वरन् लोगों की क्रय-शक्ति में वृद्धि है।

यदि सरकार अपने व्ययों का संचालन हीनार्थ प्रबन्धन के स्थान पर अतिरिक्त करों अथवा सार्वजनिक ऋणों द्वारा करती है तब व्यय किए गए रुपये की प्रत्येक इकाई के पीछे समान वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा होगी क्योंकि कर देने वाले अथवा ऋण प्रदान करने वाले व्यक्तियों के स्थान पर अब सरकार लोगों की मौद्रिक आय के बराबर वस्तुओं का क्रय करेगी। परन्तु हीनार्थ प्रबन्धन की स्थिति में वस्तुओं की पूर्ति में समान वृद्धि नहीं होती और हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा हुई लोगों की क्रय-शक्ति में वृद्धि का निश्चित परिणाम यह होता है कि बाजार में उपलब्ध वस्तुओं की पूर्ति की अपेक्षा मांग में अधिक वृद्धि हो जाती है तथा कीमतों में स्फी-तिक वृद्धि होने लगती है।

परन्तु यदि हीनार्थ प्रबन्धन उचित सीमा के भीतर ही किया जाता है तब इसके लिए स्फीतिक होना आवश्यक नहीं है। इस स्थिति में कीमतों में वृद्धि अस्थायी हो सकती है, निरन्तर तथा अधिक नहीं जो स्फीतिक वृद्धि कही जाती हैं। केवल अत्यधिक हीनार्थ प्रबन्धन ही स्फीतिक होता है। औसतन लोग अपनी आय

का अधिक भाग बचा कर रखते हैं, तथा सरकार, उद्योग और अन्य व्यक्तियों को जो तुरन्त व्यय करते हैं, कम ऋण देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि अर्थ व्यवस्था में वस्तुओं की कुछ पूर्ति अप्रयुक्त रह जाती है जो बचत करने और ऋण देने की मात्रा के अन्तर के बराबर होती है। यदि हीनार्थ प्रबन्धन इस अन्तर के बराबर है तब इसका स्फीतिक होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि इसके द्वारा उत्पन्न की गई अतिरिक्त क्रय-शक्ति के बराबर अर्थ व्यवस्था में वस्तुओं की अतिरिक्त पूर्ति हो जाती है। जब हीनार्थ प्रबन्धन इस सीमा से अधिक किया जाता है तभी यह स्फीतिक होता है। दूसरे, यदि हीनार्थ प्रबन्धन के परिणाम स्वरूप अल्पकालीन परियोजनाओं पर व्यय किया जाता है जिससे वस्तुओं का शीघ्र उत्पादन हो जाता है तब बढ़ी हुई क्रय शक्ति का सन्तुलन वस्तुओं की वृद्धि से हो जाता है। फिर भी, हीनार्थ प्रबन्धन उस समय स्फीतिक होता है जब सरकार द्वारा किए गए मुद्रा के विनियोग तथा परिव्यय की गई योजनाओं से हुए वस्तुओं के उत्पादन में अत्यधिक समय विलम्ब रहता है अथवा जब परियोजनाएँ इस प्रकार की होती हैं जिनसे वस्तुओं के उत्पादन में तो वृद्धि नहीं होती वरन् अन्य उद्योगों को सहायता पहुँचती है। अन्त में, हीनार्थ प्रबन्धन के लिए स्फीतिक होना उस दशा में आवश्यक नहीं है जब देश में काफी विदेशी विनिमय संग्रहित रहता है अथवा देश बिना भय के भुगतान संतुलन का घाटा सहन कर सकता है जिससे लोगों की बढ़ी हुई क्रय-शक्ति का समतोलन आयात की गई वस्तुओं से किया जा सके।

परन्तु वास्तविक व्यवहार में, विशेषतः आर्थिक दृष्टि से अर्धविकसित देश में, इन सभी सुरक्षणों का अभाव होता है। आर्थिक दृष्टि से अर्धविकसित देश सदा ऐसी स्थिति में नहीं होते जिससे कृषि तथा उद्योग पदार्थों की पूर्ति में तीव्र गति से पर्याप्त वृद्धि हो सके क्योंकि इन देशों में मशीन की कमी, प्राविधिक निपुणता, परिवहन सुविधाओं तथा अधिक प्रदा के उपयुक्त संगठनों के अभाव सदृश अनेक गत्यवरोध पाये जाते हैं। आर्थिक विकास की प्रक्रिया में आर्थिक दृष्टि से अर्धविकसित देश को बहुधा प्रतिकूल भुगतान संतुलन का सामना करना होता है तथा वे हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा हुई लोगों की क्रय शक्ति में वृद्धि का समतोलन पर्याप्त मात्रा में उपभोग तथा अन्य वस्तुओं के आयात द्वारा कर सकने में असमर्थ होते हैं। इसी कारण से हीनार्थ प्रबन्धन, विशेषकर अर्धविकसित देशों में, अधिक स्फीतिक होता है।

मूल्यों में स्फीतिक वृद्धि रोकने के उपाय. क्या हीनार्थ प्रबन्धन से उत्पन्न हुई कीमतों की स्फीतिक वृद्धि को रोका जा सकना सम्भव है? क्या कीमतों में हुई स्फीतिक वृद्धि के प्रतिकूल प्रभावों को सुधारा नहीं जा सकता? इसके लिए अनेक उपाय बतलाये गये हैं।

(१) एक विधि तो यह है कि केन्द्रीय बैंक परिचलन से मुद्रा की मात्रा कम कर ले तथा हीनार्थ प्रबन्धन से अर्थ व्यवस्था में हुए स्फीतिक प्रभावों को कम करने के लिए निजी क्षेत्र में साख के प्रसार पर नियन्त्रण रखे। यह उपाय इस परिकल्पना पर आधारित है कि अर्थ-व्यवस्था में मुद्रा के अधिक परिचलन होने के कारण स्फीति होती है। परन्तु, जैसा कि हमने ऊपर देखा है, मुद्रा की अधिक पूर्ति नहीं वरन् हीनार्थ प्रबन्धन द्वारा उत्पन्न हुई वस्तुओं और सेवाओं की अपेक्षा लोगों की क्रय शक्ति में अधिक वृद्धि ही कीमतों की स्फीतिक वृद्धि का वास्तविक कारण है। यदि केन्द्रीय बैंक लोगों की क्रय शक्ति में समान कमी किए बिना मुद्रा की पूर्ति में कमी करता है तब यह सम्भवतः कीमतों में हुई स्फीतिक वृद्धि को नहीं रोक सकता। यदि हीनार्थ प्रबन्धन के परिणाम स्वरूप लोगों की मौद्रिक आय में वृद्धि होती जाती है तथा केन्द्रीय बैंक मुद्रा की पूर्ति घटा देता है तब इसका परिणाम इतना ही होगा कि लोगों की असुविधायें बढ़ जायेंगी तथा मौद्रिक कठिनाइयों के कारण उद्योगों को अपना उत्पादन बढ़ाने में रुकावट होगी। इस प्रकार की परिस्थिति में, जब हीनार्थ प्रबन्धन सतत लोगों की आय में वृद्धि कर रहा हो, तब केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा की पूर्ति में कमी करने का परिणाम यह होगा कि कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन कम होने लगेगा तथा स्थिति और भी कष्टपूर्ण हो जायेगी।

केन्द्रीय बैंक द्वारा कुल मुद्रा की पूर्ति में कमी कीमतों में हुई स्फीतिक वृद्धि को रोकने में तभी सहायक सिद्ध हो सकती है जब (अ) यह सफलता पूर्वक लोगों की क्रय शक्ति को कम कर देती है तथा बाजार में माँग पर भार कम हो जाता है; (ब) यह उत्पादकों के लिए बैंक वित्त की पूर्ति में कमी न करे जिससे उत्पादन को धक्का न लगे; तथा (स) हीनार्थ प्रबन्धन इतनी अधिक तीव्र दर से नहीं किया जाय कि मुद्रा की पूर्ति में संकुचन करके भी लोगों की क्रय शक्ति में कमी न की जा सके।

(२) यह सुझाव दिया गया है कि मूल्य नियन्त्रण और राशनिंग का प्रयोग हीनार्थ प्रबन्धन के परिणामस्वरूप स्फीतिक वृद्धि से उत्पन्न कठिनाइयों को कम करने के लिये किया जा सकता है। परन्तु मूल्य नियन्त्रण तथा राशनिंग तो अस्थायी कठिनाइयों को दूर करने तथा विभिन्न उपभोक्ताओं में उपलब्ध वस्तुओं के समुचित वितरण करने के लिये किये जाते हैं। इनका प्रयोग हीनार्थ प्रबन्धन की उन कठिनाइयों को दूर करने के लिये सम्भवतः नहीं किया जा सकता जो लोगों की आय में अनवरत वृद्धि करती हैं जिससे उनकी क्रय शक्ति बढ़ जाती है जबकि समान रूप से वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति में वृद्धि नहीं होती। मूल्य नियन्त्रण तथा राशनिंग हीनार्थ प्रबन्धन की प्रचन्ड शक्तियों का सामना करने के लिये पर्याप्त नहीं होते जो अर्थ

व्यवस्था को, जहाँ तक माँग और पूर्ति का संबन्ध है, सदा अस्त व्यस्त कर देते हैं। वास्तव में मूल्य नियन्त्रण तथा राशनिंग का प्रभाव तो अपने उद्देश्य के विपरीत हो सकता है यदि इनसे संचय तथा चोर बाजारी को, जैसा कि बहुधा होता है, प्रश्रय मिलता है क्योंकि ऐसी परिस्थिति में बाजार में उपलब्ध वस्तुओं की पूर्ति में और भी कमी हो जाती है तथा चोर बाजारी से वस्तुओं के मूल्य में और भी अधिक वृद्धि हो जाती है।

(३) हीनार्थ प्रबन्धन की स्फीतिक सम्भाव्यता को रोकने की सबसे प्रभावपूर्ण विधि है कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि करना। बढ़ा हुआ उत्पादन अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से उपभोक्ताओं की बढ़ी हुई क्रय शक्ति को समतोलित करने में समर्थ होता है तथा कीमतों की स्फीतिक वृद्धि को रोक सकता है। परन्तु, जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, विशेषतः आर्थिक दृष्टि से अर्धविकसित देश में, कृषि तथा औद्योगिक पदार्थों की पूर्ति में शीघ्रतापूर्वक पर्याप्त वृद्धि कर हीनार्थ प्रबन्धन के प्रतिकूल प्रभावों को दूर किया जा सकना सरल कार्य नहीं होता।

हीनार्थ प्रबन्धन के स्फीतिक सम्भाव्यता को रोकने के दो वास्तविक उपाय हैं। (१) विकासात्मक व्ययों का सन्तुलन इस प्रकार से किया जाय जिससे अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों परियोजनाओं पर पर्याप्त ध्यान दिया जा सके तथा अतिरिक्त व्यय का अधिक अनुपात ऐसी परियोजनाओं पर किया जाय जो ऐसे संसाधनों द्वारा पूरी की जा सकती हैं जो देश में उपलब्ध हों तथा जो अल्पकाल में ही उत्पादन वृद्धि करने में सहायक हो सकती हों। वास्तव में, उपभोक्ताओं को उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा में वृद्धि ही हीनार्थ प्रबन्धन के स्फीति प्रभावों को रोक सकती है अथवा उसमें काफी कमी कर सकती है। (२) हीनार्थ प्रबन्धन सुरक्षित सीमा (safe limit) के भीतर ही करना चाहिये। सुरक्षित सीमा, राष्ट्रीय आय और प्रदा के स्तर, तथा उसका वितरण, बचत एवं विनियोग की मात्रा, उत्पादन का स्वरूप तथा संगठन और मूल्य स्थिति पर आधारित है। यह अनेक परिवर्तनशील दशाओं पर आधारित है जो देश-देश तथा समय-समय पर बदलती रहती हैं। हीनार्थ प्रबन्धन की सुरक्षित सीमा वह होगी जो कीमत स्तर में सतत तथा इतनी तीव्र वृद्धि उत्पन्न नहीं कर देती कि जिसे स्फीति कहा जाय।

अध्याय १९

सार्वजनिक ऋण

(Public Debt)

सार्वजनिक ऋण राज्य द्वारा लिया गया वह ऋण है जिसे राज्य अपने आय और व्यय की विच्छित्तियों (gaps) को पूरा करने के लिये लेता है। आधुनिक युग में, चूँकि किसी भी राज्य की आय उसके कुल व्यय के लिये पर्याप्त नहीं होती, इसलिए राजस्व में सार्वजनिक ऋण एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

निजी-ऋण से तुलना. अपनी आय और व्यय की विच्छित्तियों को पूरा करने के लिये राज्य और व्यक्ति दोनों ऋण लेते हैं परन्तु निजी ऋण तथा सार्वजनिक ऋण में कुछ महत्वपूर्ण अन्तर होते हैं।

(१) निजी ऋणग्रस्तता में सदा एक प्रकार की असहमति रहती है। अपने वर्तमान व्ययों अथवा लड़की के विवाह, मुकदमेबाजी या अन्य इसी प्रकार के असाधारण व्ययों के लिये जो व्यक्ति ऋण लेता है उसकी बड़ी आलोचना की जाती है क्योंकि वह अपने वित्त को समुचित ढंग से व्यवस्थित नहीं करता। परन्तु राज्य के लिए ऋण ग्रस्तता एक विकास की निशानी होती है क्योंकि यह इस बात को प्रदर्शित करती है कि राज्य अपने विकासात्मक व्ययों के लिये केवल कर आय तक ही सीमित नहीं रहता है वरन् अपने उत्तरदायित्व के प्रति एक प्रगतिशील एवं व्यापक दृष्टि-कोण रखता है तथा देश के आर्थिक विकास के लिये व्यय करने के हेतु ऋण लेता है। राज्य ऋण का भुगतान उस अधिक आय से कर सकता है जो उधार ली गई मुद्रा के व्यय द्वारा हुए अधिक आर्थिक विकास के कारण प्राप्त होती है।

(२) सार्वजनिक ऋण सम्बन्धित राजकीय इकाइयों की साख पर आधारित है। ये इकाइयाँ भविष्य की एक निश्चित तिथि पर मुद्रा की एक निश्चित राशि का भुगतान करने के लिये वायदा किये रहती हैं। ये ऋण निजी व्यक्तियों या निगमों की तरह ही होते हैं। केवल अन्तर इतना रहता है कि यदि राज्य अपने ऋण का भुगतान करने में समर्थ नहीं है तब ऋणकर्त्ता उसे ऋण के भुगतान करने के लिये बाध्य नहीं कर सकता। राज्य सर्वसत्ताधारी होता है जिसके ऊपर बिना उसकी अनुमति के मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। ऋणदाता को जो जमानत मिलती है वह है राज्य के कर लगाने का अधिकार, उसका विश्वास, तथा अतिरिक्त ऋण लेने के लिये अच्छी साख दर स्थापित रखने की इच्छा। परन्तु निजी ऋण में ऋण

के पीछे एक न एक प्रकार की जमानत रखी जाती है, तथा भुगतान प्राप्त न करने पर ऋण देने वाला न्यायालय में दावा करके पूरी जमानत की मात्रा तक ऋण लेने वाले को अपनी ऋण की मात्रा तथा उसका ब्याज देने के लिए बाध्य कर सकता है।

(३) जब एक व्यक्ति ऋण लेता है तब यह ऋण देने वाले व्यक्ति की इच्छा पर है कि वह ऋण दे अथवा न दे। इस अर्थ में निजी ऋण शुद्धतः ऐच्छिक होता है। राज्य द्वारा निर्गमित सार्वजनिक ऋण भी उस सीमा तक ऐच्छिक होता है जिस सीमा तक ऋण देने वाला ऋण देने के लिये स्वतंत्र रहता है। परन्तु राज्य को चलन की मात्रा में वृद्धि करने का अधिकार है, जिससे मुद्रास्फीति हो सकती है जिससे लोग अपनी आय से उतना वास्तविक लाभ नहीं उठा सकते (वस्तुओं और सेवाओं के रूप में) जितना कि वे इस स्फीतिक मूल्य वृद्धि के प्रभाव में उठा सकते। यदि लोग स्वेच्छा से रुपया राज्य को उधार दे देते तब वे उस सीमा तक वस्तुओं और सेवाओं के उपभोग से वंचित रह जाते। ऐसा उस समय भी होता यदि चलन के प्रसार के फलस्वरूप कीमतों में स्फीतिक वृद्धि होती। इस प्रकार राज्य को मुद्रास्फीति के द्वारा लाचारी ऋण (forced loan) प्राप्त करने का अधिकार होता है जब कि व्यक्ति को इस प्रकार का कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं होता।

इन दोनों में साम्य यह है कि, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, विच्छित्तियों को पूरा करने के लिये ऋण लिये जाते हैं। राज्य और व्यक्ति दोनों को ऋण ली गई रकम पर ब्याज देना पड़ता है, तथा ऋण पुनर्भुगतान की व्यवस्था अपनी आय में वृद्धि करके करनी पड़ती है। राज्य के लिये इसका अर्थ होता है अतिरिक्त करों अथवा सरकारी उद्योगों के अतिरेक द्वारा आय में वृद्धि, तथा व्यक्ति को अधिक आय प्राप्त करने के लिये कठिन परिश्रम करना पड़ता है।

सार्वजनिक ऋण का वर्गीकरण

सार्वजनिक ऋण का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। परिपक्वता (maturity) की अवधि, पुनर्भुगतान की विधि, ऋण प्राप्त करने का उद्देश्य, तथा सार्वजनिक अधिकारी जो वास्तव में ऋण लेता है, इत्यादि आधारों पर इसका वर्गीकरण किया जाता है।

उत्पादक तथा अनुत्पादक ऋण. सार्वजनिक ऋण का एक महत्वपूर्ण वर्गीकरण उत्पादक अथवा स्वतः परिसमापक (self-liquidating) तथा अनुत्पादक अथवा अपरिसमापक ऋण के रूप में किया जाता है। सार्वजनिक ऋण उत्पादक उस समय होता है जब, जैसा कि रेल ऋण है, उसका भुगतान मूल्य के आय प्रदायक परिसंपत्ति द्वारा होता है। अनुत्पादक ऋण वह होता है जिसके आगम (proceeds)

उदाहरणार्थ जंगल लगाने, सड़क निर्माण करने, संचार के विकास करने, प्राकृतिक संसाधनों के प्रयोग, अस्पताल तथा शिक्षा संस्थाओं के विकास करने के लिए किया जाता है, जो स्वतः परिसमापक नहीं होते क्योंकि इनसे प्रत्यक्ष रूप से उतनी आय प्राप्त नहीं होती कि जिससे ऋण का भुगतान किया जा सके। ये केवल परोक्ष रूप में ही सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र के उद्योगों की सहायता करते हैं जिनकी अर्जन क्षमता में इनके कारण वृद्धि होती है। अनुत्पादक सार्वजनिक निर्माण कार्यों से राज्य को केवल परोक्ष रूप में ही अधिक आय की प्राप्ति राष्ट्र की कर-दान क्षमता में वृद्धि होने के कारण होती है।

उत्पादक तथा अनुत्पादक ऋण में महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि उत्पादक ऋण के भुगतान के लिये कर में वृद्धि करना आवश्यक नहीं होता, अतः लोगों पर अधिक भार पड़ने का प्रश्न ही नहीं होता; अनुत्पादक ऋण के भुगतान के लिए अतिरिक्त कर लगाया जाना आवश्यक होता है। यदि कर का प्रमुख भार समाज के निर्धन वर्ग के व्यक्तियों पर पड़ता है तब अनुत्पादक ऋण की अत्यधिक मात्रा आय की असमानता में वृद्धि करती है।

निधिक तथा अनिधिक ऋण (funded and unfunded debt). अस्थायी, अनिधिक अथवा अल्पकालिक (floating) ऋण तथा स्थायी अथवा निधिक ऋण में भी अन्तर किया जाता है।

निधिक तथा अनिधिक ऋण में महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि निधिक ऋण में पूँजी वापस कभी नहीं की जाती तथा ऋण देने वाले को केवल ब्याज का भुगतान किया जाता है, परन्तु अनिधिक ऋण में न केवल ब्याज का भुगतान किया जाता है वरन् एक निश्चित भावी तिथि पर पूँजी वापस कर दी जाती है। अनिधिक ऋण का जब भुगतान पूरा होने को हो जाता है तब उसे अल्पकालीन ऋण कहते हैं। सरकार के राजकोष पत्र (treasury bills) तथा केन्द्रीय बैंक के विधि एवं साधन अग्रिम अल्पकालीन ऋण के महत्वपूर्ण उदाहरण हैं।

ऋण व्यवस्था के सम्बन्ध में क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों का यह मत था कि सुस्थिर ऋण नीति में दीर्घकालीन कार्यों के लिये निधिक ऋण ले। यह कहा जाता है कि अल्पकालीन ऋण सरकार को विकल ऋणदाताओं की दया पर छोड़ देता है; इसके अतिरिक्त बैंक द्वारा इसके अवशोषण हो जाने की सम्भावना है, अतः यह स्फीतिक होता है। इन कारणों से शान्ति काल में दीर्घकालीन ऋण लेना उचित है, तथा युद्ध ऋण को, यदि वह पहले दीर्घकाल के लिये नहीं लिया गया है, तो युद्धोपरान्त दीर्घकालीन ऋण में परिवर्तित कर देना चाहिये। निधिक ऋण में एक अतिरिक्त

लाभ यह बतलाया जाता है कि यह सरल तथा निश्चित होता है तथा इसे ऋण-भुगतान की व्यवस्थित योजना के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है।

परन्तु सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था के उद्देश्य से अनिधिक ऋण को निधिक ऋण से अधिक पसन्द किया जा सकता है। चूँकि ऋण के स्वरूप में केवल परिपक्वता के पूर्व परिवर्तन करना प्रचलित नहीं है इसलिये अल्पकालीन ऋण की अधिक शीघ्र परिपक्वता ऋण के स्वरूप को संशोधित करने की अधिक स्वतंत्रता प्राप्त करती है। यह अल्पकालीन ऋण का लाभ है।

सार्वजनिक ऋण की आवश्यकता. संतुलित बजट में विश्वास रखने वाले लोगों के मतानुसार राज्य को सार्वजनिक ऋण नहीं लेना चाहिये वरन् उसे अपने व्यय को कर आय तक ही सीमित रखना चाहिये। सन्तुलित बजट की नीति दोषपूर्ण तथा अव्यावहारिक होती है। आधुनिक राज्य को अपने व्यय की पूर्ति करने के लिये सार्वजनिक ऋण की शरण लेनी पड़ती है। इसके कई कारण हैं।

(१) सरकार के बजट सन्तुलित रखने के सर्वोत्तम प्रयास के होते हुए भी या तो गलत परिकलन करने के कारण अथवा राष्ट्रीय प्रदा तथा आय में कुछ अप्रत्याशित परिवर्तन हो जाने के कारण सरकार को अपने आय और व्यय की विच्छित्ति को पूर्ति करने के लिए सार्वजनिक ऋण लेना पड़ता है। सम्भवतः यह विच्छित्ति उत्पन्न न हुई होती यदि बजट अधिक सतर्कता के साथ रूढ़िवादी आधार पर बनाये गये होते। परन्तु जब एक बार विच्छित्ति उत्पन्न हो जाती है तब निर्धारित सार्वजनिक व्यय को पूरा करने के लिये सार्वजनिक ऋण आवश्यक हो जाता है।

(२) कुछ संक्रमण कालीन परिस्थितियों जैसे युद्ध, सूखा, बाढ़ तथा अग्नि इत्यादि से हुई हानियों की क्षतिपूर्ति राज्य अपनी प्रवर्तमान आय से नहीं कर सकता, अतः इन परिस्थितियों में सार्वजनिक ऋण आवश्यक हो जाता है। कभी तो लोगों की बचत को सार्वजनिक ऋण लेने के लिये आकृष्ट करने के लिये राज्य को अत्यधिक अनुकूल शर्तें प्रदान करनी होती हैं। ऐसे ऋणों के लिए आकर्षक शर्तें[1] आवश्यक इसलिए हो जाती है क्योंकि केवल राष्ट्र प्रेम सम्बन्धी अपील प्रभावपूर्ण नहीं होती।

---

[1] युद्ध काल में, ऋण को आकर्षक बनाने के लिए ऊँची ब्याज दर के अतिरिक्त राज्य अन्य लाभ भी प्रदान करता है। ऋण अवमूल्य (below par) पर लिया जाता है जब कि उसका पुनर्भुगतान सममूल्य (at par) पर किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि १०० रुपये ऋण भुगतान पाने का अधिकार ऋण प्रदान करने वाले को हो जायेगा यदि वह १०० रुपये से कम ही ऋण देता है। ऋण, कर से मुक्त हो सकता है अथवा सरकार ऋण के ब्याज को आय-कर से मुक्त कर सकती है। ऋण सममूल्य पर दिया जा सकता है परन्तु उसका भुगतान अधिमूल्य (at premium) पर किया जा सकता है।

(३) आर्थिक विकास की दर तीव्र करने तथा पूर्ण रोजगार की स्थिति लाने के लिये राज्य के लिये सार्वजनिक ऋण लेना आवश्यक हो जाता है जिससे वह सार्वजनिक निर्माण के कार्यों को व्यापक रूप में संचालित कर सके। सार्वजनिक ऋण-ग्रस्तता (indebtedness के पक्ष अथवा विपक्ष में चाहे जो कुछ भी कहा जाय, परन्तु इस प्रकार का सार्वजनिक ऋण पूर्णतः उचित है तथा राष्ट्र के सर्वोत्तम हित में होता है।

यहाँ पर इस बात को बतला देना चाहिये कि सार्वजनिक ऋण केवल इसलिए वांछनीय नहीं होता कि यह राजकोष को आवश्यक आय प्रदान करता है, बल्कि अर्थव्यवस्था में इससे कुछ लाभ भी होते हैं।

(१) विशाल सार्वजनिक ऋण के अनेक लाभों में एक लाभ यह बतलाया जाता है कि यह बचत करने वालों को उनके आदेयों की सुरक्षा तथा तरलता के लिए एक अवसर प्रदान करता है। यह तर्क दिया जाता है कि यदि धनी बचत करने वाले अपनी बचत का एक अंश सुरक्षित रख सकने में समर्थ हो सकते हैं तब वे अपनी शेष बचत को जोखिमपूर्ण उद्योगों में लगाने के लिये प्रेरित हो सकते हैं। यह लाभ इस सीमा तक बढ़ जाता है कि 'राजकोष' विभिन्न प्रकार के बचत करने वालों से अपील भिन्न-भिन्न अवधि पर परिपक्व होने वाले, विभिन्न दरों पर पुनर्भुगतान किये जाने वाले तथा अलग-अलग ब्याज की दर वाले अनेक प्रकार की प्रतिभूतियों को जारी करके कर सकता है।

(२) ऋण का सबसे महान लाभ यह है कि यह मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि करने में कार्य करता है। जब तक मुद्रा के परिमाण में वृद्धि उस दर से नहीं होती जिस दर से लेन-देन की मात्रा में वृद्धि के लिये आवश्यक है, तब तक सामान्य मूल्य स्तर पर अवस्फीतिक (deflationary) प्रभाव पड़ सकता है। इससे आकस्मिक हानि हो सकती है जिससे विनियोग हतोत्साहित हो जायेगा। चूँकि निकट भविष्य में जनसंख्या में वृद्धि होना सम्भावित है तथा मुद्रा की कुल लेन-देन में वृद्धि होने की पूर्वकल्पना की जाती है, अतः मुद्रा की पूर्ति में समान वृद्धि का होना आवश्यक हो जाता है।

(३) यह कहा जा सकता है कि सार्वजनिक ऋण वास्तव में वास्तविक आय में वृद्धि करने में सहायक होता है। १८वीं और १९वीं शताब्दी में यूरोपीय सार्वजनिक ऋण में वृद्धि के साथ-साथ पूँजी के संचय में असाधारण वृद्धि हुई। दुर्भाग्यवश, युद्ध तथा अपने ऋणों की सेवाओं को स्थापित रख सकने में सरकार की असमर्थता ने सार्वजनिक ऋण को बुरा नाम प्रदान किया जिसे संक्रमण कालीन परिस्थितियों में राष्ट्रीय जनता की पर्याप्त कर देने की अस्वीकृति के लिए ही रखना चाहिये था।

सुरक्षित सीमा. व्यक्ति के लिए ऋण लेने की सर्वाधिक सीमा का निर्धारण उसकी कुल परिसंपत्ति द्वारा होता है, यद्यपि सम्भवत: इसे सुरक्षित सीमा नहीं कहा जा सकता। राज्य के लिए सर्वाधिक कुल परिसंपत्ति की कसौटी उपलब्ध नहीं रहती क्योंकि वास्तव में राज्य का कुल आदेय वही होता है जो सभी व्यक्तियों को मिलाकर उनका कुल आदेय रहता है।

कभी-कभी सार्वजनिक ऋण की सुरक्षित सीमा का निर्धारण कुल राष्ट्रीय आय के आधार पर किया जाता है। "सार्वजनिक ऋण की वृद्धि की दर जनसंख्या में वृद्धि की दर से अधिक नहीं होनी चाहिए तथा ऋण की मात्रा कुल राष्ट्रीय आय के दुगने से अधिक नहीं होनी चाहिए। यही ऋण की सुरक्षित सीमा मानी गयी है।" परन्तु राष्ट्रीय आय के आधार पर सार्वजनिक ऋण की सीमा निर्धारित करना भी ठीक नहीं है क्योंकि स्व-परिसमापित ऋणों में तो ऋण मुद्रा का व्यय परिसंपत्ति का सृजन करता है जो अपना भुगतान कर लेती हैं तथा ऐसे ऋणों के पुनर्भुगतान करने के लिए राज्य को अतिरिक्त कर नहीं लगाने पड़ते और केवल अतिरिक्त कर के कारण ही इन ऋणों को राष्ट्रीय आय से सम्बद्ध किया जाना उचित समझा जाता है। अपरिसमापित ऋणों को भी राष्ट्रीय आय से सम्बद्ध करना उचित नहीं है क्योंकि यद्यपि ये ऋण का पुनर्भुगतान करने के लिये प्रत्यक्ष आय का सृजन नहीं करते फिर भी ये समाज के व्यक्तियों तथा संस्थाओं की कर-दान क्षमता में वृद्धि कर सरकार को अधिक कर प्रदान करने में समर्थ बनाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सार्वजनिक ऋण उस समय भी सुरक्षित सीमा के भीतर ही हो सकता है जब वह राष्ट्रीय आय के दुगुने से अधिक हो।

सुस्थिर राष्ट्रीय ऋण की सीमा के आकार का निर्धारण तीन बातों द्वारा होता है : उत्पादन की मात्रा, ब्याज की दर, तथा मूल्य स्तर। इसका अर्थ यह हुआ कि सार्वजनिक ऋण की सुरक्षित सीमा का निर्धारण राज्य की भुगतान क्षमता द्वारा होता है। जब तक सरकार ब्याज का भुगतान कर सकती है तथा वर्तमान में परिपक्व होने वाले ऋणों का भुगतान कर सकने में समर्थ रहती है तब तक नई प्रतिभूतियों को बेचने में कठिनाई नहीं होनी चाहिये बशर्ते कि ब्याज की दर पर्याप्त आकर्षक हो।

भावी पीढ़ियों पर भार. यह कहा जाता है कि सार्वजनिक ऋण भावी पीढ़ियों पर भार उत्पन्न करता है। यदि वर्तमान सार्वजनिक व्यय का संचालन वर्तमान कर आय से किया जाय तब भार वर्तमान संतति पर पड़ सकता है। परन्तु यदि ऐसे व्यय सार्वजनिक ऋण द्वारा किए जाते हैं तब उसके भार का स्थानान्तरण भविष्य पर हो जाता है क्योंकि उसके पुनर्भुगतान के लिए भावी संतति को अधिक कर प्रदान करना पड़ेगा। परन्तु इस तर्क में भावी संतति पर हुए सार्वजनिक व्यय के प्रभावों को भुला दिया गया है। अधिकांश भावी संतति ही विकासात्मक परियोजनाओं

तथा राज्य द्वारा किये गए सार्वजनिक निर्माण कार्यों द्वारा लाभान्वित होती है। यदि इसके लिए भावी सन्तति अधिक कर भी प्रदान कर देती है तब यह अनुचित नहीं है क्योंकि भावी संतति अधिक कर देने के बदले में अधिक लाभ भी प्राप्त कर रही है। इसके अतिरिक्त जहाँ तक आन्तरिक ऋण का प्रश्न है, राष्ट्र पर उसके कुल भार पड़ने का तो प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि जहाँ राज्य अधिक आय प्राप्त करने के लिए अतिरिक्त करों को लगाता है वहाँ ऋण प्रदान करने वाले व्यक्तियों को अधिक ब्याज तथा पूँजी के पुनर्भुगतान के रूप में कर आय के अधिकांश भाग को दे देता है। ऐसी स्थिति में केवल इतना ही हो सकता है कि सम्पत्ति के वितरण में परिवर्तन हो जाय जो उन अतिरिक्त कर देने वालों के प्रतिकूल हो सकता है जिन्होंने सरकार को ऋण प्रदान नहीं किया है। केवल वाह्य ऋण में ही भावी पीढ़ियों पर भार अधिक पड़ने का प्रश्न उठता है। परन्तु जैसा हमने पहले ही बतला दिया है भावी सन्तति जब अधिक भार वहन करती है तब उसे अधिक लाभ भी होता है। यह अनुचित तो नहीं कहा जा सकता।

फिर भी यदि कोई विचार करे तब ऋण के भार का हस्तान्तरण एक सन्तति से दूसरी सन्तति पर किया जा सकता है। ऋण परिशोध करने के लिए आवश्यक करों को उन अन्य करों के ऊपर लगाया जा सकता है जो उत्पादन करने की प्रेरणा को निर्बल बनाते हैं। यदि ऐसा है तब यह स्पष्ट है कि, अन्य बातों के समान रहने पर, वाद की संतति अच्छी होती यदि पूर्व की सन्तति ने ऋण न लिया होता। परन्तु 'अन्य बातें समान' शब्द ही कुल समस्या की कुंजी है। अन्य बातें समान रह ही नहीं सकतीं क्योंकि ऋण द्वारा प्राप्त आय को सरकार अवश्य व्यय करेगी जिससे ऋण लेने वाले राष्ट्र की युद्ध सम्बन्धी तथा आर्थिक शक्ति प्रभावित होगी ही। यदि देश युद्ध हार जाता है तब तो भावी सन्तति की स्थिति और भी खराब हो सकती है, युद्ध के अभाव में वे आर्थिक दृष्टि से भले ही अच्छे होते। इसके अतिरिक्त, ऋण भार का हस्तान्तरण तब होता है जब पूर्वकाल में लिये गये ऋण की आय को इस प्रकार से व्यय न किया गया हो जिससे उत्पादकता में वृद्धि उतनी तेजी से न हुई हो जितनी तेजी से उत्पादकता में वृद्धि हो गयी होती यदि बचत को निजी व्यक्तियों के हाथ में छोड़ दिया गया होता।

पुनर्भुगतान की विधि- ऋणों के पुनर्भुगतान की समस्या केवल अनिधिक अथवा अल्पकालीन ऋणों में ही उत्पन्न होती है क्योंकि निधिक ऋणों का कभी पुनर्भुगतान नहीं किया जाता तथा इन ऋणों को देने वाले राज्य से केवल ब्याज प्राप्त करने के ही अधिकारी होते हैं। परन्तु जब असमापनीय ऋण को समापनीय ऋण में परिवर्तित किया जाता है तब एक स्थायी ऋण अस्थायी ऋण में परिवर्तित हो जाता है। ऐसी स्थिति में भुगतान की समस्या असमापनीय ऋण में भी उत्पन्न होती है।

एक सार्वजनिक ऋण के पुनर्भुगतान करने के लिए भविष्य में राज्य की आय उसके व्यय से अधिक होनी चाहिए। उत्पादक ऋण से तो राज्य की आय अपने आप बढ़ जाती है तथा पुनर्भुगतान कोई विशेष समस्या उत्पन्न नहीं करती। परन्तु अनुत्पादक ऋण के पुनर्भुगतान के लिए राज्य को अतिरिक्त कर लगाना पड़ता है। कभी-कभी यह सुझाव दिया जाता है कि यदि सार्वजनिक ऋण अत्यधिक है तथा राज्य उसका भुगतान अतिरिक्त करों द्वारा नहीं कर सकता, तब उसे पूँजी उगाही (capital levy) लगा देनी चाहिए। परन्तु इस प्रकार की विधि का प्रभाव लोगों के कार्य करने तथा बचत करने पर काफी प्रतिकूल पड़ सकता है, अतः इसे अच्छा नहीं समझा जाता।

सार्वजनिक ऋण को परिशोधित करने की साधारण विधि यह है कि एक शोधन विधि (sinking fund) बनाई जाय जिसमें प्रत्येक वर्ष बजट से कुछ जमा कर दिया जाय। इन देनों का परिकलन इस प्रकार से करना चाहिए कि यदि इनका विनियोग चक्रवृद्धि ब्याज पर किया जाता है तब दिए हुए समय के अन्त में कुल मात्रा ऋण के बराबर हो जायेगी। सरकार परिवर्तन अथवा पत्यर्पण (refunding) की विधि का अनुसरण कर सकती है जिसमें एक नया सार्वजनिक ऋण या तो अधिक मात्रा का अथवा अधिक समय का जारी किया जा सकता है। इस ऋण से परिपक्व होने वाले ऋणों का भुगतान सरलता से किया जा सकता है। किसी ऋण के पुनः निर्गमन को प्रत्यर्पण कहते हैं। प्रत्यर्पण बहुधा ऐसे समय में किया जाता है जब एक दी हुई बजटीय अवधि में बहुत सी अल्पकालीन प्रतिभूतियाँ परिपक्व हो जाती हैं। इन परिस्थितियों में ऋणों का या तो पुनर्भुगतान कर दिया जाता है, या इनका अल्पकालिक निर्गमों द्वारा स्थानापन्न किया जाता है अथवा दीर्घकालीन निर्गमों द्वारा प्रतिस्थापन कर दिया जाता है। राजकोष के दृष्टिकोण से यह एक दुर्बोध कार्यविधि होती है। जब दीर्घकालीन प्रतिभूतियों का निर्गमन अल्पकाल में परिपक्व होने वाली प्रतिभूतियों के स्थान पर किया जाता है तब मूल्य, जिस पर प्रतिभूतियाँ जारी की जाती हैं, तथा ब्याज की दर ये सब बाजार की कृपा पर रहती हैं।

अध्याय २०

रोज़गार का सिद्धान्त

(Theory of Employment)

आर्थिक सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण कार्य यह होता है कि यह उन दशाओं को ज्ञात करे जिन में मनुष्य, पदार्थ तथा अन्य संसाधनों का पूर्ण प्रयोग किया जा सके। रोजगार श्रमिक तथा उन व्यक्तियों की आय का स्रोत होता है जिनके पास वे संसाधन हैं जो रोजगार के लिए उपलब्ध रहते हैं। इस मौलिक विचार के अतिरिक्त यदि हम समस्त दृष्टिकोण से देखें तो रोजगार के द्वारा ही राष्ट्रीय प्रदा तथा आय में वृद्धि हो सकती है जिससे उपलब्ध संसाधनों का पूर्ण प्रयोग किया जा सकता है तथा सर्वाधिक सामाजिक कल्याण प्राप्त किया जा सकता है।

क्लैसिकल सिद्धान्त

क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों—ऐडम स्मिथ, रिकार्डों तथा अन्य—ने पूर्ण रोजगार[१] की स्थिति लाने के लिए मौद्रिक मजदूरी तथा अन्य कीमतों की लोचपूर्णता पर विश्वास किया। मान लीजिये कुछ श्रमिक बेकार हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रवर्तमान नकद मजदूरी दर पर श्रम की पूर्ति माँग की अपेक्षा अधिक है। इसके परिणामस्वरूप नकद मजदूरी दर घट जायेगी तथा क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों के मतानुसार नियोक्ता उन श्रमिकों को भी रोजगार प्रदान करना लाभप्रद समझेंगे जो अब तक बेकार थे।

---

[१] पूर्ण रोजगार उस स्थिति को कहते हैं जब प्रवर्तमान कीमत पर (मजदूरी, ब्याज की दर तथा अधिशेष इत्यादि) कार्य करने के लिये उपलब्ध सभी संसाधनों (उदाहरणार्थ श्रम, पूँजी तथा भूमि) का पूर्ण रूप से प्रयोग हो रहा हो तथा छिपी अथवा अनैच्छिक बेरोजगार की स्थिति न हो। पूर्ण रोजगार की व्याख्या करते समय बहुधा श्रम के पूर्ण रोजगार से ही आशय समझा जाता है। अन्य उत्पादन के साधनों पर बहुधा विचार नहीं किया जाता परन्तु श्रम के पूर्ण रोजगार में अन्य साधनों की पूर्ण रोजगारी भी निहित है। यदि श्रम का प्रयोग पूर्ण रूप से हो रहा है परन्तु संयम, मशीनरी, भूमि इत्यादि अन्य उत्पादन के साधनों का पूर्ण रूप से प्रयोग नहीं होता तब अन्य उत्पादन के साधनों की कीमत में वृद्धि हो जायेगी तथा श्रम के स्थान पर उनका प्रतिस्थापन किया जाने लगेगा। इस प्रकार की प्रक्रिया उस समय तक जारी रहेगी जब तक श्रम के समान अन्य उत्पादन के साधनों का पूर्ण प्रयोग नहीं हो जाता। अतः यह बिल्कुल सारहीन है चाहे हम पूर्ण रोजगार की स्थिति से आशय एक साधन के पूर्ण प्रयोग के रूप में समझें अथवा सभी उत्पादन के साधनों के रूप में।

यदि और भी श्रमिक बेकार रह जाते हैं तब मजदूरी उस समय और भी घटती जायेगी जब तक पूर्ण रोजगार की दशा नहीं आ जाती। इसी प्रकार यदि किसी समय विनि-योग के लिए उपलब्ध लोगों की कुल समूहीकृत बचत, पूँजी की मांग से अधिक रहती है तब ब्याज की दर में कमी उस समय तक होती जायेगी जब तक कि उपलब्ध बचत का पूर्ण प्रयोग नहीं हो जाता। मजदूरी, ब्याज दर तथा अन्य कीमतों की लोचपूर्णता द्वारा ही पूर्ण रोजगार के स्तर को प्राप्त किया जाता है। यहाँ पर इस बात को भली भाँति स्पष्ट कर देना चाहिए कि क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों के मस्तिष्क में यह बिल्कुल स्पष्ट था कि संस्थिति में ही पूर्ण रोजगार की स्थिति रह सकती है। संस्थिति के अतिरिक्त अन्य स्थितियों में पूर्ण रोजगार नहीं होगा तथा कुछ संसाधन अवश्य ही अप्रयुक्त रहेंगे।

क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों का यह विश्वास था कि नकद मजदूरी तथा अन्य कीमतों की लोचपूर्णता द्वारा पूर्ण रोजगार स्वतः लाया जा सकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि इन स्थितियों के अन्तर्गत पूर्ण रोजगार की स्थिति लाने के लिए कोई भी प्रयास किये जाने की आवश्यकता नहीं है। वे इस निष्कर्ष पर इसलिए पहुँच सके क्योंकि 'से' के बाजार नियम (Say's law of market) पर उनका विश्वास था। इस नियम का अर्थ यह है कि पूर्ति अपनी माँग का सृजन स्वयं कर लेती है। इसके अनुसार यदि हम समष्टि दृष्टि लें तथा पर्याप्त दीर्घ काल को ध्यान में रखें तब जो कुछ उत्पादन होगा वह अवश्य ही बिक जायेगा। 'से' के नियम का आधार यह है कि जब वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन होता है तब वे समान मात्रा में आय का भी सृजन करती हैं। एक समष्टि दृष्टि रखने पर, यदि आय प्राप्त करने वाले व्यक्तियों द्वारा उनकी कुल आय व्यय कर दी जाती है और यदि यह मान लिया जाय कि सभी वस्तुओं और सेवाओं की कीमत स्थिर रहती है तथा पर्याप्त समय व्यतीत हो गया है जिससे सभी समायोजन पूरे हो जाँय, तब जिन वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन हुआ है वे अवश्य ही बिक जायेंगी। यह सदा सम्भव है कि अल्पकालीन अवधि में कुछ विशेष प्रकार की वस्तुओं, जैसे साइकिल, का अधि-उत्पादन (over-production) हो सकता है। परन्तु जब उत्पादकों को यह पता चल जायेगा कि साइकिलें नहीं बिक रही हैं तब वे दूसरे प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन करने लगेंगे। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि अर्थव्यवस्था का एक समष्टि चित्र ध्यान में रखा जाय तब दीर्घकाल में वस्तुओं की पूर्ति माँग के बराबर अवश्य ही होगी। यदि 'से' का नियम लागू होता है तब पूर्ण रोजगार को एक स्वतः प्रक्रिया के रूप में विचार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। क्योंकि जब तक संसाधन प्रयुक्त रहते हैं तब तक कुछ साहसी उत्पादक अवश्य ही वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन करने के लिए तैयार रहेंगे यदि उन्हें

यह ज्ञात हो जाता है कि जो कुछ भी उत्पादन किया जायेगा वह अवश्य ही बिक जायेगा।

क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों का यह विश्वास था कि कालान्तर में पूर्ण रोजगार की यह स्थिति अर्थव्यवस्था का स्थाई अंग बन जायेगी। एक बार जब पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त कर ली जायेगी तब आगे चल कर यह मूल्य क्रिया विधि, अर्थात् माँग और पूर्ति के नियम के द्वारा स्वयं बनी रहेगी। मान लीजिये पूर्ण रोजगार पर समूहीकृत बचत और समूहीकृत विनियोग दोनों १,००० करोड़ रुपये हैं तथा ब्याज की दर ५ प्रतिशत है। यदि यह संस्थिति ब्याज की दर बदलकर ४ प्रतिशत हो जाती है तब, अन्य बातों के समान रहने पर, माँग और पूर्ति की शक्तियाँ ब्याज की दर को पुन: ५ प्रतिशत पर ला देंगी। ज्योंही ब्याज की दर में कमी हो जायेगी तब विनियोग में वृद्धि १,००० करोड़ रुपये से अधिक हो जायेगी क्योंकि साहसोद्यमी प्रदा में वृद्धि कर अपने लाभ में वृद्धि करने के लिए अधिक पूँजी उधार लेना प्रारम्भ करेंगे। परन्तु जब ब्याज की दर घट जायेगी तब समूहीकृत बचत में कमी हो जायेगी क्योंकि अब बचत करना उतना लाभप्रद नहीं होगा जितना कि पहले था। अत: लोग पहले की अपेक्षा अपनी आय के कम भाग की बचत करेंगे। परिणामस्वरूप ४ प्रतिशत ब्याज की दर पर बचत में कमी हो जायेगी और विनियोग में वृद्धि होने की प्रवृति होगी। मान लीजिए बचत घटकर ८०० करोड़ रुपये तथा विनियोग बढ़कर १२०० करोड़ रुपये हो जाती है। चूँकि अब विनियोग बचत से अधिक है इसलिए ब्याज की दर में वृद्धि होगी तथा यह प्रक्रिया उस समय तक जारी रहेगी जब तक ब्याज की दर बढ़कर ५ प्रतिशत नहीं हो जाती। इस दर पर समूहीकृत बचत समूहीकृत विनियोग के बराबर पुन: १००० करोड़ रुपये हो जायेगी। यह इस बात को प्रदर्शित करता है कि एक बार प्राप्त हो जाने पर पूर्ण रोजगार की दशायें अपना पुन: प्रभाव उत्पन्न करेंगी तथा अर्थ-व्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति सदा बनी रह सकेगी।

पूर्ण रोजगार की स्थिति की कल्पना जिस प्रकार क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों ने की थी वह ऐच्छिक, अस्थायी (frictional) तथा तकनीकमूलक (technological) बेरोजगारी के साथ पूर्ण संगत है। अन्य शब्दों में यदि ऐच्छिक, अस्थायी तथा तकनीक-मूलक बेरोजगारी रहती भी है तब भी पूर्ण रोजगार की स्थिति मानी जायेगी।

ऐच्छिक बेरोजगारी. ऐच्छिक बेरोजगारी से हमारा आशय उन व्यक्तियों की बेरोजगारी से है जो प्रवर्तमान नकद मजदूरी दर पर कार्य करने के लिए प्रस्तुत नहीं रहते। कुछ लोग काम की अपेक्षा आराम को अधिक पसन्द कर सकते हैं तथा उनके लिए प्रवर्तमान मजदूरी पर कार्य करना लाभप्रद नहीं हो सकता। चूँकि ये लोग काम

करने के इच्छुक नहीं हैं तथा रोजगार के लिए उपलब्ध नहीं हैं इसलिए उन्हें हम उस आशय में बेकार नहीं कह सकते जिस आशय में इसे रोजगार के सिद्धान्त के लिए उपयुक्त समझा जाता है। अधिक कठिन स्थिति उस व्यक्ति की है जो प्रवर्तमान मजदूरी दर पर कार्य करने के लिए तैयार है परन्तु जो श्रम संघ अथवा अन्य व्यक्तियों द्वारा कार्य न करने के लिए प्रेरित कर दिया गया है। रोजगार के सिद्धान्त के लिए यह बिल्कुल सारहीन है कि चाहे एक व्यक्ति प्रवर्तमान मजदूरी पर कार्य करने के लिए तैयार या तो इसलिए नहीं है कि वह आराम अधिक पसन्द करता है अथवा वह किसी व्यक्ति द्वारा बहका दिया गया है। जब हम पूर्ण रोजगार पर विचार करते हैं तब हम उन्हीं व्यक्तियों पर विचार करते हैं जो प्रवर्तमान मजदूरी पर कार्य करने के लिए इच्छुक तथा प्रस्तुत हैं। अतः ऐच्छिक बेरोजगारी पूर्ण रोजगार की दशा में असंगति नहीं है।

तकनीकमूलक बेरोजगारी. तकनीकमूलक बेरोजगारी से हमारा तात्पर्य उन व्यक्तियों की बेरोजगारी से है जो मशीनों में कुछ समायोजन होने के कारण अस्थायी तौर पर कार्य से हट गये हैं अथवा मरम्मत के लिए मशीन कुछ समय के लिए बन्द हो गई है अथवा श्रमिकों का हस्तान्तरण एक मशीन से दूसरी मशीन में हो रहा हो। मशीन युग में तकनीकी कारणों से कुछ व्यक्तियों की बेरोजगारी आवश्यक है तथा इसकी पूर्ण रोजगार से असंगति नहीं है।

अस्थायी बेरोजगारी. अस्थायी बेरोजगारी उस समय होती है जब श्रम बाजार की अपूर्णताओं के कारण कुछ लोग अस्थायी तौर पर कार्य से हट जाते हैं। अस्थायी बेरोजगारी अनेक कारणों से उत्पन्न हो सकती है। श्रम की प्रगतिशीलता, कुछ कार्यों का मौसमी स्वरूप, पदार्थों की कमी, मशीनों और सामानों का टूट जाना तथा कार्य के अवसरों के बारे में अज्ञानता इत्यादि। प्रवैगिक समाज जिसमें कुछ उद्योगों का पतन तथा कुछ उद्योगों का विकास होता रहता है तथा लोग जहाँ चाहें वहाँ कार्य करने के लिए स्वतंत्र रहते हैं, इसमें अस्थायी बेरोजगारी का होना आवश्यक है। परन्तु इस प्रकार की बेरोजगारी एक बड़ी समस्या नहीं रहती क्योंकि काम की तलाश करने वाले बेकार व्यक्ति अस्थायी कारणों से कुछ सप्ताह अथवा महीनों से अधिक समय तक बेकार नहीं रह सकते। महत्वपूर्ण बात यह है कि अस्थायी बेरोजगारी की भी असंगति पूर्ण रोजगार के साथ नहीं रहती।

छिपी हुई बेरोजगारी (disguised unemployment). यदि भूमि की एक निश्चित मात्रा को तीन व्यक्ति जोतने का प्रयास करते हैं जो वास्तव में दो ही व्यक्तियों द्वारा जोती जा सकती है तब वास्तव में इनमें से दो ही कार्यशील हैं तथा एक

छिपी बेरोजगारी को प्रदर्शित करता है। छिपी बेरोजगारी को बहुधा परिवार-रोजगार से सम्बद्ध किया जाता है जहाँ पर उत्पादन तथा श्रम की पूर्ति की इकाई परिवार होता है जो मजदूरी प्राप्त करने के लिए कार्य करता है। कार्य के मौसमी स्वरूप होने के कारण छिपी बेरोजगारी उत्पन्न हो सकती है। उदाहरणार्थ, फसल के समय कृषि मजदूरों की पूर्ण रोजगारी हो सकती है, जबकि बाकी समय में मौसमी बेरोज-गारी रह सकती है। छिपी बेरोजगारी उत्पन्न होने का कारण यह है कि परिवार के सभी संसाधन इतने कम हैं कि उनसे परिवार के सभी कार्यशील सदस्यों को सम्पूर्ण वर्ष पूर्ण रूप से नहीं नियोजित किया जा सकता, तथा कोई अन्य वैकल्पिक अवसर नहीं रहता जिसमें अतिरिक्त श्रम को उचित समय पर अन्य कार्यों में लगाया जा सके। यदि इस प्रकार की ग्रामीण रोजगारी रहती है तब श्रम को कृषि से बिना कृषि उत्पादन में कमी किये ही हटाया जा सकता है यद्यपि इस क्षेत्र में उत्पादन का कोई खास पुनगर्ठन अथवा पूंजी का प्रतिस्थापन नहीं होता। छिपी बरोजगारी परिवार की कुल आय को घटा देती है तथा अर्थ व्यवस्था में पूँजी निर्माण की दर को भी कम कर देती है।

अनैच्छिक बेरोजगारी. मनुष्य अनैच्छिक रूप में बेकार उस समय कहे जाते हैं जब मजदूरी-पदार्थों (wage goods) की कीमत में नकद मजदूरी की अपेक्षा थोड़ी सी वृद्धि हो जाने से प्रवर्तमान नकद मजदूरी पर कार्य करने वाले श्रमिकों की समूहीकृत पूर्ति तथा मजदूरों की समूहीकृत माँग दोनों वर्तमान रोजगार के परिमाण से अधिक रहती हैं। इस प्रकार की अनैच्छिक बेरोजगारी क्लैसिकल पूर्ण रोजगार की संस्थिति में रह सकती है जैसा कि इस बात द्वारा प्रदर्शित किया जाता है कि वास्तविक मजदूरी में कमी, बिना नकद मजदूरी में कमी हुए, नियोजित व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि उत्पन्न कर सकती है। यदि वास्तविक मजदूरी कम हो जाती है (अर्थात् नकद मजदूरी में अल्पमात्र भी कमी हुए बिना जब वस्तुओं की कीमतों में थोड़ी सी वृद्धि हो जाती है) तब उत्पादकों के लिए प्रदा में वृद्धि करना अधिक लाभप्रद हो जाता है तथा इससे रोजगार में लगाये गए व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि हो जाती है। ऐसी स्थिति उस समय उत्पन्न हो सकती है जब श्रम संघ के सामूहिक दबाव तथा सरकार द्वारा श्रम बाजार में हस्तक्षेप के कारण नकद मजदूरी दर उस स्तर के ऊपर बनी रहती है जिस पर कार्य की माँग प्रर्वतमान मजदूरी दर पर इच्छुक व्यक्तियों के रोजगार प्राप्त करने के पूर्व ही सन्तुष्ट हो जाती है।

महत्वपूर्ण बात यह है कि क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों ने मौसमी, छिपी हुई, ऐच्छिक, अस्थायी तथा तकनीकीमूलक बेरोजगारी की सम्भावना को स्वीकार किया परन्तु उन्होंने पूर्ण रोजगार की दशाओं में अनैच्छिक बेरोजगारी की सम्भावना को स्वीकार नहीं किया। इससे उनकी पूर्ण रोजगार की परिभाषा दोषपूर्ण हो गई। यदि पूर्ण

रोजगार को नकद मजदूरी के रूप में परिभाषित किया जाता है, जैसा कि क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों ने किया, तब अनैच्छिक बेरोजगारी का होना उस समय भी सम्भव है जब प्रवर्तमान मजदूरी पर श्रम की कुल माँग उसकी कुल पूर्ति के बराबर हो। यदि पूर्ण रोजगार को वास्तविक मजदूरी के रूप में परिभाषित किया जाय, जैसा कि कीन्स ने किया, तब पूर्ण रोजगार के बिन्दु पर अनैच्छिक बेरोजगारी की सम्भावना नहीं रहेगी। इस बिन्दु पर वास्तविक मजदूरी इतनी कम रहती है कि इससे कम दर पर श्रमिक श्रम की पूर्ति करने से इन्कार कर देते हैं। इस बिन्दु पर 'समर्थ मांग' के प्रसार को अवश्य रुक जाना चाहिए क्योंकि इसके आगे श्रम कार्य करने से इन्कार करता है।

क्लैसिकल सिद्धान्त की आलोचना. क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों ने गलती यह की कि वे पूर्ण रोजगार की स्थिति लाने के लिए नकद मजदूरी दर तथा अन्य कीमतों की लोचपूर्णता पर आश्रित रहे। यह सम्भव है कि नकद मजदूरी दर में कमी हो जाने के कारण रोजगार के स्तर में वृद्धि हो जाय, परन्तु ऐसा होना सदा आवश्यक नहीं है। किसी भी दशा में, कम नकद मजदूरी स्वयं पूर्ण रोजगार की दशायें नहीं ला सकती। इसका कारण अत्यन्त सरल है। यह सत्य है कि कम नकद मजदूरी से श्रम सस्ता हो जाता है तथा उत्पादक अधिक श्रमिकों को लगाना पसन्द करेंगे, परन्तु वे ऐसा करेंगे अथवा नहीं यह इस बात पर आधारित है कि बढ़ी हुई प्रदा को लाभ के साथ बेचे जाने की सम्भावना है अथवा नहीं। इस प्रकार नियोजित किये जाने वाले व्यक्तियों की मात्रा का निर्णय करते समय उत्पादक नकद मजदूरी को नहीं वरन् वास्तविक मजदूरी को ध्यान में रखते हैं। मान लीजिये नकद मजदूरी में कमी हो जाती है और साथ-साथ वस्तुओं की भी कीमतें इतनी घट जाती हैं कि वास्तविक मजदूरी अपरिवर्तित रहती है, तब उत्पादक अधिक व्यक्तियों को रोजगार नहीं देंगे क्योंकि ऐसा करने से उन्हें अतिरिक्त लाभ प्राप्त करने की सम्भावना नहीं रहती। केवल उस समय जब नकद मजदूरी घटती है तथा वस्तुओं की कीमतें या तो अपरिवर्तित रहती हैं अथवा बढ़ती हैं जिससे वास्तविक मजदूरी घट जाती है और विनियोग की लाभ प्रदता में वृद्धि हो जाती है तभी उत्पादक अधिक व्यक्तियों को रोजगार प्रदान कर सकते हैं।

परन्तु यदि वस्तुओं का मूल्य स्थिर भी रहे तथा नकद मजदूरी में कमी हो जाय, तब यह आवश्यक नहीं है कि सभी बेकार व्यक्तियों को रोजगार दिया जा सके। यदि श्रम की माँग अलोचपूर्ण है, अर्थात् यदि नकद मजदूरी में कमी होने के साथ रोजगार प्रदान किए गए अतिरिक्त श्रमिकों की मात्रा में वृद्धि (चूँकि अब श्रम मशीन तथा अन्य उत्पादन के साधनों की अपेक्षा अधिक सस्ता हो गया है) नकद मजदूरी में कमी होने के अनुपात से कम होती है, तब श्रमिकों (उपभोक्ताओं) के हाथ में विनियोज्य आय

कम हो जायेगी। यदि इससे कुल माँग में कमी हो जाती है, जैसा होना आवश्यक है, तब उत्पादन के स्तर, फलतः रोजगार, में वृद्धि होने के बजाय कमी हो जायेगी।

यदि नकद मजदूरी घट जाती है तथा कुल मजदूरी बिल में कमी हो जाती है तब मजदूरी देने के लिए उत्पादक को मुद्रा की आवश्यकता कम हो जायेगी। यह तर्क दिया गया है कि इससे ऋण देने वालों के निष्कार्य नकद शेष में वृद्धि हो जायेगी जिससे ब्याज की दर में कमी होगी और फलतः विनियोग तथा रोजगार के स्तर में वृद्धि हो जायेगी। परन्तु ऐसा होने के लिए ब्याज की दर में कमी होना ही पर्याप्त नहीं है। साहसोद्यमी की भावी लाभ की आशा तथा ब्याज की दर विनियोग के स्तर का निर्धारण करते हैं। इसे मानने का कोई कारण नहीं है कि बिना वास्तविक मजदूरी में समान कमी हुए केवल नकद मजदूरी साहसोद्यमी के भावी लाभ की प्रत्याशा में वृद्धि कर देगी। अतः नकद मजदूरी में सर्वांगीण कमी होने के परिणामस्वरूप ब्याज की दर में हुई कमी विनियोग तथा रोजगार के स्तर में वृद्धि करने में सदा सहायक नहीं हो सकती। जब नकद मजदूरी घट जाती है और साहसोद्यमी यह आशा करते हैं कि भविष्य में नकद मजदूरी और भी घट जायेगी तब विनियोग करने की अपेक्षा वे प्रतीक्षा करना अधिक पसन्द करते हैं। यदि ऐसा होता है तब वास्तव में रोजगार के स्तर में कमी हो जायेगी। श्रमिकों की कुल नकद आय में कमी तथा साहसोद्यमी की भविष्य के बारे में अनिश्चितता की स्थिति में कम नकद मजदूरी वास्तव में रोजगार के स्तर में वृद्धि करने के स्थान पर उसको कम कर सकती है।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रोजगार में स्वतः वृद्धि के लिए हम नकद मजदूरी की लोचपूर्णता पर आश्रित नहीं हो सकते तथा पूर्ण रोजगार की स्थिति लाने के लिए तो इस पर आश्रित नहीं हुआ जा सकता। इसी स्थान पर ही क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों ने 'से' के बाजार नियम का प्रयोग किया। उनका यह विश्वास था कि जो कुछ उत्पादन किया जाता है वह अपने आप बिक जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि कम नकद मजदूरी तथा कम ब्याज की दर के कारण साहसोद्यमी बेकार संसाधनों को नियोजित कर लेंगे क्योंकि उन्हें इस बात की आशा है कि जो कुछ भी वे उत्पादन करेंगे वह अवश्य बिक जायेगा। यह प्रक्रिया उस समय तक जारी रहेगी जब तक पूर्ण रोजगार की स्थिति नहीं प्राप्त हो जाती।

'से' के बाजार नियम में यह मान लिया गया है कि लोगों की सम्पूर्ण आय का व्यय वर्तमान समय में वस्तुओं और सेवाओं को क्रय करने के लिए कर दिया जाता है। वास्तविक व्यवहार में लोग अपनी आय का एक अंश भविष्य के लिए बचा लेते हैं तथा उस सीमा तक वर्तमान समय में वस्तुएँ अविक्रीत रह जाती हैं। यह इस मान्यता को खण्डित कर देता है कि "पूर्ति अपनी माँग का सृजन स्वयं कर लेती है"। यदि

हम थोड़े समय के लिए मान भी लें कि लोग वर्तमान में अपनी सम्पूर्ण आय को व्यय कर देना पसन्द करते हैं, तब भी 'से' का बाजार नियम सही नहीं है क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि ज्यों ही वस्तुओं का उत्पादन होता है त्यों ही अनुरूपी नकद आय उपभोक्ताओं के हाथ में जाकर 'विनियोज्य आय' बन जाय। मजदूरी तथा वेतन और विशेषकर लाभ तथा लाभांशों में तो आय अर्जित करने (जो वस्तुओं के उत्पादन के साथ होती है) तथा उपभोक्ताओं को उसकी प्राप्ति होने में काफी समय विलम्ब रहता है। इसका अर्थ यह है कि यदि लोग वर्तमान समय में अपनी सम्पूर्ण विनियोज्य आय का व्यय कर भी दें तब भी यह तर्क करना उचित नहीं होगा कि 'पूर्ति अपनी माँग का सृजन स्वयं कर लेती है'। अतः यह मानना ठीक नहीं है कि नकद मजदूरी की लोचपूर्णता तथा 'से' के बाजार नियम के कारण पूर्ण रोजगार की दशायें स्वतः उत्पन्न होकर बनी रहें।

केन्स का सिद्धान्त

केन्सीय रोजगार के सिद्धान्त में रोजगार के स्तर में वृद्धि अथवा कमी को नकद मजदूरी, ब्याज-दर तथा अन्य कीमतों की लोचपूर्णता पर आश्रित नहीं माना गया है, यद्यपि इनका महत्वपूर्ण कार्य होता है। केन्स ने समष्टि दृष्टिकोण रखा तथा रोजगार के स्तर को समर्थ माँग पर आश्रित माना। समर्थ माँग को परिभाषित उस
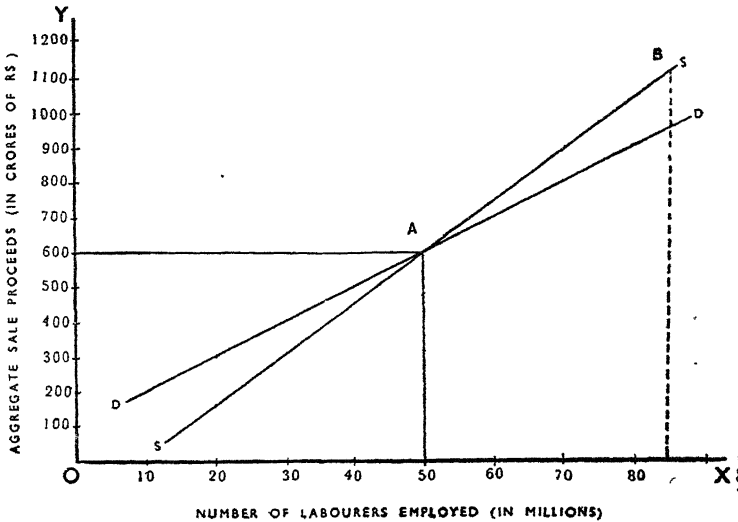
चित्र ४

बिन्दु के रूप में किया जाता है जिस पर समूहीकृत माँग तथा पूर्ति वक्र एक दूसरे को काटती हैं।

चित्र ४ में रोजगार का स्तर x-axis पर तथा समूहीकृत विक्रयागम को y-axis पर दिखलाया गया है। वक्र, समूहीकृत प्रदा (aggregate output) तथा समूहीकृत कीमत में क्रियात्मक सम्बन्ध को प्रदर्शित करते हैं। जब कुछ श्रमिकों को कार्य में नियोजित किया जाता है तब वे कुछ समूहीकृत वस्तुओं का उत्पादन करते हैं तथा जब वे वस्तुयें बाजार में बेची जाती हैं तब उससे कुछ आय (कुल विक्रयागम) उत्पादकों को प्राप्त होती है। एक दिये हुए रोजगार की प्रदा की समूहीकृत माँग कीमत कुल मुद्रा अथवा विक्रयागम की वह मात्रा होती है जिसे प्रदा की बिक्री से प्राप्त होने की सम्भावना है, जब उतने ही श्रमिकों को नियोजित किया जाता है। समूहीकृत माँग वक्र अथवा, जैसा केन्स ने कहा, 'समूहीकृत माँग क्रिया' उस विक्रयागम की सारणी है जिसे रोजगार की विभिन्न मात्राओं से उत्पन्न होने वाली प्रदाओं की बिक्री से प्राप्त होने की सम्भावना है।

जब रोजगार तथा प्रदा में वृद्धि होती है तब विक्रयागम में भी वृद्धि होती है। चित्र ४ में समूहीकृत माँग वक्र *DD* यह प्रदर्शित करती है कि जब २ करोड़ श्रमिक कार्य पर नियोजित किए गए हैं तथा वे कुछ वस्तुओं के समूह का उत्पादन (जो चित्र में नहीं दिखलाया गया है) करते हैं तब सभी उत्पादकों के कुल विक्रयागम से ३०० करोड़ रुपये प्राप्त होने की आशा की जाती है, तथा जब ७ करोड़ श्रमिक नियोजित किये गये हैं तब कुल विक्रयागम ८०० करोड़ रुपये होने की आशा की जाती है। इसके विपरीत, समूहीकृत पूर्ति वक्र रोजगार के विभिन्न स्तरों पर प्रदा तथा उसी स्तर का रोजगार प्रदान करने के लिए उत्पादकों को प्राप्त न्यूनतम आवश्यक विक्रयागम में क्रियात्मक सम्बन्ध (functional relationship) स्थापित करती है। समूहीकृत पूर्ति वक्र *SS* यह प्रदर्शित करती है कि २ करोड़ श्रमिकों को रोजगार प्रदान करने के लिए सभी नियोक्ताओं को कुल १५० करोड़ रुपये के बराबर समूहीकृत विक्रयागम प्राप्त करना चाहिए। ७ करोड़ श्रमिकों को रोजगार प्रदान करने के लिए उन्हें ९०० करोड़ रुपये के बराबर कुल विक्रयागम प्राप्त करना चाहिए।

चित्र ४ में समूहीकृत माँग वक्र *DD* तथा समूहीकृत पूर्ति वक्र *SS* बिन्दु *A* पर मिलते हैं जो समर्थ मांग (effective demand) का बिन्दु है। यह बिन्दु दिखलाता है कि वास्तव में ५ करोड़ श्रमिकों को रोजगार प्रदान किया जायेगा क्योंकि रोजगार के इस स्तर के लिए आशंसित विक्रयागम तथा न्यूनतम आवश्यक विक्रयागम दोनों एक हैं अर्थात ६०० करोड़ रुपये हैं। यही संस्थिति का बिन्दु है, पूर्ण रोज़गार

संस्थिति का बिन्दु नहीं। पूर्ण रोजगार संस्थिति का बिन्दु उस समय प्राप्त होगा जब ८·५ करोड़ श्रमिक नियोजित किये जायेंगे (यह मानते हुए कि प्रवर्तमान मजदूरी दर पर रोजगार के लिए उपलब्ध श्रमिकों की संख्या ८·५ करोड़ है)। संस्थिति के बिन्दु पर वस्तुओं की समूहीकृत माँग उनकी समूहीकृत पूर्ति के बराबर है तथा संस्थिति की सभी विशेषतायें पाई जातीं हैं। क्लैसिकल अर्थशास्त्री पूर्ण रोजगार से कम की संस्थिति की कल्पना न कर सके जैसा केन्स ने किया।

यदि कुछ क्षण के लिए हम यह मान लें कि समूहीकृत पूर्ति वक्र SS में कोई परिवर्तन नहीं होता, तब श्रमिकों को अधिक रोजगार उसी समय सम्भव होगा जब माँग वक्र DD ऊपर दाहिनी ओर विवर्तित हो जाती है। अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की संस्थिति में आ जायेगी यदि जब समूहीकृत माँग वक्र समूहीकृत पूर्ति वक्र को B विन्दु पर काटे जहाँ ८.५ करोड़ श्रमिक कार्य पर नियोजित किये जाते हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि माँग में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप समूहीकृत माँग वक्र दाहिनी ओर विवर्तित हो सकती है परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि यह समूहीकृत पूर्ति वक्र को पूर्ण रोजगार संस्थिति के बिन्दु पर (अर्थात् B बिन्दु पर) काटे ही। इसका कारण यह है कि लोग अपनी सम्पूर्ण अतिरिक्त आय का उपभोग उसी समय नहीं करते जब वे उसे अर्जित करते हैं क्योंकि (१) लोगों के उपभोग की सीमान्त प्रवणता (marginal propensity to consume), अर्थात अतिरिक्त आय का अनुपात जो लोग उपभोग पर व्यय करते हैं, एक से कम[1] होती है; तथा (२) रोजगार, प्रदा तथा आय में वृद्धि के साथ उपभोग की सीमान्त प्रवणता और भी कम हो जाती है।

इस मनोवैज्ञानिक नियम का औचित्य यह है कि (१) सम्पूर्ण अतिरिक्त आय उपभोक्ताओं के हाथ में एक साथ नहीं आ जाती तथा एक लम्बा समय विलम्ब रहता है और यदि लोग चाहें भी तब भी वे अपनी सम्पूर्ण अतिरिक्त आय का उपभोग सम्भवतः नहीं कर सकेंगे; (२) लोग आपत्तिकालीन समय के लिये कुछ बचा कर रखना चाहते हैं तथा अपनी सम्पूर्ण अतिरिक्त आय को व्यय करना नहीं चाहते; (३) ज्यों-ज्यों लोगों की आय बढ़ती है तथा उनकी मौलिक आवश्यकतायें संतुष्ट हो जाती हैं तब वे अपनी अतिरिक्त आय का कम अनुपात प्रवर्तमान उपभोग पर करते हैं। यदि समाज की सम्पूर्ण आय उसी अवधि में व्यय कर दी जाती जिसमें वह अर्जित की गई तब समर्थ मांग में क्रमिक वृद्धि उस समय तक होती रहती जब तक पूर्ण रोजगार के

[1] लोगों के सीमान्त उपभोग की प्रवणता १ होगी यदि सम्पूर्ण अतिरिक्त आय, मान लीजिये १०० रुपये, प्रवर्तमान उपभोग पर व्यय कर दी जाती है। परन्तु यदि उसमें से लोग केवल ७५ रुपये ही व्यय करते हैं तथा २५ रुपये बचा लेते हैं तब सीमान्त उपभोग प्रवणता ७५/१०० या ३/४ होगी।

समुचित स्तर तक नहीं पहुँच जाती। परन्तु यह मनोवैज्ञानिक नियम समर्थ माँग को स्वतः पूर्ण रोजगार के स्तर तक पहुँचाने में असम्भव बना देता है।

अतः केन्सीय रोजगार के सिद्धान्त का निष्कर्ष यह है कि समर्थ माँग को पूर्ण रोजगार के स्तर तक बढ़ाने के लिये राज्य को विनियोग दर में अधिक वृद्धि कर देनी चाहिए जिससे लोगों के हाथ में विनियोज्य आय तथा उपभोग के स्तर में प्रगामी वृद्धि हो जाय। मान लीजिये सीमान्त उपभोग प्रवणता ८०/१०० या ०.८ है। यदि राज्य १०० रुपये का विनियोग करता है तब यह मुद्रा लोगों के हाथ में मजदूरी, कच्चे माल की कीमतों, अधिशेष तथा लाभ के रूप में चली जायेगी तथा प्रवर्तमान उपभोग में ८० रुपये के बराबर वृद्धि हो जायेगी। इसके परिणामस्वरूप लोगों की आय में ८० रुपये के बराबर वृद्धि हो जायेगी। दूसरी अवधि में लोग ८० रुपये का ८० प्रतिशत अर्थात् ६४ रुपये पुनः उपभोग करेंगे। इसके परिणाम स्वरूप राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो जायेगी। यह गुणक प्रक्रिया (multiplier process) जारी रहेगी तथा क्रमशः समर्थ माँग के स्तर में वृद्धि हो जायेगी। चूँकि राज्य भी पुनः विनियोग करता है अतः समूहीकृत माँग के स्तर में और भी वृद्धि हो जायेगी और यदि यह प्रक्रिया जारी रहती है तब समूहीकृत माँग में उस स्तर तक वृद्धि हो जायेगी जिससे पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो जाय।

निजी साहसोद्यमी आवश्यक अतिरिक्त विनियोग नहीं कर सकते क्योंकि वे आशंसित विक्रयागम तथा विनियोग कीं लाभ प्रदता को दृष्टि में रखते हैं परन्तु राज्य का ऐसा दृष्टिकोण नहीं रहता। राज्य अधिक रोजगार और अन्ततः पूर्ण रोजगार प्राप्त करने के उद्देश्य से अतिरिक्त विनियोगों को उसकी लाभप्रदता पर विचार किए बिना ही कर सकता है। केन्सीय सिद्धान्त के अनुसार पूर्ण रोजगार सम्भव है परन्तु यह एक केवल सीमित स्थिति है तथा स्वतः प्राप्त नहीं की जा सकती। लाभ पर बिना विचार किए राज्य के अनवरत अतिरिक्त विनियोगों द्वारा ही पूर्ण रोजगार की स्थिति लाई जा सकती है। पूर्ण रोजगार से कम संस्थिति के अन्य बिन्दुओं के सदृश पूर्ण रोजगार के इस संस्थिति बिन्दु पर समूहीकृत माँग समूहीकृत पूर्ति के बराबर होती है तथा संस्थिति की अन्य विशेषतायें विद्यमान रहती हैं।

प्रमुख विशेषतायें. (१) केन्सीय सिद्धान्त में सन्तुलन की सम्पूर्ण प्रक्रिया पर समष्टि दृष्टिकोण से विचार किया गया है। क्लैसिकल तथा नवीन क्लैसिकल अर्थशास्त्री जिन्होंने मूल्य प्रक्रिया के रूप में तर्क किया तथा व्यष्टिभावी दृष्टि रखी, उन्होंने प्रति इकाई कीमत तथा उस कीमत पर माँग एवं पूर्ति की मात्रा के सम्बोध का प्रयोग किया। परन्तु केन्स के सिद्धान्त में हम समष्टिभावी दृष्टि रखते हैं तथा पूरे समूह पर विचार

करते हैं। इसलिए प्रति इकाई कीमत के स्थान पर 'समूहीकृत माँग कीमत' (जो प्रति इकाई कीमत नहीं वरन् प्रति इकाई कीमत तथा कुल माँग की इकाई का गुणनफल होती है) पर विचार करते हैं अर्थात कुल विक्रयागम का प्रयोग करते हैं। संस्थिति में यद्यपि माँग पूर्ति के बराबर होती है परन्तु दूसरे आशय में। पूर्ति का अर्थ होता है अर्थव्यवस्था में सभी वस्तुओं और सेवाओं की समूहीकृत पूर्ति, तथा माँग का अर्थ सभी वस्तुओं तथा सेवाओं की समूहीकृत माँग तथा जब माँग और पूर्ति बराबर होती है तब इसका अर्थ यह हुआ कि अर्थ-व्यवस्था संस्थिति की दशा में है।

(२) क्लैसिकल प्रणाली में बचत तथा विनियोग के फलनक सम्बन्ध पर विचार ब्याज की दर के रूप में किया गया। अन्य शब्दों में, संस्थिति ब्याज की दर पर बचत तथा विनियोग बराबर हो जाते हैं। मान लीजिये ब्याज की दर १० प्रतिशत है तथा संस्थिति में बचत एवं विनियोग १००० करोड़ रुपये के बराबर हैं। यदि अब कुछ कारणों से ब्याज की दर घट कर ८ प्रतिशत हो जाती है तब बचत में कमी तथा विनियोग में वृद्धि हो जायेगी। बचत की माँग में इसकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक वृद्धि हो जाने के कारण ब्याज की दर पुनः बढ़कर १० प्रतिशत के संस्थिति स्तर पर हो जायेगी। इस विधि में एक बार जब संस्थिति आ जाती है तब वह अपने को स्वतः बनाये रखती है। इससे यह प्रणाली अवास्तविक हो जाती है।

केन्सीय प्रणाली में, बचत तथा विनियोग में फलनक सम्बन्ध क्लैसिकल अर्थ-शास्त्रियों के सदृश ब्याज की दर के रूप में नहीं वरन् आय के रूप में किया जाता है। मान लीजिये राष्ट्रीय आय १०,००० करोड़ रुपये है तथा संस्थिति में बचत एवं विनियोग प्रत्येक २००० करोड़ रुपये हैं। यह भी मान लीजिये की उपभोग की सीमान्त प्रवणता ४/५ तथा बचत की सीमान्त प्रवणता १/५ है। इससे गुणक[१] ५ हो जाता है। यदि इन

---

[१] गुणक वह अंक है जो यह बतलाता है कि एक दिये हुये अतिरिक्त विनियोग के परिणामस्वरूप कितनी गुनी आय में वृद्धि होगी।

यदि १,००० करोड़ रुपया विनियोग किया जाता है तब वह उपभोक्ताओं के पास मजदूरी, कच्चे माल की कीमत, अधिशेष तथा लाभ के रूप में पहुँचता है। इस अतिरिक्त आय में से, चूँकि लोगों के उपभोग की सीमान्त प्रवणता ४/५ है, इसलिए ८०० करोड़ रुपये का व्यय लोग प्रवर्तमान उपभोग पर करते हैं तथा २०० करोड़ रुपये बचत (विनियोग) करते हैं। दूसरी वार, ८०० करोड़ रुपये लोगों के पास मजदूरी, कच्चे पदार्थों की कीमत इत्यादि के रूप में पहुँचते हैं तथा राष्ट्रीय आय के भाग हो जाते हैं। ८०० करोड़ रुपये की इस अतिरिक्त आय में से लोग ६४० करोड़ रुपये प्रवर्तमान उपभोग (अर्थात ८०० का ४/५) पर व्यय करते हैं तथा १६० करोड़ रुपये बचत करते हैं। तीसरी बार, ६४० करोड़ रुपया राष्ट्रीय आय में चला जाता है। यह प्रक्रिया उस समय तक चलती रहेगी जब तक १,००० करोड़ रुपये अतिरिक्त विनियोग के द्वारा राष्ट्रीय आय ५,००० करोड़ रुपये नहीं हो जाती।

दशाओं के अन्तर्गत १,००० करोड़ रुपये का अतिरिक्त विनियोग किया जाता है तब अन्ततः राष्ट्रीय आय में ५,००० करोड़ रुपये के बराबर वृद्धि हो जायगी (अर्थात् विनियोग की मात्रा × गुणक = १००० × ५) तथा कुल राष्ट्रीय आय १५,००० करोड़ रुपये और कुल बचत ३,००० करोड़ रुपये (अर्थात् १५,००० करोड़ रुपये का १/५) के बराबर हो जायेगी। इस प्रकार केन्सीय प्रणाली में यह प्रदर्शित करना सम्भव है कि किस प्रकार १५,००० करोड़ रुपये राष्ट्रीय आय के नवीन संस्थिति स्तर पर बचत एवं विनियोग पुनः ३,००० करोड़ रुपये के बराबर हो जायेंगी। आर्थिक विकास के प्रतिभास को समझाने के लिए केन्सीय सिद्धान्त अधिक वास्तविक तथा लाभप्रद है।

(३) केन्सीय सिद्धान्त में, रोजगार के स्तर पर विचार नकद मजदूरी के रूप में नहीं वरन् वास्तविक मजदूरी के रूप में किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि यह निर्णय करते समय कि नये स्तर पर नियोक्ता श्रम को अधिक रोजगार प्रदान करेगा अथवा कम, न केवल नकद मजदूरी को ध्यान में रखा जाता है वरन् विनियोग की लाभप्रदता भी दृष्टि में रखी जाती है। दी हुई पूँजी की सीमान्त क्षमता के स्तर पर विनियोग की लाभ प्रदता उन कीमतों पर आधारित है जिनकी उत्पादक अपनी वस्तुओं के लिए आशा रखते हैं। यह केन्सीय प्रणाली को और भी अधिक वास्तविक बना देती है।

आलोचना. केन्सीय रोजगार के सिद्धान्त की आलोचना अनेक दृष्टिकोण से की जाती है परन्तु ये सभी आलोचनायें या ऊपरी हैं अथवा केवल परिभाषा या वर्गीकरण से सम्बन्धित हैं।

यह कहा जाता है कि (१) केन्सीय सिद्धान्त में बचत एवं विनियोग की समानता तो केवल एक तर्क सिद्ध बात है। परिभाषा द्वारा ही ये समान बना दिये गए हैं जिससे कोई लाभ नहीं होता; तथा (२) केवल स्थैतिक दशाओं के अन्तर्गत ही बचत और विनियोग बराबर होते हैं। वास्तविक जगत की प्रवैगिक दशाओं में ये भिन्न रहते हैं। अतः केन्सीय सिद्धान्त कोई लाभप्रद उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता।

यह सत्य है कि केन्सीय सिद्धान्त के अनुसार बचत आय का वह अंश होती है जो उपभोग नहीं की जाती तथा विनियोग भी आय (प्रदा) का वह अंश होता है जिसका उपभोग नहीं होता (अर्थात् जो उपभोग पदार्थ नहीं होती), तथा दोनों की समानता तो केवल परिभाषा की बात है। परन्तु इस तर्कसिद्ध परिभाषा के पीछे यह आधारभूत सत्य छिपा है कि स्थिर कीमत पर वस्तुओं और सेवाओं की समूहीकृत प्रदा तथा राष्ट्रीय आय दोनों एक ही होते हैं। राष्ट्रीय आय में से जो उपभोग नहीं

किया जाता वह बचत है तथा जो समूहीकृत राष्ट्रीय प्रदा में से उपभोग नहीं किया जाता उसे विनियोग पदार्थ कहते हैं।

वास्तविक बात यह है कि विनियोग पदार्थों की पूर्ति, जिनका उपभोग वर्तमान में नहीं किया गया है, वह साहसोद्यमियों के आगे उत्पादन करने के लिए उपलब्ध रहती हैं। क्लैसिकल सिद्धान्त में सभी प्रकार के सम्भ्रम (confusion) उत्पन्न होते थे क्योंकि लोग अपनी बचत का 'संचय' कर लेते थे तथा उसे उधार देना नहीं चाहते थे अथवा केवल अत्यधिक ब्याज की दर पर ही ऋण देना चाहते थे। केन्सीय प्रणाली के लिए यह बिल्कुल सारहीन है कि जब तक लोग अपनी सम्पूर्ण आय का उपभोग नहीं करते तथा विनियोग पदार्थों को (जिन्हें बचत प्रदर्शित करती है) खाली नहीं छोड़ देते तब तक वे अपनी बचत को उधार दें या नहीं। इन विनियोग पदार्थों का प्रयोग साहसोद्यमी या तो लोगों की बचत को ऋण लेकर अथवा बैंक की सृजित मुद्रा से ऋण लेकर करते हैं। इस प्रकार, लोगों की बचत का महत्व यह नहीं है कि उन्हें ऋण लेकर विनियोग किया जाता है वरन् यह है कि बचत विनियोग पदार्थों को प्रदर्शित करती है जिनका वर्तमान में उपयोग नहीं हुआ है तथा वे साहसोद्यमियों को आगे उत्पादन के लिये उपलब्ध हैं। यह इस बात को प्रदर्शित करता है कि किस प्रकार आर्थिक विकास का अर्थप्रबन्धन सृजित मुद्रा द्वारा होता है।

यहाँ पर इस बात की प्रशंसा करनी चाहिए कि यद्यपि केन्स ने संस्थिति में बचत को विनियोग के बराबर माना तथा रोजगार के सिद्धान्त की व्याख्या स्थैतिक दशाओं के अन्तर्गत की, फिर भी केन्सीय सिद्धान्त में बिना मौलिक परिवर्तन किए इसे प्रवैगिक दशाओं में लागू किया जाना भी पूर्णतः सम्भव है। यह तब सम्भव है जब विनियोज्य आय, अर्थात् अतीत की आय जो वर्तमान समय में उपभोक्ताओं को उपलब्ध होती है, में से बचत पर विचार करें तथा वर्तमान समय की प्रदा जो उपभोक्ताओं को बाद के समय में उपलब्ध होगी उससे सम्बन्धित विनियोग पर विचार करें। विकासशील अर्थव्यवस्था जिसमें राष्ट्रीय आय तथा प्रदा में वृद्धि हो रही है विनियोग अवश्य ही बचत से अधिक होगा जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण में दिखलाया गया है

(करोड़ रुपये में)

	प्रथम अवधि १९६०	द्वितीय अवधि १९६१	तृतीय अवधि १९६२
राष्ट्रीय आय (=राष्ट्रीय प्रदा)	८,०००	१०,०००	१२,०००
विनियोज्य आय की १०% बचत		८,००	
प्रवर्तमान प्रदा के १०% का विनियोग		१,०००	

जिससे दूसरी अवधि में १,००० करोड़ रुपये का विनियोग ८०० करोड़ रुपये की बचत से अधिक है।

परन्तु जब अतिरिक्त विनियोग के परिणाम स्वरूप आय में वृद्धि हो जाती है तब पुन: बचत एवं विनियोग फिर बराबर हो जाते हैं। यद्यपि केन्स ने स्थैतिक स्थितियों को मान लिया था, फिर भी बिना मौलिक अन्तर के प्रस्तुत किये इस सिद्धान्त को प्रवैगिक दशाओं के अन्तर्गत भी लागू किया जा सकता है।

केन्सीय सिद्धान्त के विरुद्ध यह आलोचना की जाती है कि विनियोग, आय तथा बचत में सन्तुलन उतना सुगम तथा सरल नहीं होता जितना कि मान लिया गया है। वास्तविक व्यवहार में गुणक प्रक्रिया अवरुद्ध गति से कार्य करती है तथा समय-समय पर अनेक चलों (variables) में परिवर्तन हुआ करता है, इसलिए निश्चितता के साथ अन्तिम परिणाम को नहीं बतलाया जा सकता। परन्तु यह आलोचना केन्स के सिद्धान्त की ही नहीं है वरन् सभी आर्थिक सिद्धान्तों की है। आर्थिक सिद्धान्त के निष्कर्ष पूर्ण सुगमता के साथ कभी भी वास्तविक व्यवहार में लागू नहीं होते तथा सन्तुलन बहुधा धीमा तथा असंयत होता है। केवल हम इतनी ही आशा रख सकते हैं कि सिद्धान्त सन्तुलन की सामान्य दिशा को इंगित करदे तथा उस प्रक्रिया को बतला दे जिससे संतुलन होने की सम्भावना है।

यह भी तर्क प्रस्तुत किया गया है कि रोजगार का केन्सीय सिद्धान्त अर्धविकसित देशों में लागू नहीं होता, इसलिए यह सामान्य सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। केन्सीय सिद्धान्त प्रत्येक जगह—पूर्ण विकसित पुँजीवादी देश, समाजवादी देश, तथा अर्ध-विकसित देश—लागू होगा यदि इसके सभी अनुमान व्यवहार में पाये जाँय। इस सिद्धान्त में ऐसा कुछ भी नहीं है जिससे कि यह अर्धविकसित देशों में न लागू हो। इस सिद्धान्त की अनेक परिकल्पनाओं में से एक परिकल्पना यह है कि जब विनियोग किया जाता है तब श्रम, संयन्त्र तथा मशीन, कच्चे माल तथा अन्य उत्पादन के साधन प्रयोग के लिए उपलब्ध हो जाँय तथा विनियोग के परिणामस्वरूप वस्तुओं की पूर्ति बाजार में इतनी बढ़ जाय जिससे अधिक किये गये विनियोग के कारण उपभोक्ताओं के पास आयी हुई अधिक आय प्रतिसन्तुलित (counter-balance) हो जाय। अर्धविकसित अर्थव्यवस्थाओं में कठिनाई यह रहती है कि यद्यपि इनमें श्रम तो पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध रहता है परन्तु आवश्यक ज्ञान, मशीन तथा कच्चे माल नहीं उपलब्ध रहते जिससे वस्तुओं का शीघ्र उत्पादन कर उन्हें बाजार में नहीं भेजा जा सकता। परिणामस्वरूप यद्यपि उपभोक्ताओं के हाथ में आय बढ़ जाती है परन्तु वस्तुओं की पूर्ति साथ-साथ नहीं बढ़ती। इससे विकास की प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाती है तथा स्फीतिक दशायें उत्पन्न हो जाती है क्योंकि वस्तुओं की माँग में वृद्धि के साथ पूर्ति में

अध्याय २१

व्यापार चक्र
(Trade Cycle)

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियायें सदैव एक प्रकार के स्तर पर नहीं रहतीं। रोजगार, प्रदा तथा आय में सदा ऊर्ध्वगामी तथा निम्नगामी परिवर्तन हुआ करते हैं जो आवर्ती (periodic) होते हैं तथा जिनमें लहर के समान स्पन्दन होते हैं। हमें दीर्घकालीन चक्रों (जो पचास से साठ वर्ष तक वर्तमान रहते हैं) तथा अल्पकालीन चक्रों, जिन्हें व्यवसाय या व्यापार चक्र कहते हैं (जो कम अवधि के होते हैं और जो एक वर्ष से १० अथवा १२ वर्षों तक वर्तमान रहते हैं) के अन्तर को स्पष्ट कर लेना चाहिए।

व्यापार चक्र के विषय में अनेक सिद्धान्त हैं परन्तु वे उच्चतर अध्ययन के विषय हैं। इस अध्याय में केवल समस्या का प्रारम्भिक विवरण ही दिया गया है तथा इतना ही बतलाया गया है कि व्यापार चक्र का स्वरूप क्या होता है, इसके प्रमुख कारण क्या हैं, तथा इसके दूर करने के क्या उपाय हैं।

परिभाषा. व्यापार चक्र का अर्थ होता है "समूहीकृत क्रियाओं, विशेषकर समूहीकृत प्रदा तथा रोजगार, में हुए उतार-चढ़ाव"। यहाँ पर इस बात को स्पष्ट कर देना चाहिए कि प्रदा में परिवर्तन जो व्यापार चक्र के प्रमुख अंग होते हैं वे मुख्यतः रोजगार में परिवर्तन के कारण होते हैं। निःसन्देह प्रदा में परिवर्तन बिना रोजगार के परिवर्तन के भी हो सकते हैं—इसका सबसे मुख्य उदाहरण फसल में परिवर्तन है। परन्तु समूहीकृत प्रदा में हुए अल्पकालीन परिवर्तन जिसके कारण व्यापार चक्र होते हैं वे रोजगार में परिवर्तन हुए बिना नहीं होते। फिर भी, इस बात को स्वीकार किया जाता है कि फसल परिवर्तन तथा अन्य वाह्य उथल-पुथलों का इस प्रकार के चक्रों को उत्पन्न करने में बहुत महत्व होता है। व्यापार चक्र की अन्य बहुत सी परिभाषायें हैं परन्तु हम उनका यहाँ वर्णन नहीं करेंगे।

प्रकृति. क्लैसिकल अर्थशास्त्री—ऐडम स्मिथ, रिकार्डो तथा अन्य —'से' के बाजार नियम पर आश्रित थे जिसके अनुसार पूर्ति मांग का स्वतः सृजन कर लेती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जो कुछ भी उत्पादन किया जाता है वह अपने बराबर आय का भी सृजन करता है तथा जब उस आय को व्यय कर दिया जाता है, जैसा होना आवश्यक है यदि पर्याप्त दीर्घकाल को लिया जाय, तब जिन वस्तुओं का

उत्पादन हुआ है वे वस्तुएँ स्वतः ही बिक जायेंगी। किसी वस्तु का विशेष अधि-उत्पादन तथा अल्प-उत्पादन हो सकता है परन्तु एक समष्टि दृष्टि रखने पर कोई सामान्य अधि-उत्पादन अथवा 'अल्प-उत्पादन' हो ही नहीं सकता। यदि यह मत सही है तब अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की स्थिति को पहुँच जायेगी तथा इसी स्थिति में सदैव रहेगी और तब व्यापार चक्र नहीं होगा। परन्तु दुर्भाग्यवश 'से' का नियम कुछ अवास्तविक परिकल्पनाओं पर आधारित है, अतः यह वास्तविक जगत की बातों को नहीं समझा सकता। वास्तविक व्यवहार में, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति अपने आप नहीं आ जाती तथा यदि पूर्ण रोजगार की स्थिति 'आती भी है तो वह अधिक समय तक स्थापित नहीं रहती। अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं में उच्चावचन अवश्य ही होता रहता है। कभी कम रोजगार, कम प्रदा तथा कम आय की स्थिति रहती है और कभी अधिक रोजगार, अधिक प्रदा तथा अधिक आय की।

व्यापार चक्र में अनेक अवस्थाओं को अलग किया जा सकना सम्भव है—तेजी, संकट, मन्दी तथा पुनरूत्थान। तेजी की स्थिति पहुँचने के पूर्व तीव्र उत्तेजित क्रियायें होती हैं तथा कीमत, मजदूरी और ब्याज की दर में वृद्धि के साथ-साथ रोजगार, प्रदा तथा राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि होती जाती है। वातावरण 'आशाजनक' रहता है तथा प्रत्येक व्यक्ति अच्छे भविष्य की कल्पना रखता है। चूँकि मनुष्यों तथा पदार्थों के रूप में उपलब्ध सभी संसाधनों का प्रयोग पूर्ण रोजगार के निकटतम सम्भव स्तर तक होता है तथा उपलब्ध बचत और बैंक साख का पूर्णरूपेण प्रयोग किया जाता है, इसलिए तेजी की दशायें उत्पन्न हो जाती हैं जिनकी विशेषतायें होती हैं ऊँची मजदूरी, ऊँचे मूल्य तथा तीव्र आर्थिक क्रियायें। परन्तु कुछ कारणों से—जिनकी व्याख्या अभी की जायगी —यह तेजी की दशा अधिक समय तक नहीं रह सकती तथा इस तेजी के विस्फोट के कारण आर्थिक संकट अवश्य उत्पन्न होगा। जब ऐसा होता है तब कुछ श्रम रोजगार से निकाल दिये जाते हैं, कुछ मिलें बन्द हो जातीं हैं तथा आय में कुछ संकुचन हो जाता है, जिनके परिणामस्वरूप उपभोक्ताओं की माँग में कुछ कमी हो जाती है। इससे आर्थिक क्रियाओं में निम्नगामी संचयी परिवर्तन प्रारम्भ होने लगता है जिससे मनुष्यों तथा पदार्थों की बेरोजगारी में वृद्धि और मजदूरी, ब्याज की दर तथा कीमतों में कमी होने लगती है। जब तक निम्नगामी परिवर्तन पूर्ण होता है तब अर्थव्यवस्था निम्नतम बिन्दु को पहुँच जाती है जिसे अवसाद (depression) कहते हैं जिसकी विशेषतायें होतीं हैं मनुष्यों और पदार्थों की सर्वव्यापी बेरोजगारी, बचत का संचय, निम्न राष्ट्रीय प्रदा तथा आय, कम माँग, भविष्य के बारे में निराशा तथा व्यावसायिक समाज में हताश की भावना। परन्तु जिस प्रकार तेजी अधिक

समय तक नहीं रह सकती, उसी प्रकार अवसाद भी अधिक समय तक नहीं रह सकता तथा शीघ्र ही पुनरूत्थान होने लगता है और रोजगार, समूहीकृत प्रदा तथा राष्ट्रीय आय, कीमत, मजदूरी और ब्याज की दर में वृद्धि होने लगती है तथा एक बार आर्थिक क्रियाओं में पुनः संचयी ऊर्ध्वगामी परिवर्तन होने लगता है जिसका अन्तिम परिणाम है आर्थिक तेजी।

पुनरूत्थान, तेजी, संकट तथा अवसाद से सम्बन्धित सम्पूर्ण अवधि को व्यावसायिक चक्र अथवा व्यापार कहते हैं। सम्पूर्ण प्रक्रिया एक वर्ष, ढाई वर्ष, सात वर्ष, बारह वर्ष, अथवा इसी प्रकार की अवधि ले सकती है। इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बातें ये हैं: (१) इस प्रकार के परिवर्तनों में सामयिकता रहती है; (२) आर्थिक क्रियाओं में ऊर्ध्वगामी तथा निम्नगामी परिवर्तन संचयी होते हैं; तथा (३) चक्रीय परिवर्तन अर्थव्यवस्था के किसी एक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहते वरन् एक साथ कृषि, उद्योग, व्यापार तथा सभी क्षेत्रों को प्रभावित करते हैं। यहाँ इस बात को स्पष्ट कर देना चाहिए कि व्यापार चक्र के अध्ययन में हम समूहीकृत समष्टिभावी आर्थिक दृष्टि रखते हैं तथा किसी व्यक्ति विशेष की प्रदा तथा आय को ध्यान में नहीं रखते और न ही किसी एक वस्तु अथवा कुछ वस्तुओं की माँग और पूर्ति को ध्यान में रखते हैं। व्यापार चक्र के अध्ययन में हम समूहीकृत रोजगार, समूहीकृत प्रदा, तथा समूहीकृत राष्ट्रीय आय को ध्यान में रखते हैं।

व्यापार चक्र के कारण

व्यापार चक्र के कारण को समझाने वाले अनेक सिद्धान्त हैं परन्तु ये उच्चतर अध्ययन के विषय हैं इसलिए इनका वर्णन इस पुस्तक में नहीं किया जायेगा।

अर्थशास्त्रियों में इस विषय में सामान्य सहमति प्रतीत होती है कि (१) व्यापार चक्र की चार स्पष्ट अवस्थायें होती हैं—पुनरुत्थान, तेजी, संकट तथा अवसाद; (२) व्यापार चक्र लहर के सदृश तथा सामयिक होता है; (३) संस्थानिक, मनोवैज्ञानिक तथा मौद्रिक कारणों से व्यापार चक्र उत्पन्न होता है तथा प्रत्येक चक्र की तीव्रता, विस्तार तथा अवधि में भिन्नता प्रवर्तमान दशाओं के अनुकूल होती है; तथा (४) व्यापार चक्र का प्रभाव सम्भवतः अन्तर्राष्ट्रीय होता है। इसका अर्थ यह है कि एक देश में तेजी तथा अवसाद की दशायें अपना आवश्यक प्रभाव अन्य देशों पर भी उत्पन्न करती हैं। यदि काफी दृढ़ पुनरुत्थान अथवा संकट किसी देश में उत्पन्न होता है तब कालान्तर में उसका प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़ेगा। फिर भी, एक देश की अर्थव्यवस्था को अन्यत्र की तेजी तथा स्फीतिक दशाओं के परिणामों से उचित मौद्रिक, राजकोषीय तथा अन्य नीतियों द्वारा बचाया जा सकता है। परन्तु 'उसे अन्यत्र के

अवसाद तथा मुद्रा संकुचन के कुप्रभावों से सदा नहीं बचाया जा सकता क्योंकि अवसाद तथा मुद्रा संकुचन कच्चे पदार्थों, आंशिक निर्मित तथा पूर्ण निर्मित पदार्थों की माँग में कमी कर देते हैं। यदि किसी देश की प्रदा की माँग में कमी हो जाती है तब उससे सम्बन्धित उद्योग और वाणिज्य को अवश्य ही हानि होगी तथा इसकी तीव्रता इस बात पर आधारित है कि वह देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर कितना आश्रित है।

जेवन का सूर्य-स्थल सिद्धान्त (Sun-spot theory). व्यापार चक्र के वास्तविक कारण के विषय में अर्थशास्त्रियों में मतभेद है। जेवन के सूर्य-स्थल सिद्धान्त के अनुसार सूर्य की क्रियाओं में परिवर्तन के फलस्वरूप व्यापार चक्र उत्पन्न होता है। यदि सूर्य पर बहुत से स्थल होते हैं तथा सूर्य की शक्ति में कमी हो जाती है तब फसल खराब होती है, प्रदा में कमी हो जाती है, आय घट जाती है तथा अवसाद की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसके विपरीत जब सूर्य की क्रियाओं में वृद्धि हो जाती है तब अच्छी फसल होती है, प्रदा तथा आय में वृद्धि हो जाती है और अधिक तेजी की दशायें उत्पन्न होने लगती हैं। आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में, जब कृषि पदार्थ प्रमुख प्रदा थे तब सूर्य-स्थल सिद्धान्त आर्थिक क्रियाओं के परिवर्तनों को समझाने में कुछ सहायक सिद्ध हो सकता था। परन्तु आज जब प्रमुख प्रदा निर्मित पदार्थ समझा जाता है तब सूर्य-स्थल सिद्धान्त समूहीकृत रोजगार तथा प्रदा में हुए परिवर्तनों को सम्भवतः नहीं समझा सकता।

हाट्रे का मौद्रिक सिद्धान्त. हाट्रे के शुद्धतः मौद्रिक सिद्धान्त के अनुसार कुछ मौद्रिक तथा साख परिवर्तन व्यापार चक्र की आवश्यक तथा पर्याप्त दशायें हैं। यदि ब्याज की दर कम है, तब साहसोद्यमी विनियोग के लिये अधिक रूपया ऋण लेने के लिए प्रेरित होते हैं तथा इससे आर्थिक क्रियाओं में वृद्धि होती है। परन्तु जब रोजगार, प्रदा तथा आय में वृद्धि हो जाती है तब शीघ्र ही एक ऐसा समय आता है जब साख की अत्यधिक मांग होने लगती है जिसे बैंक बिना अपने नकद परिकोष में कमी किये नहीं पूरा कर सकते। जब आर्थिक तेजी की दशायें विकसित हो जाती हैं तब अपने हितों की सुरक्षा करने के लिए बैंक ब्याज की दर में वृद्धि कर देते हैं। इससे साख की लागत में वृद्धि होने के कारण अर्थव्यवस्था में तीव्र अवरोध उत्पन्न हो जाता है जिससे नवीन विनियोग हतोत्साहित हो जाते हैं। यह भी सम्भव है कि कुछ परि-योजनायें बीच में ही छोड़ दी जायँ। आर्थिक क्रियाओं में यह अचानक कमी संकट उत्पन्न कर देती है तथा अन्ततोगत्वा अवसाद की स्थिति आ जाती है। इस प्रक्रिया में व्यापारी वर्ग अधिक महत्वपूर्ण कार्य करता है। वह अपने पास वस्तुओं की राशि को बाजार में उस समय बेचने के उद्देश्य से संग्रहित करके रखता है जब कि उपभोक्ता उनकी माँग करें। यदि ब्याज की दर में वृद्धि हो जाती है तब इन स्टाकों को रखना

और भी महँगा हो जाता है। इसलिए वणिक वस्तुओं के लिए कम आर्डर देता है। परिणाम स्वरूप मिलों में कम उत्पादन होता है। यदि यह स्थिति बनी रहती है तब उत्पादकों की उत्पादन योजनाओं में भयंकर कमी हो सकती है जिससे अवश्य ही संकट उत्पन्न हो जायेगा तथा अवसाद का समारम्भ होने लगेगा।

हायेक का मौद्रिक अधि-विनियोग सिद्धान्त. स्वेडेन स्कूल द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त में, जिसे बहुधा प्रोफेसर एफ० ए० वॉन हायेक के नाम से सम्बद्ध किया जाता है, व्यापार चक्र का प्रमुख कारण उत्पादन में विरूपण (distortion) का होना है। एक 'प्राकृतिक' ब्याज की दर होती है जिस पर, संस्थिति में, समूहीकृत बचत समूहीकृत विनियोग के ठीक बराबर होती है। यदि ब्याज की बाजार दर तथा प्राकृतिक दर में कोई अन्तर नहीं है तब कोई कठिनाई नहीं होगी क्योंकि साहसोद्यमी उतनी ही विनियोग पदार्थों का उत्पादन करेंगे जिनकी भविष्य में इन बचतों के विनियोग करने के लिए वास्तव में आवश्यकता होगी। मान लीजिये प्राकृतिक ब्याज की दर १० प्रतिशत है तथा, संस्थिति में, कुल १०,००० करोड़ रुपये में से लोग ८,००० करोड़ रुपये का व्यय प्रवर्तमान उपभोग पर करते हैं तथा २,००० करोड़ रुपये बचा लेते हैं। यदि साहसोद्यमी केवल प्राकृतिक ब्याज की दर द्वारा निर्देशित होते तब वे २,००० करोड़ रुपये के बराबर विनियोग पदार्थों तथा ८,००० करोड़ रुपये के बराबर उपभोग पदार्थों का उत्पादन करते और सब कुछ ठीक ही रहता। परन्तु यदि ब्याज की बाजार दर––जिसके पूर्ति पक्ष का निर्धारण ऋण देने योग्य कोष जिसमें न केवल लोगों की बचत शामिल है वरन् ये बचत (जिसमें पूर्व बचत का असंचयन भी शामिल है) तथा बैंक साख होती हैं––मान लीजिए ३ प्रतिशत है, तब साहसोद्यमी इस गलत धारणा में कि वचत की अधिक दर होने के कारण ब्याज की दर कम है, यह आशा रखते हैं कि विनियोग पदार्थों की भावी माँग, मान लीजिये, ३,००० करोड़ रुपये के बराबर होगी। अतः वे उससे अधिक विनियोग पदार्थों के उत्पादन करने की योजना बनाते हैं जितनी कि वास्तव में भविष्य में माँग की जायेगी। इससे विनियोग पदार्थ के उद्योगों की क्रियाओं में वृद्धि हो जाती है। परन्तु जब वास्तव में वस्तुओं के बेचने का समय आता है तब लोगों की बचत तो केवल २,००० करोड़ रुपये के बराबर होती है, और वे केवल इतने रुपये के बराबर ही विनियोग पदार्थों की माँग करते हैं परन्तु अपनी अज्ञानता के कारण साहसोद्यमियों ने ३,००० करोड़ रुपये के बराबर माँग की आशा की थी। इससे साहसोद्यमी विनियोग पदार्थों को छोड़कर उपभोग पदार्थों का उत्पादन करना प्रारम्भ कर देते हैं जिससे विनियोग पदार्थों से सम्बन्धित उद्योग अस्त-व्यस्त हो जाते हैं और बेरोजगारी उत्पन्न हो जाती है। इससे प्रदा तथा आय में कमी हो जाती है और संकट तथा अवसाद की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

उत्पादन के स्वरूप में विरूपण का यह अर्थ होता है कि साहसोद्यमी ३,००० करोड़ रुपये के बराबर विनियोग पदार्थों का उत्पादन करने तथा केवल ७,००० करोड़ रुपये के बराबर उपभोग पदार्थों (संस्थिति में १०,००० करोड़ रुपये के बराबर समूहीकृत राष्ट्रीय प्रदा में से) के उत्पादन की योजना बनाते हैं जब कि वास्तव में लोग २,००० करोड़ रुपये के बराबर विनियोग पदार्थों तथा ८,००० करोड़ रुपये के बराबर उपभोग पदार्थों की माँग करते हैं। यदि उत्पादन के स्वरूप में विरूपण न होता तथा साहसोद्यमी २,००० करोड़ रुपये के बराबर विनियोग पदार्थों तथा ८,००० करोड़ रुपये के बराबर उपभोग पदार्थों के उत्पादन करने की योजना बनाये होते तो कोई भी व्यापार चक्र न हुआ होता। अतः उत्पादन के स्वरूप में विरुपण ही व्यापार चक्र का प्रमुख कारण है।

शुम्पीटर का सिद्धान्त. शुम्पीटर ने व्यापार चक्र के प्रतिभास को साहसोद्यमियों द्वारा प्रयुक्त प्रवर्तनों की सहायता से समझाया। प्रवर्तन का अर्थ नयी वस्तुओं का उत्पादन, उत्पादन में नवीन विधि तथा प्रणाली का प्रयोग, नये बाजार खोलना, पूर्ति के नवीन श्रोतों पर विजय, एकाधिकारिक स्थिति का लाना अथवा एकाधिकारिक स्थिति को तोड़ना हो सकता है। ये प्रवर्तन यदि क्रमिक गति से आते हैं तब ये कोई हानि नहीं करेंगे परन्तु शुम्पीटर के अनुसार ये एक साथ तीव्र गति से उत्पन्न होते हैं। प्रंवर्तनों की यह तीव्रता ही कुछ समय अत्यधिक उत्पादक क्रियायें उत्पन्न करती है जिसका परिणाम आर्थिक तेजी होती है तथा कुछ समय बाद आर्थिक क्रियायें मन्द पड़ जाती हैं जिससे अवसाद उत्पन्न हो जाता है।

जब प्रवर्तनों की नवीनता समाप्त हो जाती है तथा परिवर्तित परिस्थिति के अनुकूल अर्थव्यवस्था संतुलित हो जाती है तब आर्थिक क्रियायें मन्द पड़ जाती हैं तथा अवसाद उत्पन्न हो जाता है। परन्तु एक अवधि के अन्त में जब सम्पूर्ण प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है तब राष्ट्रीय प्रदा तथा आय पहले समय की अपेक्षा ऊँचे स्तर पर हो जाते हैं जिससे साहसोद्यमी अन्य प्रकार के प्रवर्तनों को प्रयोग करने के लिए सोचने लगते हैं जिससे आर्थिक क्रियाओं में ऊर्ध्वगामी परिवर्तन होने लगता है।

केन्सीय सिद्धान्त. केन्सीय सिद्धान्त के अनुसार व्यापार चक्र का मौलिक कारण यह है कि कुछ समय पूँजी की सीमान्त कुशलता ब्याज की दर से अधिक होती है जिससे साहसोद्यमी अपनी विनियोग क्रियाओं में वृद्धि करने के लिए प्रेरित होते हैं जिससे अन्ततः आर्थिक तेजी की स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। तथा दूसरे समय पूँजी की सीमान्त कुशलता ब्याज की दर से कम होती है जिससे साहसोद्यमी नवीन प्रकार के विनियोग को करने में हिचकिचाते हैं, जिससे कालान्तर में अवसाद उत्पन्न हो जाता है। चूँकि पूँजी की सीमान्त कुशलता, श्रम तथा मशीन की सीमान्त उत्पादकता,

प्रदा के स्तर, व्यावसायिक मनोविज्ञान, पूँजी पदार्थों की पूर्ति मूल्य, इत्यादि अनेक कारणों पर आधारित है, अतः व्यापार चक्र अर्थव्यवस्था में अनेक प्रकार की परिवर्तन-शील दशाओं पर आधारित है। एक महत्वपूर्ण कारण जिस पर सम्भावित प्राप्ति, जो साहसोद्यमी किसी आदेय से पाने की आशा रखते हैं (अर्थात् उसकी सीमान्त कुशलता), आश्रित है, वह है उस आदेय द्वारा उत्पादित वस्तु की सम्भावित माँग। इस आशय में, अल्प-उपभोग जो आंशिक रूप से पूँजी की सीमान्त कुशलता को ब्याज की दर से कम करने का उत्तरदायी है, व्यापार चक्र का सबसे महत्वपूर्ण कारण हो जाता है।

जब आर्थिक तेजी की अवस्था आने लगती है तब उपभोक्ताओं की माँग अधिक हो जाती है; साहसोद्यमी भविष्य के बारे में आशान्वित हो जाते हैं; प्रवर्तमान पूँजी आदेयों में अत्यधिक प्रतियोगिता भी नहीं रहती तथा पूँजी की सीमान्त कुशलता ब्याज की दर से अधिक रहती है। ऐसी स्थिति में विनियोग-क्रियायें तीव्र हो जाती हैं जिनसे तेजी की दशायें उत्पन्न हो जाती हैं। परन्तु ज्यों-ज्यों आय में वृद्धि तथा उपभोग की सीमान्त प्रवणता में कमी होती जाती है, त्यों-त्यों उपभोग माँग में सापेक्षिक संकुचन होने लगता है और उसी समय अगणित पूँजी आदेयों में अत्यधिक प्रतियोगिता भी प्रारम्भ हो जाती है तथा नवीन पूँजी आदेयों की उत्पादन लागत बढ़ जाती है। इससे पूँजी की सीमान्त कुशलता ब्याज की दर से कम हो जाती है, जिससे अर्थव्यवस्था में निम्नगामी परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है जिससे अन्ततः आर्थिक अवसाद उत्पन्न हो जाता है।

सामंजस्य. यद्यपि अर्थशास्त्रियों में आर्थिक तेजी तथा मन्दी के स्पष्ट कारणों के विषय में सामान्य सहमति नहीं है, परन्तु सभी इस बात को स्वीकार करते हैं कि जब आर्थिक तेजी की दशायें आने लगती हैं तब ब्याज की दर में कमी आने लगती है, पूँजी की सीमान्त कुशलता अधिक हो जाती है, आशान्वित भावना उत्पन्न हो जाती है, नवीन प्रवर्तन होते हैं तथा विनियोग पदार्थ उद्योगों में उपभोग पदार्थ उद्योगों की अपेक्षा अधिक प्रसार होने लगता है। तीव्र आर्थिक क्रियायें होती हैं तथा उपभोग का माँग स्तर ऊँचा हो जाता है जिससे अन्ततः आर्थिक तेजी उत्पन्न हो जाती है, मजदूरी, कीमतें, और लोगों की आय ऊँची हो जाती हैं तथा पूर्ण रोजगार की दशायें उत्पन्न हो जाती हैं।

परन्तु जब कच्चे मालों, रसायनिक पदार्थों, मानवीय शक्ति, बैंक साख तथा पूँजी की कमी प्रारम्भ हो जाती है तब विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की माँग और पूर्ति में सामंजस्य का अभाव पाया जाता है और समय-विलम्ब काफी बड़ा हो जाता है, तब आर्थिक तेजी की दशायें अधिक समय तक नहीं रह सकतीं और एक संकट-काल आ जाता है जिसका परिणाम आर्थिक अवसाद होता है।

जब आर्थिक अवसाद निकट आने लगता है तब व्याज की दर, उत्पादन लागत, तथा कीमतें बढ़ने लगती हैं, भावी बिक्री के बारे में लोगों को संदेह होने लगता है, तथा पूँजी की सीमान्त कुशलता में कमी हो जाती है जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्यों तथा पदार्थों की बेरोजगारी में वृद्धि, राष्ट्रीय प्रदा एवं आय में कमी, तथा निम्न स्तर की आर्थिक क्रियायें होने लगती हैं।

जिस प्रकार आर्थिक तेजी अधिक समय तक नहीं रह सकती उसी प्रकार आर्थिक मन्दी भी अधिक समय तक नहीं रहती। जब मशीन घिसने लगती है तब मशीनों के हटाने तथा नवीनीकरण की नई माँग उत्पन्न हो जाती है। जब थोक बिक्रेताओं का स्टाक समाप्त हो जाता है तब वे नये आर्डर देने लगते हैं। जनसंख्या की वृद्धि, तथा सार्वजनिक निर्माण कार्यों में सरकार के व्ययों एवं परिव्ययों में वृद्धि होने के फलस्वरूप वस्तुओं की नवीन माँग का सृजन हो जाता है। इससे अनुकूल मनोवैज्ञानिक दशाओं का सृजन हो जाता है तथा साहसोद्यमी धीरे-धीरे अपनी क्रियाओं को पुनः करना प्रारम्भ कर देते हैं। नवीन प्रवर्तनों का प्रयोग किया जाने लगता है तथा नवीन दिशाओं में उत्पादन होने लगता है जिससे कच्चे पदार्थों, संसाधनों तथा मानवीय शक्ति की नयी माँग सृजित हो जाती है। इनसे आर्थिक क्रियाओं में पुनः प्रसार होने लगता है जिससे आर्थिक तेजी की दशायें उत्पन्न हो जाती हैं। इसी प्रकार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं में ऊर्ध्वगामी तथा निम्नगामी परिवर्तन होते रहते हैं जो संचयी तथा सर्वव्यापी होते हैं।

व्यापार चक्र रोकने के उपाय

जैसा कि केन्स ने कहा है "व्यापार चक्र को दूर करने की उचित विधि यह नहीं है कि आर्थिक तेजी को समाप्त कर दिया जाय और हमें हमेशा अर्ध-मन्दी स्थिति में रखा जाय; वरन् आर्थिक मन्दी को समाप्त कर दिया जाय और हमें हमेशा अर्ध-तेजी की अवस्था में रखा जाय।" सर्वोत्तम तो यह है कि तेजी की दशाओं को सदा बनाए रखा जाय परन्तु लोकतान्त्रिक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में ऐसा नहीं किया जा सकता। केवल हम इतना ही करने की आशा रख सकते हैं कि आर्थिक तेजी की दशाओं पर नियन्त्रण रखकर तथा उन प्रवृत्तियों को जो अर्थव्यवस्था में आर्थिक मन्दी उत्पन्न करती हैं रोककर व्यापार चक्र की भयंकरताओं को कम कर सकें।

आर्थिक मन्दी दूर करने के लिये. आर्थिक मन्दी को रोकने की एक विधि 'सस्ती मुद्रा नीति' है जिसका अर्थ है कि मौद्रिक प्राधिकारी जानबूझकर ब्यजा की दर को कम करे जिससे साहसोद्यमिक विनियोग क्रियायें प्रोत्साहित हों। आर्थिक मन्दी के काल में कठिनाई यह हो जाती है कि पूँजी की सीमान्त कुशलता कम रहती

है तथा साहसोद्यमी के लिए ब्याज की दर में कमी होना उस समय तक उतना महत्व नहीं रखता जब तक बिक्री की भावी संभावनाएँ उज्ज्वल नहीं हो जातीं। भविष्य के बारे में अपनी आशाओं के आधार पर ही साहसोद्यमी विनियोग क्रियायें करते हैं, केवल ब्याज की दर में कमी इस कार्य के लिए पर्याप्त नहीं होती। विकट आर्थिक मन्दी की स्थिति में 'सस्ती मुद्रा-नीति' उद्योगों के पुनरुत्थान के लिए अनुकूल वातावरण का सृजन कर सकती है परन्तु इससे अधिक और कुछ भी नहीं कर सकती।

आर्थिक मन्दी को रोकने की एक प्रभावशाली विधि है सरकार द्वारा सार्वजनिक निर्माण कार्यों का किया जाना। इसका अर्थ यह है कि राज्य आर्थिक मन्दी के समय सड़कों, पुलों, अस्पतालों तथा औद्योगिक इकाइयों का निर्माण करे जिससे इन क्रियाओं के फलस्वरूप मानव शक्ति, कच्चे पदार्थों तथा अन्य वस्तुओं की माँग के फलस्वरूप लोगों की आय में वृद्धि हो जाय और परिणामतः उपभोग का स्तर भी ऊँचा हो जाय। इससे न केवल वस्तुओं की माँग में ही वृद्धि होगी वरन् इससे अधिक महत्वपूर्ण प्रभाव यह होगा कि साहसोद्यमी भविष्य के बारे में अधिक आशान्वित हो जायेंगे। आर्थिक मन्दी के काल में सबसे महत्वपूर्ण बात यह होनी चाहिए कि किसी प्रकार कार्य संचालित कर दिया जाय और शेष कार्य तो सार्वजनिक निर्माण की योजनायें सम्पन्न कर देंगी।

परन्तु सरकार के सार्वजनिक निर्माण कार्यों को प्रभावपूर्ण होने के लिए कई बातें आवश्यक हैं: (१) ये पहले से ही तैयार किए गए हों ताकि उचित समय पर प्रारम्भ किये जा सकें। इससे कोई लाभ नहीं होगा यदि सार्वजनिक निर्माण कार्य उस समय तैयार किये जाते हैं जब आर्थिक मन्दी शुरू होने लगती है। यदि उचित समय पर यह परियोजना प्रारम्भ की जाती है तभी यह आर्थिक मन्दी को रोकने में प्रभावपूर्ण हो सकती है, (२) इनसे सार्वजनिक राजकोष पर अत्यधिक भार नहीं पड़ना चाहिए, (३) जहाँ तक हो सके इसे उत्पादक होना चाहिए जिससे यह वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति में वृद्धि करने में सहायक हो सके तथा अपना व्यय स्वयं निकाल सके। परन्तु जहाँ तक आर्थिक मन्दी को रोकने का प्रश्न है, वहाँ तक गड्ढा खोदने और उसे पुनः भरने सदृश भी सार्वजनिक निर्माण कार्य पर्याप्त हो जाता है क्योंकि इससे लोगों की आय में वृद्धि हो जाती है तथा परिणामतः उपभोग स्तर ऊँचा हो जाता है। परन्तु व्यापक दृष्टिकोण रखने पर ऐसी योजना सफल नहीं हो पायेगी तथा आर्थिक मन्दी को रोकते समय सरकार सम्भवतः सार्वजनिक निर्माण कार्यों के परोक्ष प्रभावों की अवहेलना नहीं करती। अतः जहाँ तक हो सके इस प्रकार की योजनाओं को उत्पादक होना चाहिए।

और भी अनेक मौद्रिक तथा राजकोषीय विधियाँ हैं जिनका प्रयोग सरकार आर्थिक मन्दी को रोकने के लिए कर सकती है। यह सुझाव दिया जाता है कि आर्थिक मन्दी के समय सरकार को कच्चे मालों तथा निर्मित पदार्थों का संग्रह करना प्रारम्भ कर देना चाहिए जिससे वस्तुओं की बिक्री से लोगों की आय में वृद्धि हो सके तथा आशावादी भावना उत्पन्न हो जाय। परन्तु राशि संग्रह की योजना को सफल होने के लिए यह आवश्यक है कि इसे पर्याप्त होना चाहिए तथा इसका संगठन अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर होना चाहिए। इसके अतिरिक्त इसमें अधिक राशि का व्यय होता है तथा कुछ देश ऐसी योजना के संचालन की स्थिति में नहीं हो सकते। दूसरी विधि यह है कि मन्दी के समय अधिक साख की सुविधायें प्रदान कर किस्त पर क्रय करने की प्रणाली को प्रोत्साहन दिया जाय। सरकार भी योग्य उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान कर सकती है तथा उन्हें कर से छूट प्रदान कर सकती है ताकि लोग अपने उपभोग में वृद्धि कर सकें।

आर्थिक तेजी रोकने के लिए. 'मंहगी मुद्रा नीति' जिसमें जान बूझकर ब्याज की दर में वृद्धि की जाती है, आर्थिक तेजी को रोकने में प्रभावपूर्ण नहीं हो सकती क्योंकि ब्याज दर उत्पादन लागत का केवल एक अल्प भाग ही होती है। जब तक भावी सम्भावनायें उज्जल रहती हैं तब तक उत्पादक तथा सौदागर अधिक वस्तुओं की मात्रा को बेचने की आशा रखते हैं तथा ऊँची ब्याज दर के होते हुए भी अधिक उत्पादन तथा संग्रह करना जारी रखते हैं। फिर भी कुछ सीमा तक ब्याज की ऊँची दर आर्थिक तेजी को रोकने में वहाँ तक सहायक हो सकती है जहाँ तक यह लोगों को अधिक द्रव्य बचा कर ऊँचे ब्याज की दर से लाभ प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है। जिस सीमा तक ऐसा होता है, उस सीमा तक प्रर्वतमान उपभोग की समूहीकृत मांग में कमी हो जायेगी तथा बाजार में क्रय शक्ति की कमी हो जाने के कारण आर्थिक तेजी को नियंत्रण के बाहर होने से रोका जा सकता है।

साख नियंत्रण की विधि भी आर्थिक तेजी को रोकने में सहायक नहीं हो सकती तथा कभी-कभी तो स्थिति को और भी खराब कर सकती है यदि इसके कारण साहसोद्यमी बित्त की कमी के कारण उत्पादन में बृद्धि करने में समर्थ नहीं हो पाते। यद्यपि सामान्य साख निचोड़ उचित नीति नहीं भी हो सकती, परन्तु गुणात्मक साख नियंत्रण अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों के उन स्फीतिक प्रभावों को रोकने में सफल हो सकता है जो नियंत्रण से बाहर हो रहे थे, और इस प्रकार आर्थिक तेजी की तीव्रता को कम किया जाना सम्भव है।

जिस प्रकार सार्वजनिक निर्माण कार्य आर्थिक मन्दी को रोकने में सहायक होते हैं, उसी प्रकार ये आर्थिक तेजी की दशाओं को भी रोकने में सहायक हो सकते हैं

यदि इन कार्यों को या तो कम कर दिया जाय या इन्हें भविष्य के लिए स्थगित कर दिया जाय। इससे मानव शक्ति, कच्चे माल तथा अन्य बस्तुओं, जिनकी मांग आर्थिक तेजी के काल में निजी उद्योगों की मांग के कारण अधिक थी, उसमें कमी हो जायेगी। परन्तु सार्वजनिक कार्यों को स्थगित करना तथा उनमें उस सीमा तक कटौती कर देना सम्भव नहीं होता जितना अर्थव्यवस्था के स्फीतिक दबावों को कम करने के लिए आवश्यक है।

आर्थिक तेजी को रोकने की एक महत्वपूर्ण विधि है मजदूरी में अत्यन्त कमी कर देना तथा 'कर-अवकाश' उस समय तक घोषित कर देना जब तक अर्थव्यवस्था में स्फीतिक दशायें विद्यमान हैं। मुद्रा मजदूरी दर तथा रोजगार के वास्तविक सम्बन्ध के विषय में अर्थशास्त्रियों में विवाद है परन्तु चाहे कम मजदूरी श्रमिकों को अधिक रोजगार प्रदान करेगी अथवा नहीं, इतना तो निश्चित है कि अधिक मजदूरी दर उद्योग की उत्पादन लागत में वृद्धि कर देती है जिससे 'लागत स्फीति' उत्पन्न हो जाती है तथा बाजार में वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती हैं। इसके अतिरिक्त अधिक मजदूरी लोगों की क्रय शक्ति में वृद्धि कर देती है जिससे अर्थव्यवस्था में स्फीतिक शक्तियाँ और भी सुदृढ़ हो जाती हैं। आर्थिक तेजी की दशा प्रारम्भ हो जाने पर मजदूरी दर में कमी करना सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसा करने से श्रमिकों की आर्थिक कठिनाइयाँ विशेषत: उस समय और भी बढ़ जायेंगी जब कि वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती हैं। अत: सर्वोत्तम नीति तो यह प्रतीत होती है कि संकट काल में श्रमिक स्वयं अपनी मजदूरी में कटौती कराना स्वीकार करें। साथ-साथ सरकार को 'कर अवकाश' भी घोषित कर देना चाहिए जिससे अधिक करों (उत्पादन तथा आयात कर, निगम कर, तथा बिक्री कर) से उद्योग की उत्पादन लागत में वृद्धि न हो जाय। व्यय तथा अन्य प्रत्यक्ष करों में वृद्धि भी लोगों को प्रवर्तमान उपभोग पर अधिक व्यय करने से रोक सकती है। अत: इस प्रकार की नीति आर्थिक तेजी रोकने के लिए बिल्कुल न्याय संगत है।

आर्थिक तेजी को नियन्त्रित करने की सबसे प्रभावशाली विधि यह है कि स्फीतिक दशाओं को निम्न विधियों से रोका जाय।

(१) प्रवर्तमान उत्पादक क्षमता से उत्पादन में वृद्धि प्रति इकाई श्रम की उत्पादकता में वृद्धि करके की जाय जिससे लोगों की अधिक क्रय शक्ति के बराबर ही अतिरिक्त वस्तुएँ और सेवायें अर्थव्यवस्था में आ जायँ। यदि अधिक उत्पादन नवीन विनियोगों द्वारा सम्भव होता है तब स्थिति और भी खराब हो जायेगी, क्योंकि इस दशा में लोगों की आय में भी वृद्धि हो जायेगी जिससे स्फीतिक शक्तियाँ और भी जटिल हो जायेंगी। आर्थिक तेजी को नियन्त्रित करने के लिए आवश्यकता इस

बात की है कि वस्तुओं और सेवाओं की प्रदा में वृद्धि बिना लोगों की क्रय शक्ति में वृद्धि किए ही की जा सके। परन्तु सम्भावना इस बात की है कि तेजी की स्थितियों में प्रवर्तमान उत्पादक शक्तियों का पूर्ण प्रयोग तो हुआ ही रहता है तथा श्रमिकों की उत्पादकता में और अधिक वृद्धि करने की सम्भावना नहीं रहती। इससे आर्थिक तेजी को रोकने की इस विधि की प्रभावशालिता कम हो जाती है।

(२) उपभोग तथा आय बस्तुओं का आयात किया जाये जिससे उन बस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि हो जाय जिन पर लोग अपनी अतिरिक्त क्रय शक्ति का व्यय करते हैं।

(३) सार्वजनिक व्यय में मितव्ययिता की जाये तथा अधिकांश व्यय को जहाँ तक सम्भव हो सके भविष्य के लिए स्थगित कर दिया जाये।

सरकार की राजकोषीय, मौद्रिक, औद्योगिक, श्रम तथा व्यापारिक नीतियों के सुव्यवस्थित सामंजस्य तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से आर्थिक तेजी की दशाओं पर नियंत्रण कर, अर्थव्यवस्था को आर्थिक अवसाद के संकट से बचाया जा सकता है।

अध्याय २२

पूँजीवाद एवं समाजवाद

(Capitalism and Socialism)

एक ओर पूँजीवाद तथा अधिनायकवाद में और दूसरी ओर साम्यवाद, राजकीय समाजवाद, संघ समाजवाद (guild socialism), संघाधिपत्यवाद (syndicalism) तथा फेबियन समाजवाद में महान अन्तर है। समाजवाद तथा पूँजीवाद के विभिन्न प्रकारों में भी कुछ विस्तार सम्बन्धी अन्तर होता है। इस अध्याय में हम केवल समाजवाद तथा पूँजीवाद पर विचार करेंगे, इनके विस्त्रित भेद पर विचार नहीं करेंगे।

पूँजीवाद. इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में निजी स्वामित्व रहता है तथा इसका प्रमुख उद्देश्य लाभ अर्जित करना होता है। निजी स्वामित्व न केवल चल तथा अचल सम्पत्तियों पर रहता है वरन् भूमि, पूँजी (अर्थात् लोगों की बचेंत) तथा श्रम (काम करने का अधिकार) इत्यादि उत्पादन के साधनों पर भी रहता है। उत्पादन का संगठन लाभ के आधार पर किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप जो अधिक कुशल होते हैं वे अधिक लाभ अर्जित करते हैं, तथा जो अकुशल होते हैं वे कम लाभ प्राप्त करते है।

समाजवाद. इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में निजी स्वामित्व का अधिकार नहीं रहता तथा कार्य की प्रेरक लाभ भावना नहीं वरन् सेवा भावना होती है। समाजवाद के कई प्रकार हैं। एक ओर तो अराजकतावादी (anarchist) होते हैं जो किसी भी प्रकार की सरकार में विश्वास नहीं करते; दूसरी ओर राजकीय समाजवाद है जिसमें राज्य का स्वामित्व उत्पादन के साधनों पर रहता है तथा उनका प्रयोग भी वही करता है। संघ समाजवाद तथा संघाधिपत्यवाद के अन्तर्गत उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व तथा संचालन संघ अथवा सिन्डीकेट का होता है, इनमें लाभ भावना उस आशय में नहीं होती जिस आशय में पूँजीवाद के अन्तर्गत रहती है, तथा प्रत्येक वस्तु पर केन्द्रीय प्राधिकारी का स्वामित्व रहता है। फेबियन समाजवाद, साम्यवाद तथा पूँजीवाद के मध्य की स्थिति है। इसके अन्तर्गत यद्यपि व्यक्तिगत प्रतियोगिता तथा लाभ भावना का अभाव रहता है परन्तु लोकतंत्र सुरक्षित रहता है तथा व्यक्तियों के निहित अधिकारों का आदर किया जाता है।

मिश्रित-अर्थव्यवस्था. एक ऐसी प्रणाली भी सम्भव है जिसमें कुछ विशेषतायें पूँजीवाद की तथा कुछ विशेषतायें समाजवाद की विद्यमान हों। ऐसी प्रणाली को

मिश्रित-अर्थव्यवस्था कहते हैं। भारत में इसने समाजवादी समाज प्रणाली का रूप ग्रहण किया है जिसमें कुछ उद्योगों का स्वामित्व तथा संचालन राज्य करता है तथा कुछ क्षेत्रों में निजी उद्यम (private enterprise) कार्य करते हैं। फिर भी, मिश्रित-अर्थव्यवस्था अथवा समाजवादी समाज प्रणाली तथा कल्याणकारी राज्य में भेद करना चाहिए। कल्याणकारी राज्य दर्शन अधिक है, प्रणाली कम। फेबियन समाजवाद के सदृश्य प्रदा के न्यायोचित वितरण पर यह अधिक जोर देती है परन्तु समाजवाद की तरह निजी उद्योगों से उत्पादन अपने हाथ में लेने का प्रयास नहीं करती। कल्याणकारी राज्य के अन्तर्गत अनेक सामाजिक सेवायें तथा सामाजिक बीमा की अनेक विधियाँ प्रचलित रहती हैं। इनका भुगतान कर की आय से किया जाता है, जिसका भार ऊँची श्रेणी की आय के व्यक्तियों पर पड़ता है।

साम्यवाद. यह समाजवाद का चरम रूप है तथा यह दर्शन अधिक है और आर्थिक प्रणाली कम। इसका सिद्धान्त कार्ल मार्क्स् और फ्रेड्रिक एन्जिल्स द्वारा जारी किए गए १८४८ के 'कम्यूनिस्ट मेनिफेस्टो' तथा मार्क्स की पुस्तक 'कैपिटल' पर आधारित है। साम्यवादी निजी उद्योग में विश्वास नहीं करते और न ही इसे स्वीकार करते हैं कि व्यवसायिक वर्ग के व्यक्तियों को लाभ अर्जित करना चाहिये। वे समाज का विभाजन दो वर्गों में करते हैं: (१) सर्वहारा वर्ग (proletariat) अथवा वे जो मजदूरी अथवा वेतन के लिए कार्य करते हैं, और (२) पूँजीवादी अथवा पूँजीजीवि वर्ग (bourgeoise) जो उत्पादन के साधनों के मालिक होते हैं तथा जो श्रमिकों को कार्य पर नियोजित करते हैं। साम्यवादियों का यह विश्वास है कि केवल श्रमिक ही उत्पादन करते हैं,पूँजीपति केवल जीवोपजीवी (parasites) होते हैं, जो आवश्यक मजदूरी तथा वेतन देने के उपरान्त उत्पादन के अतिरेक का अपहरण कर लेते हैं। अत: सर्वहारा वर्ग को अवश्य विद्रोह करके पूँजीपतियों को समाप्त कर देना चाहिए। साम्यवादियों के सत्ताग्रहण कर लेने के उपरान्त, पूँजीपतियों को समाप्त करने के उद्देश्य से तानाशाही (dictatorship) की स्थापना करनी चाहिए। समुदाय के अधिक तथा सामाजिक जीवन का संचालन कम्यूनिस्ट पार्टी द्वारा होता है, जो एक अल्पमत या प्रमुख अंग होती है। कम्यूनिस्ट सिद्धान्त एक ऐसे समय की परिकल्पना करता है जब राज्य समाप्त हो जाय (wither away) क्योंकि उस समय तक नागरिक यह भली भांति सीख लेते हैं कि सबके हित के अनुसार बिना दबाव के कैसे रहा जाता है। साम्यवाद का एक विशेष तत्व यह है कि केवल एक ही उचित राय हो सकती है जिसे पूरी पार्टी मानती है। जब समाज में प्रत्येक व्यक्ति इसे समझ लेता है और इसी उचित मत के अनुसार कार्य करता है तब साम्यवाद की अवस्था प्राप्त हो जाती है।

अधिनायकवाद (Fascism). इस प्रकार की अर्थव्यवस्था पूँजीवाद की चरम स्थिति होती है जिसमें निजी सम्पत्ति तथा लाभ भावना का पूर्ण क्षेत्र रहता है, परन्तु सत्ता एक राजनैतिक दल में होती है। अन्य राजनीतिक दल समाप्त कर दिए जाते हैं तथा एक व्यक्ति की तानाशाही स्थापित हो जाती है। अधिनायकवाद एक उच्च प्रकार का राष्ट्रीय आन्दोलन है तथा 'सर्वश्रेष्ठ जाति' (master race) के सिद्धान्त पर आधारित है—जैसा कि जर्मनी में हिटलर के समय तथा इटली में मुसोलिनी के समय था—जो न केवल सरकार की व्यवस्था करती है, वरन् देश की सभी क्रियाओं पर प्रभावपूर्ण नियंत्रण रखती है।

प्रमुख विशेषतायें

आय की असमानता. पूँजीवाद की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें लोगों की आय की असमानता फलतः सम्पति की असमानता (१) निजी स्वामित्व तथा उत्तराधिकार के अधिकार पर, तथा (२) कार्य करने की क्षमता पर आधारित होती है। पूँजीवाद के अन्तर्गत यदि किसी व्यक्ति के पास आवश्यक प्रतिभा है तब वह अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक रुपया अर्जित कर विशाल राशि संचित कर सकता है। यदि किसी व्यक्ति के पास सम्पत्ति है तो वह चाहे तो उसे अपने पास रख सकता है या उत्तराधिकार के अन्तर्गत अपनी सन्तति को दे सकता है। आधुनिक युग में, यद्यपि आय अर्जित करने का अधिकार, प्रसंविदा की स्वतंत्रता, तथा उत्तराधिकार के अधिकार पूँजीवाद के अन्तर्गत स्वीकार किए गये हैं, फिर भी वास्तविक व्यवहार में आय अर्जित करने की मात्रा तथा अपनी सन्तति को हस्तान्तरित करने की सम्पत्ति की मात्रा पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। सरकार द्वारा आय, सम्पत्ति, उत्तराधिकार इत्यादि अनेक कर लगाये जाते हैं तथा वह उद्योग एवं आर्थिक क्रियाओं का विनियमन भी करती है। जब हम पूँजीवाद की समाजवाद से तुलना करते हैं तब हमें अनियमित पूँजीवाद पर विचार नहीं करना चाहिए वरन् नियंत्रित पूँजीवाद पर विचार करना चाहिए जिसमें राज्य निजी सम्पत्ति तथा लाभ उद्देश्य पर प्रभावपूर्ण नियंत्रण रखता है।

समाजवाद के अन्तर्गत भी आय में अन्तर इन दो प्रमुख कारणों द्वारा हो सकता है : (१) विभिन्न व्यक्तियों की आवश्यकताओं तथा महत्व का समाज द्वारा मूल्यांकन जो मुख्यतः व्यक्ति को प्राप्त सामाजिक लाभांश की राशि द्वारा व्यक्त होता है, तथा (२) मजदूरी में भिन्नता का होना जिससे लोगों में प्रोत्साहन बढ़े तथा अधिक प्रयास का प्रतिकार दिया जा सके। समाजवाद में आय की भिन्नता सम्पत्ति के

स्वामित्व तथा उत्तराधिकार की असमानता के कारण नहीं होती। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि समाजवाद के अन्तर्गत आय की भिन्नता हो सकती हैं परन्तु (१) इसमें उतना अन्तर नहीं होता जितना कि पूँजीवाद में होता है, तथा (२) निर्धन तथा धनी व्यक्तियों की आय में प्रगामी वृद्धि नहीं होगी क्योंकि जो कुछ भी थोड़ा अन्तर रहता है वह शुद्धता कुशलता के कारण होता है, सम्पत्ति की असमानता के कारण नहीं। समाजवादी राज्य में, एक व्यक्ति के पास रखे जाने वाली सम्पत्ति की कुल मात्रा पर नियंत्रण रखा जाता है तथा आय की कुछ भिन्नता के होते हुए भी सम्पत्ति में विषम असमानता उत्पन्न ही नहीं होती ।

स्वतंत्रता तथा लोकतंत्र. यह कहा जाता है कि पूँजीवाद में स्वतन्त्रता तथा लोकतंत्र रहता है जिसका समाजवाद में अभाव रहता है। विचार, अभिव्यक्ति तथा कार्य की स्वतन्त्रता (१) मनुष्य के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए, (२) कला, साहित्य एवम् विज्ञान में सृजनात्मक कार्य करने के लिए, तथा (३) वास्तविक लोक तन्त्र सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक है। लोग स्वतन्त्रता तथा स्वच्छन्दता चाहते हैं, परन्तु इनका अभाव समाजवाद में रहता है। इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि अनियंत्रित स्वच्छन्दता तथा स्वतंत्रता हानि भी पहुँचा सकती है क्योंकि इससे लोग बेकार बातों को सोचना प्रारम्भ कर सकते हैं तथा विघटन की प्रवृत्तियाँ सुदृढ़ हो सकती हैं ।

समाजवादियों का यह दावा है कि जिस प्रकार की स्वतंत्रता पूँजीवाद के अन्तर्गत मिलती है वैसी स्वतंत्रता की आवश्यकता मनुष्य की पूर्ण प्रगति तथा विकास के लिए आवश्यक नहीं है। इसके अतिरिक्त, यह कहा जाता है कि समाजवाद के अन्तर्गत भी लोकतंत्र तथा स्वतंत्रता इस आशय में पायी जाती है कि (१) राज्य द्वारा अनुमत सीमित दायरे के भीतर लोग जो भी करना चाहें वह करने के लिए स्वतंत्र रहते हैं, (२) पार्टी की मीटिंग तथा प्राविधिज्ञों, रसायनशास्त्रियों और इन्जिनियरों की सभा में जहाँ उत्पादन की समस्याओं का निर्णय होता है वे अपना मत स्पष्ट रूप से व्यक्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त समाजवाद में तानाशाही तो केवल स्थायी होती है तथा इसका प्रयोग पूँजीवादी समाज के संघर्षों को दूर करने तथा पूँजीपति वर्ग को समाप्त करने के लिए किया जाता है। जब समाजवादी समाज की स्थापना पूर्ण रूपेण हो जाती है तब तानाशाही समाप्त हो जायेगी तथा पूर्ण स्वतंत्रता एवं लोकतन्त्र की स्थापना हो जायेगी।

भविष्य के बारे में निश्चितता के साथ कुछ कह सकना सम्भव नहीं है, तथा समाजवादी देशों का अब तक का अनुभव यह बतलाता है कि वहाँ स्वतंत्रता और लोक-तन्त्र जैसी वस्तु नहीं है तथा लोग न केवल अप्रसन्न हैं वरन् इन देशों में स्वतंत्रता और

लोकतंत्र के अभाव के कारण कला एवं साहित्य का मन्द तथा अव्यवस्थित ढंग से विकास होता है।

मूल्य प्रक्रिया (Price mechanism). पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के बारे में यह कहा जाता है कि मूल्य प्रक्रिया द्वारा उपलब्ध संसाधनों का विनियोजन तथा सर्वोत्तम प्रयोग सम्भव है। मूल्य प्रक्रिया का अर्थ होता है परिवर्तनशील दशाओं के अन्तर्गत पूर्ति, माँग तथा मूल्य का सन्तुलन। मान लीजिये, उत्पादकों ने किसी वस्तु का उत्पादन १५० रुपये की लागत पर किया तथा उपभोक्ता या तो इस वस्तु को इतनी कीमत पर नहीं खरीदना चाहते अथवा वे इस वस्तु को बिल्कुल ही नहीं खरीदना चाहते। परिणाम यह होगा कि कीमत घट जायेगी और यदि फिर भी वस्तु की माँग नहीं की जाती तब उसकी कीमत और भी घटती जायेगी तथा भविष्य में उत्पादक इस वस्तु का उत्पादन नहीं करेंगे। इसी प्रकार यदि उपभोक्ता प्रवर्तमान कीमत पर इसी वस्तु की और भी माँग करते हैं तब भविष्य में इस वस्तु का अधिक उत्पादन होगा। किस वस्तु का उत्पादन होना चाहिए, कितनी मात्रा में उत्पादन होना चाहिए तथा किस कीमत पर क्रेताओं को बेचना चाहिए, इन बातों का निर्णय उत्पादक उपभोक्ताओं की रुचि के आधार पर करते हैं। पूँजीवाद के अन्तर्गत उपभोक्ता की सार्वभौमता (consumer sovereignty) का यही अर्थ है। चूँकि लोकतंत्र में वैसा ही होना चाहिए जैसा कि लोग चाहते हैं, अतः मूल्य प्रक्रिया इस बात को सुनिश्चित करती है कि जहाँ तक वस्तुओं के उत्पादन, वितरण, तथा विनिमय का सम्बन्ध है, वहाँ तक उपभोक्ताओं की पूर्ण सार्वभौमता रहती है।

सिद्धान्त में मूल्य प्रक्रिया की कार्यविधि राष्ट्रीय संसाधनों का सर्वोत्तम विनियोजन तथा उपयोग कराने में समर्थ होती है। परन्तु यहाँ इस बात को व्यक्त कर देना चाहिए कि वास्तविक व्यवहार में सदा ऐसा नहीं होता क्योंकि लाभ में वृद्धि करने के लिए कुछ साहसोद्यमी अनेक उपाय कर सकते हैं: (१) जानबूझ कर गलत बस्तुओं का उत्पादन कर उन्हें विज्ञापन, प्रचार तथा विवेचन की अन्य विधियों द्वारा उपभोक्ताओं को खरीदने के लिए बाध्य कर सकते हैं; (२) बिना राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखे कुछ संसाधनों का अविचारतः प्रयोग कर सकते हैं, जैसा कि भारत में स्वतंत्रता के पूर्व काल में हुआ था जब कि कोयले की खानों का उपयोग अविवेकपूर्ण ढंग से किया गया, तथा राष्ट्रीय हित को बिना ध्यान में रखे ही केवल निजी लाभ के लिए कोयले का निर्यात किया गया; तथा (३) लाभ की भावना से प्रेरित होने के कारण औद्योगिक स्वरूप में विच्छित्तियाँ (gaps) रह सकती हैं जैसा कि भारत में स्वतंत्रता के पूर्व था जब मशीन बनाने वाले उद्योग, विद्युत इन्जिनियरिंग उद्योग, तथा बड़े रसायनिक उद्योगों के विकास की अवहेलना की गयी और सूतीवस्त्र तथा चीनी उद्योग इत्यादि

में अत्यधिक भीड़ हो गयी। अतः यह निश्चितता के साथ नहीं कहा जा सकता कि वास्तविक व्यवहार में, अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति के अन्तर्गत अनियंत्रित मूल्य प्रक्रिया द्वारा सर्वोत्तम परिणाम होगा ही।

समाजवाद के अन्तर्गत यद्यपि लागत तथा कीमत की कसौटी उत्पादकों को उपलब्ध नहीं रहती, परन्तु इसमें कुछ ऐसी वैकल्पिक विधियाँ हैं जो मूल्य प्रक्रिया के समान ही प्रभावपूर्ण होती हैं। दी हुई क्षमता के आधार पर केन्द्रीय प्राधिकारी जन संख्या की सम्पूर्ण आवश्यकताओं का परिकलन करेगा और उपलब्ध संसाधनों का विस्तृत सर्वेक्षण करेगा तथा इस प्रकार के अध्ययन से जैसा निर्देशित होगा उसी अनुपात में वस्तुओं का उत्पादन किया जायेगा। इसे स्वीकार किया जाता है कि आवश्यकताओं तथा संसाधनों का इस प्रकार से अध्ययन अपूर्ण रहेगा परन्तु प्रारम्भ में एक सामान्य अनुमान भी पर्याप्त होगा।

निःसन्देह इस प्रकार के परिकलन में कुछ सीमा तक स्वेच्छाचारिता का अंश विद्यमान रहता है, परन्तु यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि इस प्रकार की स्वेच्छाचारिता से लोग कम प्रसन्न या कम समृद्धिशाली होंगे क्योंकि पूँजीवाद के अन्तर्गत भी उत्पादकों तथा विक्रेताओं के निर्णय कुछ हद तक मनमाने हुआ करते हैं। समाजवादी अर्थव्यवस्था में यदि किसी दिशा में प्रयुक्त संसाधन लोगों की आवश्यकताओं से अधिक रहते हैं तब अतिरेक का हस्तान्त्रण वैकल्पिक प्रयोग में कर दिया जायेगा। इसके विपरीत, यदि विनियोजित संसाध्नों से लोगों की आवश्यकताएँ अधिक हैं तब अधिक संसाधनों का हस्तान्तरण यहाँ हो जायेगा। परन्तु यदि किसी वस्तु अथवा सेवा की राष्ट्रीय आवश्यकताएँ, सभी प्रकार के समायोजनों के उपरान्त भी उपलब्ध संसाधनों से अधिक होती है तब इसका समाधान यह है कि उस स्तर तक लोगों के जीवन स्तर को कम कर दिया जाय।

राष्ट्रीय लाभांश का वितरण प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों के पूर्व निर्धारित जीवन-स्तर के आधार पर किया जा सकता है। यह कार्य कठिन है तथा इसमें कुछ अंश तक स्वेच्छाचारिता का अंश भी विद्यमान है, परन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि पूँजीवाद की अपेक्षा यह वितरण कम कुशलता अथवा अधिक स्वेच्छाचारिता से होगा।

गुण तथा दोष

उत्पादन का स्तर. पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का सबसे महान दावा यह है कि इसके अन्तर्गत लाभ भावना के कारण उत्पादकता (productivity) में वृद्धि अधिकतम सम्भावित स्तर तक होती है। चूँकि लाभ कार्य की कुशलता पर आधारित है इसलिए साहसोद्यमी अपने लाभों में वृद्धि करने के लिए अपना सर्वोत्तम प्रयास करते

हैं। यह इस बात को सुनिश्चित करता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना सर्वोत्तम प्रयास करे तथा उत्पादन और उत्पादकता में वृद्धि अधिकतम सीमा तक हो। इसके विपरीत, यदि भुगतान को प्रयास से अलग कर दिया जाय तथा, जैसा कि समाजवाद के अन्तर्गत होता है, भुगतान आवश्यकता के आधार पर किया जाय तब लोगों के आलसी हो जाने की सम्भावना है तथा वे सर्वोत्तम प्रयास नहीं करेंगे। निजी उद्योगों में, लाभ भावना एक संचालक शक्ति का कार्य करती है। एक निजी उत्पादक अपना सर्वोत्तम प्रयास इसलिए करता है कि यदि वह ऐसा नहीं करे तो उसकी आय कम हो जायेगी। लाभ भावना उत्पादकों को सतर्क तथा कर्त्तव्यनिष्ठ रखती है। समाजवाद के अन्तर्गत लाभ भावना कार्य नहीं करती क्योंकि इसमें तो कल्याणकारी विचार अधिक प्रमुख हो जाते हैं तथा भुगतान लोगों के उत्पादक प्रयास के अनुपात में नहीं दिया जाता।

समाजवाद के अन्तर्गत लाभ भावना के स्थान पर निम्नलिखित एक तथा अधिक भावनाएँ कार्य करती हैं: (१) कत्तव्य के प्रति निष्ठा, (२) हिंसा का भय, (३) एक सिद्धान्त के साथ लगाव। यह तो सबसे अच्छा हो यदि श्रमिकों में कर्त्तव्यनिष्ठा की भावना उत्पन्न हो जाय परन्तु इसे प्राप्त करना सदा सरल नहीं होता तथा कभी-कभी तो अल्पकाल के लिए यह भावना बड़ी कठिनाई से आती है। तीसरी भावना—एक सिद्धान्त के प्रति लगाव—ऐच्छिक तथा अधिक स्थायी हो सकती है परन्तु खतरा यह है कि इसके अन्तर्गत राजनीतिक विचारधाराओं द्वारा आर्थिक सिद्धान्त पूर्णतः परिवर्तित न कर दिए जाँय। इन विकल्पों में से सबसे निकृष्ट विकल्प है हिंसा का भय। यह कभी स्थायी नहीं होता। हम लोगों का यह अनुभव रहा है कि भय तथा चिन्ताएँ श्रमिकों के सर्वोत्तम गुणों का विनाश कर देती हैं तथा सुरक्षा के अभाव में, श्रमिक सर्वोत्तम प्रयास कभी भी नहीं कर सकते। इस बात को स्वीकार ही करना होगा कि समाजवाद में लाभ भावना का कोई उचित प्रतिस्थापक नहीं पाया जा सका है। समाजवाद की सबसे बड़ी निर्बलता, कम से कम सिद्धान्त में, यह है कि इसके अन्तर्गत उत्पादन तथा उत्पादकता की दर में वृद्धि उतनी तेजी से नहीं होतीं जितनी तेजी से पूँजीवाद के अन्तर्गत होती है। यद्यपि, सिद्धान्ततः ऐसा हो सकता है, परन्तु वास्तविक व्यवहार में अभी यह नहीं कहा जा सकता कि इस दिशा में समाजवाद विफल है। संयुक्त राज्य अमेरिका में जिस दर से उत्पादन तथा उत्पादकता में वृद्धि हो रही है, वे पूँजीवाद की सफलता के द्योतक हैं। परन्तु सोवियत संघ में भी उत्पादन, उत्पादकता तथा आधुनिक प्राविधियों में लगभग उसी गति से वृद्धि कुछ हो रही है। अतः इस निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव नहीं है कि वास्तविक व्यवहार में समाजवाद के अन्तर्गत उत्पादन उतने अधिक ऊँचे स्तर का नहीं हो सकता जितना कि पूँजीवाद के अन्तर्गत होता है।

वितरण की समस्या. जहाँ तक सम्पत्ति के वितरण का सम्बन्ध है, सैद्धान्तिक दृष्टि से, समाजवाद निस्सन्देह ही पूँजीवाद से श्रेष्ठ है क्योंकि इसके अन्तर्गत भुगतान आवश्यकताओं के अनुसार किया जा सकता है, तथा प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार प्रदान किया जाता है। परन्तु वास्तविक व्यवहार में, सामान्य व्यक्ति के कष्ट सोवियत संघ सदृश्य भी समाजवादी देशों में यदि अधिक नहीं तो समान अवश्य हैं, तथा यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सामान्य व्यक्ति के जीवन स्तर में निकट भविष्य में कोई अधिक सुधार होगा ही। समाजवादी देशों में राजनीतिक नेताओं, बुद्धिजीवियों तथा रसायन शास्त्रियों तथा इन्जिनियरों के रूप में एक नवीन पूँजीपति वर्ग तीव्रता से उत्पन्न होता जा रहा है जिसे आवश्यकता से कहीं अधिक सुविधाएँ तथा विशेषाधिकार उपलब्ध रहते हैं। यह सच है कि पूँजीवाद के अन्तर्गत सम्पन्नता तथा निर्धनता की चरम स्थितियाँ रहती हैं और सबसे खराब तो यह है कि निर्धन व्यक्तियों के निर्धन होने तथा धनी व्यक्तियों के और अधिक धनी होने की संचयी प्रवृत्ति विद्यमान रहती है। परन्तु अभी तक कुछ हाल के वर्षों में कल्याण कारी राज्य द्वारा धनी व्यक्तियों पर अधिक कर लगा कर तथा सामाजिक लाभ तथा निर्धन व्यक्तियों की दशा सुधारने पर अधिक व्यय कर, इन प्रवृत्तियों को काफी नियंत्रित किया जा सकता है। वर्तमान पूँजीवाद में राज्य धनी व्यक्तियों पर अनेक प्रकार के नियंत्रण लगाता है जिससे आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण तथा धनी व्यक्तियों द्वारा निर्धनों के शोषण में काफी कमी हो गयी है। इस प्रकार के किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता कि समाजवाद के अन्तर्गत सम्पत्ति का वितरण तथा अर्जन क्षमता पूँजीवाद की अपेक्षा अधिक समान तथा न्यायोचित होती है।

आर्थिक उच्चावचन. यह तर्क दिया गया है कि पूँजीवाद के अन्तर्गत पूर्ण रोजगार की प्राप्ति स्वतः नहीं हो पाती। उपभोक्ता की सार्वभौमता, परिणामतः समर्थ माँग, सभी संसाधनों को नियोजित करने के लिए पर्याप्त नहीं होती। जब आर्थिक विकास होता है तब पूर्ण रोजगार की स्थिति पहुँचने के पूर्व ब्याज की दर तथा अन्य उत्पादन लागतों में वृद्धि होने लगती है। इस प्रकार श्रम तथा अन्य संसाधनों की बेरोजगारी पूँजीवाद के आवश्यक तत्व होते हैं। परन्तु ऐसा समाजवाद के अन्तर्गत होना आवश्यक नहीं है क्योंकि यहाँ माँग और पूर्ति राज्य के नियंत्रण में होते हैं तथा उनका सामंजस्य इस प्रकार से किया जाता है कि पूर्ण रोजगार की स्थितियाँ आ जायें। वास्तव में यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि समाजवाद के अन्तर्गत बेरोजगार का कोई स्थान नहीं है क्योंकि राज्य का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह सबको रोजगार प्रदान करे।

इसके अतिरिक्त यह भी तर्क प्रस्तुत किया गया है कि यदि पूँजीवाद के अन्तर्गत किसी प्रकार से पूर्ण रोजगार प्राप्त भी किया जा सके तब भी अर्थव्यवस्था इस स्थिति में अधिक समय तक नहीं रहती और शीघ्र ही असन्तुलन उत्पन्न होकर आर्थिक अवसाद प्रारम्भ हो जाता है। अन्य शब्दों में, पूँजीवाद के अन्तर्गत चक्रीय उच्चावचन (cyclical fluctuations) तथा व्यापार चक्र हुआ करते हैं जिसमें आर्थिक तेजी तथा मन्दी, असंयत आर्थिक क्रियायें तथा लोगों को अत्यधिक कष्ट होते हैं, जबकि समाजवाद के अन्तर्गत ऐसी स्थिति नहीं उत्पन्न होती। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि समाजवादी अर्थव्यवस्था में व्यापार चक्र को जो शक्तियाँ उत्पन्न करती हैं वे या तो अनुपस्थित रहती हैं अथवा वे राज्य के नियंत्रण में रहती हैं।

अन्य शब्दों में यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि पूँजीवाद के अन्तर्गत पूर्ण रोजगार तथा कीमत-स्थिरता दोनों में संगत नहीं है। यदि पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो जाती है तब इसके परिणामस्वरूप अवश्य ही कीमतों में स्फीतिक वृद्धि होगी जिससे आर्थिक तेजी समाप्त होकर कुछ समय बाद आर्थिक अवसाद में परिणत हो जायेगी। इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात ध्यान देने योग्य यह है कि केवल अनियंत्रित पूँजीवाद के अन्तर्गत ही पूर्ण रोजगार की असंगत कीमत स्थिरता के साथ है। परन्तु समाजवाद की तुलना अनियंत्रित पूँजीवाद से करना उचित नहीं है। ऐसे पूँजीवादी समाज जिसमें राज्य महत्वपूर्ण कार्य करता है, उसमें, जैसा कि केन्स के सिद्धान्त ने प्रदर्शित किया है, पूर्ण रोजगार की स्थिति राज्य द्वारा विनियोग की क्रियायें करके तथा समर्थ माँग की विच्छित्तियों (gaps) को पूरा करके, लाई जा सकती है तथा आर्थिक स्थिरता सुनिश्चित की जा सकती हैं। आधुनिक राज्य के लिए राजकोषीय, मौद्रिक तथा अन्य विधियों द्वारा यह सम्भव है कि वह पूर्ण रोजगार की स्थिति लाते समय मूल्य में अत्यधिक वृद्धि तथा कमी होने से रोक दें तथा अधिक समय तक पूर्ण रोजगार की स्थिति रख सके।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता. पूँजीवाद की सबसे महान सफलता यह है कि यह व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सुनिश्चित करती है जो वाँच्छनीय उद्देश्य है। इस प्रकार की स्वतंत्रता के आधार पर ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का सर्वाधिक विकास कर सकता है, उपलब्ध संसाधनों का उपयोग सर्वाधिक लाभ के साथ कर सकता है तथा व्यक्तिगत आनन्द को सर्वाधिक कर सकता है। यद्यपि समाजवाद में कुछ सीमा तक स्वतंत्रता रहती है जिसकी सीमा के भीतर ही श्रमिक उत्पादन के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त कर सकते हैं, तथा जनता के प्रतिनिधि अपना दृष्टिकोण रख सकते है, परन्तु मौलिक स्वतंत्रता का जो लोगों को नियंत्रित

पूँजीवाद के अन्तर्गत भी मिलती है, समाजवाद में सर्वथा अभाव पाया जाता है। साम्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार, इस प्रकार की स्वतंत्रता उस समय उपलब्ध होगी जब पूँजीपति वर्ग पूर्ण रूप से समाप्त हो जाय तथा राज्य 'समाप्त' हो जांय और विश्व 'सामूहिक सामान्य कल्याण' के बन्धुत्व एवं स्वतंत्रता में संयुक्त हो जाय। इसमें महान् सन्देह है कि ऐसी स्थिति क्या कभी प्राप्त हो सकेगी; इस दृष्टिकोण से पूँजीवाद समाजवाद से श्रेष्ठ है।

अध्याय २३

गाँधीय अर्थशास्त्र

(Gandhian Economics)

जीवन का उद्देश्य सुख प्राप्त करना है तथा आर्थिक सिद्धान्त के अनुसार सुख के अन्तर्गत निहित है इच्छाओं एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के द्वारा संतोष का सर्वाधिकरण। वास्तविक अर्थशास्त्र इस बात पर जोर देता है कि स्वयं व्यक्ति ही इस बात का सर्वोत्तम निर्णायक होता है कि उसका सुख किसमें निहित है। उपलब्ध संसाधनों से प्रत्येक व्यक्ति उन्हीं आवश्यकताओं की संतुष्टि करता है जिनसे वह सोचता है कि उसे सर्वाधिक संतोष तथा अत्यधिक सुख की प्राप्ति होगी। यदि कोई व्यक्ति सिगरेट अथवा शराब पीना चाहता है, अथवा कुछ ऐसा कार्य करना चाहता है जिसे समाज अनुचित समझता है, तब वास्तविक अर्थशास्त्र के अनुसार, वह अपने हितों का सबसे अच्छा निर्णायक है तथा कोई दूसरा व्यक्ति उसे यह नहीं बतला सकता कि सर्वाधिक सुख की प्राप्ति के लिए उसे कौन सा कार्य करना चाहिए और कौन सा कार्य नहीं करना चाहिए। परन्तु जब हम केवल व्यक्ति पर ही नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज पर विचार करते हैं तथा एक समष्टि दृष्टिकोण रखते हैं, तब स्थिति भिन्न हो जाती है। इस बात का निर्णय करने के लिए कि एक व्यक्ति के कार्य से समाज का अधिकतम कल्याण होगा, वह व्यक्ति सर्वोत्तम निर्णायक नहीं हो सकता।

इस समस्या की व्याख्या करने के लिए वास्तविक अर्थशास्त्र पर्याप्त नहीं है तथा अर्थशास्त्र का एक नवीन भाग सामने आता है जिसे कल्याणकारी अर्थशास्त्र कहा जाता है। प्राचीन कल्याणकारी अर्थशास्त्र के अनुसार, जिसमें उपयोगिता को मापनीय माना गया है तथा जिसमें उपयोगिता की अन्तर्व्यक्तीय तुलना सम्भव है, समाज का आर्थिक कल्याण सर्वाधिक उस समय होगा जब एक व्यक्ति की क्रियाओं के परिणामस्वरूप, उसे उपयोगिता की प्राप्ति अन्य व्यक्तियों की अनुपयोगिताओं से अधिक होती है। नवीन कल्याणकारी अर्थशास्त्र के अनुसार जिसमें उपयोगिता को मापनीय नहीं माना जाता है तथा जिसमें उपयोगिता की अन्तर्व्यक्तीय तुलना सम्भव नहीं है, अपनी स्वयं की आवश्यकताओं की सन्तुष्टि से सामाजिक कल्याण सर्वाधिक केवल उसी समय हो सकता है जब व्यक्ति उन व्यक्तियों को जिन्हें उसकी क्रियाओं से हानि हुई है, क्षतिपूर्ति देने के उपरान्त भी पहले की अपेक्षा अच्छी स्थिति में हो। यथार्थ स्थिति यह है कि वास्तविक अर्थशास्त्र में आदर्शीय मूल्यांकन

निहित नहीं है तथा यह इस बात से मुक्त है कि क्या उचित और क्या अनुचित है; परन्तु कल्याणकारी अर्थशास्त्र नैतिक विचारों से मुक्त नहीं होता तथा इसमें क्या अच्छा है क्या बुरा, यह बहुत महत्व रखता है। कल्याणकारी अर्थशास्त्र में इस बात को ध्यान में रखा जाता है कि एक व्यक्ति की क्रियाओं का अन्य व्यक्तियों पर क्या प्रभाव पड़ता है तथा समाज कुछ आधारभूत आचरणों को निर्धारित करता है जिनके अनुसार व्यक्ति की क्रियाओं को होना चाहिए, यदि समाज के आर्थिक कल्याण को सर्वाधिक करना है।

आधारभूत उपगमन. वास्तव में गाँधीय अर्थशास्त्र आर्थिक सिद्धान्त नहीं है वरन् जीवन का एक दर्शन है। यह अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र को संयुक्त कर एक आचरण प्रणाली तथा आचार के नियमों का प्रतिपादन करता है जिसके अनुसार न केवल व्यक्ति का समाज के साथ वरन् अन्य व्यक्तियों के साथ भी सम्बन्ध होना चाहिए। यही गाँधीय अर्थशास्त्र की कल्याणकारी अर्थशास्त्र को देन है।

गाँधीय अर्थशास्त्र की महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक देन यह है कि जहाँ तक व्यक्ति का सम्बन्ध है, अपनी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि को सर्वाधिक करने से ही अधिकतम सुख की प्राप्ति नहीं हो जाती क्योंकि केवल भौतिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि से ही सुख की प्राप्ति नहीं होती, वरन् तृप्ति तथा आन्तरिक शान्ति में होती है जिनकी प्राप्ति केवल आवश्यकताओं के सर्वाधिक संतोष द्वारा ही नहीं हो सकती। चूँकि कुछ आवश्कताओं की संतुष्टि से सदैव कुछ दूसरी आवश्यकतायें भी उत्पन्न हो जाती हैं और चूँकि व्यक्ति के पास उन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं रहते इसलिए व्यक्ति हमेशा असन्तुष्ट तथा चिन्तित रहता है। गाँधीय अर्थशास्त्र के अनुसार, सुख प्राप्ति की विधि है आवश्यकताओं को जहाँ तक सम्भव हो वहाँ तक कम करना। इससे असन्तुष्टि तथा चिन्ता नहीं होगी जो उस समय हुई होती यदि सभी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने का प्रयास किया जाता।

यह कहना उचित नहीं होगा कि गाँधीय अर्थशास्त्र सुख प्राप्ति के विरुद्ध है। परन्तु इसका उद्देश्य वास्तविक सुख की प्राप्ति करना है जिसका सम्बन्ध मनुष्य के अन्तर्जगत से है तथा जो आत्मा की विशेषता है। पाश्चात्य अर्थशास्त्रियों के समान गाँधीय अर्थशास्त्र केवल आवश्यकताओं की सन्तुष्टि को वास्तविक सुख से सम्भ्रमित नहीं करता। यदि गाँधीय अर्थशास्त्र के इस आधारभूत सिद्धान्त को मान लिया जाय तब व्यक्ति के हितों और सामाजिक हितों के संघर्ष का, जो कल्याणकारी अर्थशास्त्र को जन्म देता है, बहुत कुछ महत्व कम हो जाता है। उपयोगितावादी दर्शन के आधार पर ऐडम स्मिथ तथा कुछ अन्य क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों ने यह बतलाया कि व्यक्ति जो कुछ भी अपने हित के लिए करता है वह स्वतः समाज के सर्वोत्तम हित में होता है।

गाँधीय दर्शन के अनुसार यदि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को सरल बना लेता है तथा उन पर जान बूझकर नियन्त्रण रखता है तब उसकी क्रियाओं से सम्भवतः समाज को हानि नहीं होगी; अतः अपने वास्तविक सुख को सर्वाधिक करने के लिए व्यक्ति जो कुछ करता है वह स्वतः ही समाज के सर्वोत्तम हित में होता है।

गान्धी जी ने केवल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ही मानवीय आवश्यकताओं को कम करने तथा आर्थिक संस्थाओं को सरल बनाने के लिए सुझाव नहीं दिया। गाँधीय अर्थशास्त्र के पीछे एक व्यावहारिक उद्देश्य भी है। गाँधीय अर्थशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों की समझने के लिए हमें इस बात को भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि जब उनके आर्थिक विचारों का निर्माण हो रहा था उस समय भारत में अत्यधिक बेरोजगारी, अपूर्ण-रोजगारी तथा निर्धनता थी। ग्रामों तथा नगरों में विशाल मात्रा में व्यक्ति बेरोजगार थे। यद्यपि कृषक कार्य में नियोजित थे फिर भी वे वर्ष में केवल चार अथवा छः महीने ही कार्य करते थे तथा वे छिपी हुई बेरोजगारी (disguised unemployment) से पीड़ित थे। कारीगर जो नित्य प्रयोग की जाने वाली वस्तुओं का उत्पादन करते थे वे भी पूर्ण रूप से नियोजित नहीं थे तथा उन्हें उतनी आय नहीं मिल पाती थी जिससे कि वे अपने तथा अपने परिवार के स्वास्थ तथा क्षमता को बनाये रख सकें। उद्योग में नियोजित श्रमिकों को भी इतनी मजदूरी नहीं मिल पाती थी जिससे कि वे अपने जीवन की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। यद्यपि बड़े व्यवसायिकों तथा व्यापारियों को काफी आय प्राप्त होती थी और वे सम्पत्ति का संचय कर रहे थे परन्तु अधिकांश जनता निर्धन तथा परिदलित थी। देश के औद्योगिकरण से, चाहे इसका जो भी महत्व रहा हो, अस्वास्थपूर्ण दशायें, गन्दी बस्तियाँ तथा नगरों में अत्यधिक भीड़ भाड़ उत्पन्न हुई। इससे न केवल श्रमिकों का ही नैतिक पतन हुआ वरन् सभी वर्गों के व्यक्तियों का ह्रास हुआ। समूहीकृत राष्ट्रीय आय में धीरे-धीरे वृद्धि हो रही थी परन्तु धनी और निर्धन व्यक्तियों की असमानता जो भारत में पहले से ही अधिक थी और भी विकट होती जा रही थी। धन का यह असमान वितरण अधिकांश व्यक्तियों को अप्रसन्न तथा असन्तुष्ट बनाने के लिए उत्तरदायी था। बृटिश शासकों द्वारा चलाई गई शिक्षा प्रणाली ने 'बाबुओं' को उत्पन्न किया जो शारीरिक श्रम करना नहीं पसन्द करते थे बल्कि दफ्तरों में कार्य करना चाहते थे। उनको ग्रामीण जीवन तथा ग्राम के कार्यों से घृणा उत्पन्न होने लगी। इसके परिणामस्वरूप, न केवल ग्रामों से प्रतिभाशाली एवं साहसोद्यमी व्यक्ति समाप्त होने लगे वरन् लोगों में एक विचित्र प्रकार की दास मनोवृत्ति उत्पन्न हो गयी जो राष्ट्र की नैतिक शक्ति को क्षीण बना रही थी। इसके अतिरिक्त, विदेशी सत्ता का बोझ सदैव था जो नैतिक दृष्टि से अपमानजनक था तथा जिससे लोग गरीब और परिदलित हो गए थे। इन संघर्षों

को दूर करने तथा देश की व्यावहारिक समस्याओं के समाधान के लिए ही गाँधीय अर्थशास्त्र का जन्म हुआ था। गाँधीय अर्थशास्त्र समझने तथा इसके वास्तविक महत्व का अनुभव करने के लिए यह आवश्यक है कि इसकी व्याख्या प्रवर्तमान भारतीय परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर की जाय।

गाँधीय अर्थशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त

गाँधीय अर्थशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन करना अत्यन्त कठिन कार्य है क्योंकि यह एक व्यापक क्षेत्र से सम्बन्धित हैं तथा इनमें नैतिक तथा आदर्शीय विचार प्रायः सभी स्थान पर आ जाते हैं। गाँधी जी ने अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र में कोई भेद नहीं किया। उनके अनुसार, अर्थशास्त्र जो मनुष्य अथवा राष्ट्र के नैतिक कल्याण को क्षति पहुँचाता है वह अनैतिक है तथा इसलिए पापपूर्ण है। वह अर्थशास्त्र जो नैतिक तथा भावनात्मक विचारों की अवहेलना करता है वह उस मोम की मूर्ति के समान है जो देखने में तो जीवन के समान प्रतीत होती है परन्तु जिसमें जीवित व्यक्तियों के जीवन का अभाव रहता है। अतः गाँधी जो जो खोजते थे वह आर्थिक सिद्धान्त नहीं था वरन् कुछ व्यावहारिक शिक्षायें तथा आर्थिक आचरण की प्रणाली थी जिससे अन्ततः मानवीय सुख की प्राप्ति हो सकती थी। गाँधीय अर्थशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्तों को निम्नलिखित सामान्य श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

इच्छा विहीनता (Wantlessness). गाँधीय अर्थशास्त्र इस बात को स्वीकार करता है कि मनुष्य को अपने भोजन, वस्त्र, निवास इत्यादि मौलिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करनी रहती है। परन्तु यह इस बात को अस्वीकार करता है कि उच्चतर साँस्कृतिक, तथा कलात्मक आवश्यकतायें अथवा विलासिता सम्वन्धी आवश्यकतायें मानवीय कल्याण की वृद्धि में सहायक होती हैं। चूँकि आर्थिक संसाधनों की दुर्लभता रहती है तथा मानवीय आवश्यकतायें अगणित होती हैं, इसलिए गाँधीय अर्थशास्त्र के अनुसार, अपनी सभी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करने के लिए व्यक्ति के प्रयास से मानव जाति को असंतोष ही होता है। आवश्यकताओं की केवल संतुष्टि तथा सुख में स्पष्ट भेद किया जाता है। गाँधीय अर्थशास्त्र केवल उन्हीं आवश्यकताओं की संतुष्टि की अनुमति प्रदान करता है (१) जो अन्य व्यक्तियों को जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं से वंचित कर उन्हें हानि नहीं पहुँचातीं; (२) जो जीवन में संघर्ष तथा भय का सृजन नहीं करतीं क्योंकि ये अप्रसन्नता के कारण होते हैं इसलिए ये मानव जाति के सर्वोत्तम हित में नहीं हैं; तथा (३) जो व्यक्ति को जीवन की माया में और भी अधिक लिप्त करते हैं तथा जो उसे आत्मा का अनुभव करने तथा आध्यात्मिक प्रगति में बाधक सिद्ध होते हैं। आत्मत्याग तथा कठि-

नाइयों से ही मनुष्य अपनी आत्मा को पवित्र कर वास्तव में सुखी हो सकता है। केवल इच्छाविहीनता से ही चिरन्तन सुख की प्राप्ति हो सकती है। अन्त में, लोग यदि इच्छा विहीन हो जाते हैं तो धन तथा शक्ति के संचय की आवश्यकता और इससे सम्बन्धित सभी बुराइयाँ तथा निर्दयतायें समाप्त हो जायेंगी। इस प्रकार 'इच्छा-विहीनता' हमारी सभी आर्थिक कठिनाइयों को एक साथ ही दूर कर देगी।

पाश्चात्य आर्थिक विचारधारा के अनुसार इच्छा-विहीनता न तो सम्भव है और न वाँछनीय ही। यदि मनुष्य अपनी सभी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करता है तब उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होगा तथा वह अधिक कुशल और स्वस्थ होगा। वास्तव में आवश्यकताओं की सन्तुष्टि ही अधिक तथा अनवरत आर्थिक प्रयास करने के लिए प्रेरित करती है जो अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है। इसके विपरीत, गान्धीय अर्थशास्त्र के अनुसार व्यक्तित्व का पूर्ण विकास भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से नहीं वरन् आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं भक्ति, आत्मत्याग और आन्तरिक चिन्तन के द्वारा सम्भव है। जहाँ तक अधिक प्रयास करने की प्रेरक शक्ति का प्रश्न है यह लाभ की आशा से नहीं वरन् कर्त्तव्य की भावना से आ सकती है।

चर्खे की अर्थव्यवस्था. गाँधीय अर्थशास्त्र के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को चर्खा चलाना आवश्यक है। चर्खा धैर्य एवं आत्मनियन्त्रण की शिक्षा देता है, अतः यह व्यक्तियों को अपनी आवश्यकतायें नियन्त्रित करने तथा अन्ततः इच्छा-विहीनता की अवस्था प्राप्त करने में सहायक बनाता है। गाँधीय अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है व्यक्ति, ग्राम, समाज तथा राष्ट्र की आत्मनिर्भरता और चर्खा व्यक्ति को आत्मनिर्भर बनाने में सहायक होता है क्योंकि इससे कपड़े की आधारभूत आवश्यकता सन्तुष्ट हो जाती है। चर्खा विदेशी शासन को रोकने के लिए देश का एक चिन्ह था, तथा गान्धी जी के अनुसार "भारत की एकता एवं पुनरुत्थान सम्भवतः अन्य किसी वस्तु द्वारा नहीं हो सकता जितना कि सम्पूर्ण भारत द्वारा चर्खे का 'पवित्र व्रत' के रूप में स्वीकार किया जाना तथा खद्दर को कर्त्तव्य रूप में प्रत्येक व्यक्ति द्वारा पहना जाना है।" अन्त में,जैसा कि हम अभी बतलायेंगे, चूँकि गाँधीय अर्थशास्त्र मशीन तथा उत्पादन की आधुनिक प्राविधियों के विरुद्ध है इसलिए चर्खा उनके प्रतिरोध का प्रतीक है। यह लोगों को सतत इस बात का स्मरण दिलाता है कि अन्त में लोगों की आर्थिक तथा अन्य कठिनाइयाँ केवल आत्म सहायता के द्वारा ही दूर की जा सकतीं हैं।

ग्राम स्वराज. गाँधीय अर्थशास्त्र का प्रमुख सिद्धान्त ग्रामों की आत्मनिर्भरता है। गाँधी जी के अनुसार "ग्राम को एक गणराज्य होना चाहिये जो अपनी मौलिक आवश्यकताओं के लिए तो पड़ोसियों से स्वतंत्र रहे, फिर भी अन्य प्रकार की आवश्यक-

ताओं के लिए उन पर आश्रित भी हो।" इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक गाँव को गाँजा, तम्बाकू, अफीम इत्यादि को छोड़कर जो मनुष्य को निकृष्ट बना देते हैं, अपने खाने की फसलों तथा अन्य व्यवसायिक फसलों का उत्पादन स्वयं करना चाहिए। गाँव के पास अपने पशु, खाद, बीज, तथा कृषि के अन्य आवश्यक सामान होने चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो सके, प्रत्येक गाँव को कपड़े, जूते तथा बर्तन इत्यादि अन्य प्रयोग की वस्तुओं का उत्पादन स्वयं करना चाहिए। प्रत्येक गाँव में पाठशाला, अस्पताल, मनोरंजन की सुविधायें तथा खेल का मैदान होना चाहिये।

सर्वोदय नियोजन की उत्पत्ति गांधीय अर्थशास्त्र के इस सिद्धान्त से हुई। गाँवों को आत्म निर्भर बनाने का यह उद्देश्य प्रतीत होता है कि ग्राम समाज भारतीय आर्थिक नियोजन की केन्द्रीय इकाई बने। उनका यह विचार था कि ग्रामों की आत्म-निर्भरता बड़े पैमाने के उद्योगों को अनावश्यक बना देगी तथा इससे आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण तथा सम्पत्ति का संचय नहीं हो सकेगा। इससे हिंसा तथा लालच भी समाप्त हो जायेगी और व्यक्ति माया से विलग तथा विमुक्त हो जायेगा।

उद्योग का विकेन्द्रीकरण. उद्योग का विकेन्द्रीकरण गाँधीय अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण अंग है। इसका अर्थ यह है कि औद्योगिक तथा उत्पादन की अन्य इकाइयों को देश के किसी एक भाग अथवा क्षेत्र में केन्द्रित नहीं होना चाहिए वरन् इनका विकेन्द्रीकरण होना चाहिए। यह सम्बोध अन्य आर्थिक समस्याओं के प्रति गाँधीय उपगमन से संगत है जिसमें आत्मनिर्भरता, शारीरिक श्रम की महत्ता तथा उपलब्ध आर्थिक संसाधनों का उचित प्रयोग अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

इस आधारभूत विचार के अतिरिक्त भी उद्योग का विकेन्द्रीकरण वांछनीय है क्योंकि 'केन्द्रीकरण बिना बल के बना नहीं रह सकता' तथा हिंसा का किसी भी रूप में प्रयोग गाँधीय दर्शन की भावना के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त, औद्योगिक तथा अन्य इकाइयों के केन्द्रीकरण से कुछ ही व्यक्तियों के हाथ में धन तथा आर्थिक शक्ति केन्द्रित हो जाती है। ये समाज के सर्वोत्तम हित में नहीं है इसलिए केन्द्रीकरण वांछनीय नहीं है। उद्योग का केन्द्रीकरण समाज के सामान्य हित में नहीं होता क्योंकि इससे गन्दी बस्तियाँ बनती हैं, कुछ भाग में अधिक भीड़ भाड़ तथा संकुलन हो जाता है और कुछ क्षेत्रों का लेशमात्र भी विकास नहीं हो पाता। यह इस आधारभूत सिद्धान्त की अवहेलना करता है कि देश के प्रत्येक क्षेत्र का जहाँ तक सम्भव हो सके समान रूप से विकास होना चाहिए।

मशीन का अविश्वास. मशीन तथा प्राविधिक सभ्यता के विषय में गाँधी जी के विचार इस अमिट विश्वास पर आधारित हैं कि आधुनिक मशीन सभ्यता के मूल में सभी प्रकार के भय और निराशायें हैं जिनसे आक्रमण, हिंसा तथा युद्ध का जन्म

होता है। उन्होंने यह देखा कि तकनीकी से आवश्यकतायें बढ़ती जाती हैं। वह मशीनों के प्रयोग के विरुद्ध थे क्योंकि इसमें (१) धन तथा आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण होता है; (२) कम से कम अल्प काल में, मनुष्यों की बेरोजगारी तथा उनकी आय में कमी हो जाती है; तथा (३) हिंसा तथा असमता उत्पन्न होती है। गाँधीय आर्थिक विचार में श्रम की महत्ता का बहुत ऊँचा स्थान है और जब तक बिलकुल आवश्यक न हो, मशीन के प्रयोग से मनुष्य में आत्मनिर्भरता की भावना नष्ट हो जाती है। मशीन के प्रयोग से वस्तुओं की उत्पादन लागत अवश्य ही घट जाती है परन्तु 'सामाजिक लागत' में वृद्धि हो जाती है क्योंकि इससे निकृष्ट क्षेत्रों में संकुलताओं तथा भीड़-भाड़ का जनन होता है तथा मशीन के प्रयोग से जनसंख्या केवल औद्योगिक क्षेत्रों में ही केन्द्रित हो जाती है जिससे श्रमिकों को अत्यधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

यद्यपि गाँधी जी मशीन के प्रयोग के विरोधी थे परन्तु वे सभी प्रकार की मशीनों के विरुद्ध नहीं थे। उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि जनहित सम्बन्धी उद्योगों के लिए, जिन्हें मानवीय श्रम से नहीं किया जा सकता, बड़ी मशीनों का अपना अलग महत्वपूर्ण स्थान है तथा उन पर स्वामित्व राज्य का होना चाहिए और उनका प्रयोग जनता के हित के लिए होना चाहिए। वे केवल इसी बात के विरोधी थे कि मशीन के प्रयोग से अधिक लोगों को हानि हो तथा कुछ ही लोगों को लाभ, अथवा अकारण ही बहुत से महत्वपूर्ण श्रमिकों को कार्य से हटाया जाय। गाँधीय अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण पाठ है श्रम की महत्ता, तथा अपने हाथ से छोटे से छोटे कार्य करने में किसी प्रकार का संकोच न होना।

न्यासिता (Trusteeship). गाँधी जी धन के समान वितरण को पसन्द करते थे। चूँकि व्यवहार में यह सम्भव नहीं था, इसलिए द्वितीय सर्वोत्तम वस्तु जिसे वे पसन्द करते थे, वह था धन का न्यायोचित वितरण। उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि चाहे कुछ भी किया जाय फिर भी कुछ न कुछ धन तथा शक्ति का केन्द्रीकरण तो होगा ही। इसलिए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि धनी व्यक्तियों को अपने को निर्धन व्यक्तियों का न्यासधारी समझना चाहिए, स्वयं पर व्यय जितना कम हो सके उतना कम करना चाहिए तथा अपनी सम्पत्ति का अधिकांश भाग किसी न किसी प्रकार से निर्धन व्यक्तियों के लिए करना चाहिए। गाँधी जी के अनुसार न्यासधारी को अपनी प्रतिभा का प्रयोग न केवल अपने हित के लिए करना चाहिए वरन् सम्पूर्ण समाज के लिए करना चाहिए, जिसका कि वह स्वयं एक अंश है, तथा जिसकी अनुमति पर ही वे रहते हैं।

न्यासिता के सिद्धान्त के समर्थन में एक महत्वपूर्ण बात यह कही जा सकती है कि यदि धनी व्यक्ति स्वेच्छा से अपनी सम्पत्ति का तथा सत्ता का त्याग नहीं कर देते तो एक न एक दिन एक हिंसक तथा रक्तपूर्ण क्रान्ति अवश्य ही होगी। मुख्यत: इसी कारण से ही गाँधी जी ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

सर्वोदय दर्शन. यह कहना ठीक नहीं है कि गाँधीय अर्थशास्त्र का कोई व्यावहारिक महत्व नहीं था तथा इसने विचार पद्धति तथा नीति को प्रभावित नहीं किया। विनोवा भावे, प्रोफेसर जे० के० मेहता, डाक्टर जे० सी० कुमारप्पा तथा श्री जे० बी० कृपलानी इत्यादि की चिन्तन पद्धति को इसने व्यापक रूप से प्रभावित किया। भूदान, ग्रामदान तथा अन्य प्रकार के आन्दोलन इसी के प्रभाव के कारण उत्पन्न हुए हैं। गाँधीय अर्थशास्त्र के प्रभाव के कारण ही भारतीय प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं में कुटीर तथा लघु उद्योग धन्धों को इतना महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। परन्तु यह तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि, जैसा सभी यूरोपियन विचारधाराओं के साथ हुआ था, गाँधीय अर्थशास्त्र का प्रभाव व्यावहारिक नीति पर अधिक व्यापक नहीं पड़ा है। इसके अतिरिक्त, गाँधीय अर्थशास्त्र का प्रभाव भारत की सार्वजनिक नीति तथा व्यक्तियों की आचरण प्रणाली पर जो कुछ भी हुआ उसका भी समय के साथ साथ लोप होता जा रहा है। यह सम्भव है कि भविष्य में सर्वोदय नियोजन भारतीय आर्थिक विकास में अपना स्थान रखे और इस प्रकार गाँधीय अर्थशास्त्र का पुनर्जागरण हो सके तथा यह आर्थिक नीति का आधार बन सके।

सर्वोदय दर्शन का विकास गाँधीय अर्थशास्त्र के सबसे महत्वपूर्ण प्रभावों में से एक है। सर्वोदय दर्शन के अनुसार सादे जीवन को आधुनिक जटिल जीवन से अधिक पसन्द करना चाहिए क्योंकि सादे जीवन से सन्तुष्टि एवं प्रसन्नता की प्राप्ति होती है जिसे मनुष्य प्राप्त करना चाहता है। यह इस बात पर जोर देता है कि सर्वांगीण वास्तविक प्रगति के लिए केवल भौतिक विकास ही आवश्यक नहीं है वरन् साथ साथ बौद्धिक प्रगति भी होनी चाहिए। सर्वोदय, अध्यात्मवाद तथा भौतिकवाद का एक समुचित समन्वय है जो साथ साथ नैतिक तथा भौतिक प्रगति सुनिश्चित करती है। इसमें समाजवाद के सभी लाभ है परन्तु इसमें उद्योगों के राष्ट्रीकरण तथा अल्प व्यक्तियों के हाथ में आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण से उत्पन्न दोष नहीं पाये जाते तथा यह प्रत्येक व्यक्ति को विचार की सर्वाधिक स्वतंत्रता प्रदान करती है। सर्वोदय के निम्नलिखित पाँच सिद्धान्त हैं:

(१) सर्वोदय समाज के प्रत्येक व्यक्ति को विचार एवं आचरण में अहिंसात्मक होना चाहिए तथा अन्य व्यक्तियों के हितों को अपने हित के समान समझना चाहिए।

(२) प्रत्येक व्यक्ति को सादा जीवन व्यतीत करना चाहिये तथा जान बूझकर अपनी आवश्यकताओं पर नियंत्रण रखना चाहिए।

(३) प्रत्येक व्यक्ति को आय का अर्जन शारीरिक श्रम के द्वारा करना चाहिए तथा उसका बौद्धिक कार्य समाज के लिए निःशुल्क होना चाहिए।

(४) प्रत्येक व्यक्ति को अपने को सम्पत्ति का स्वामी नहीं वरन् न्यासी समझना चाहिये तथा उस सम्पत्ति का प्रयोग समाज के लाभ के लिए होना चाहिए।

(५) कृषि तथा उद्योग का विकेन्द्रीकरण होना चाहिए जिससे किसी व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूहों में आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण न हो सके।

साम्यवाद से तुलना. यह कहा जाता है कि गाँधीय अर्थशास्त्र, समाजवाद तथा साम्यवाद में इतना साम्य है कि वास्तव में ये एक ही हो जाते हैं। ऐसा मत उचित नहीं है। यह सच है कि गाँधीय अर्थशास्त्र में समाजवाद के सदृश मानवीय तत्व पर अधिक जोर दिया जाता है तथा यह धन के संचय एवं आर्थिक सत्ता के कुछ ही व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित होने के विरुद्ध है। गाँधीय अर्थशास्त्र कुछ "यूटोपियन" भी हैं तथा इसकी सफलता मानव की आन्तरिक अच्छाइयों पर आधारित है। ऐसा बहुत कुछ अंश में समाजवाद तथा साम्यवाद में भी होता है।

परन्तु इसके अतिरिक्त इनमें और कुछ भी साम्य नहीं है। मार्क्सीय समाजवाद के सदृश गाँधी जी के समाजवाद का उदय औद्योगिक सभ्यता, तकनीकी आदर्शों, वर्ग संघर्ष अथवा तर्क के नियमों (laws of dialectics) के कारण नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त, आवश्यकताओं में कमी, आत्म-त्याग, तथा आत्मनिर्भरता, समाजवाद के अंग नहीं हैं जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय प्रदा, आय तथा सम्पत्ति में बृद्धि करना होता है। अन्त में, एक ओर समाजवाद और साम्यवाद तथा दूसरी ओर गाँधीय अर्थशास्त्र में सबसे महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि समाजवाद तथा साम्यवाद अपनी योजनाओं को व्यवहार में परिणत करने के लिए किसी न किसी प्रकार से हिंसा पर आश्रित होते हैं, परन्तु गाँधीय अर्थशास्त्र प्रारम्भ से अन्त तक अहिसा पर आधारित हैं। समाजवाद और साम्यवाद का परिणाम होता है राज्य के हाथ में सम्पत्ति तथा सत्ता का केन्द्रीकरण जबकि गाँधीय अर्थशास्त्र में धन तथा शक्ति का केन्द्रीकरण किसी भी रूप में नहीं होता। गाँधीय अर्थशास्त्र मुख्यतः आध्यात्मिक आदर्शों पर जोर देता है जबकि समाजवाद एवं साम्यवाद का उपगमन पूर्णतः भौतिकवादी होता है तथा इनमें आध्यात्मिक आदर्शों का लेश मात्र भी अंश नहीं होता।

गाँधीय अर्थशास्त्र की आलोचनाएँ. गान्धीय अर्थशास्त्र की अच्छी बातें ये हैं कि इसमें जीवन की सरलता, सभी व्यक्तियों की समानता, श्रम की महत्ता तथा आत्मनिर्भरता को जीवन में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। समाजवाद की

तरह गाँधीय अर्थशास्त्र भी इस पर जोर देता है कि अपने पूर्ण विकास के लिए प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक, बौद्धिक तथा नैतिक विकास के लिए समान अवसर प्राप्त होने चाहिए। आधुनिक युग में, इस प्रकार का पुनः स्मरण दिलाना आवश्यक है क्योंकि मनुष्य वस्तुओं के वास्तविक महत्व को भूलते जा रहे हैं। समाज के पूँजीवादी संगठन ने मानवीय आदर्शों को भुला दिया है तथा मनुष्य को द्रव्य का दास बना दिया है।

गाँधीय अर्थशास्त्र इस बात को प्रदर्शित करता है कि आधुनिक जीवन के भार और संघर्षों के होते हुए भी मनुष्य वास्तविक सुख प्राप्त कर सकता है यदि वह निस्पृह भावना तथा इच्छाविहीनता प्राप्त कर लें। यदि मनुष्य जीवन की माया में लिप्त होकर अपनी अधिक से अधिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने का प्रयास करता है तब उसे अप्रसन्नता होती है।

परन्तु गाँधीय अर्थशास्त्र मनुष्य की भौतिक इच्छाओं तथा आत्मा की निर्बलताओं का अल्प-अनुमान करता है। मनुष्य के शरीर, मस्तिष्क और आत्मा होती है तथा भौतिक भावनायें जिनका सृजन मस्तिष्क के द्वारा होता है वे अधिकांश इतनी सबल होती हैं कि उन पर पूर्ण रूप से नियन्त्रण मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति द्वारा नहीं हो पाता। गाँधी जी के समान कुछ व्यक्ति भले ही अपनी आवश्यकताओं के नियन्त्रण करने तथा इच्छाविहीनता की स्थिति प्राप्त करने में सफल हो जायें परन्तु सभी लोगों में इतनी क्षमता नहीं रहती। कुछ व्यक्ति ही अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर आध्यात्मिक शक्ति द्वारा जीवन के आनन्द को प्राप्त कर सकते हैं।

अधिकांश व्यक्ति अपनी भौतिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करके ही अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकते हैं। यदि वे ऐसा नहीं कर पाते हैं तो उन्हें कष्ट होता है। इसके अतिरिक्त, केवल शारीरिक प्रेरणायें ही मनुष्य को भौतिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करने के लिए प्रेरित नहीं करतीं वरन् मनुष्य अन्य व्यक्तियों का भी अनुकरण करता है और यदि कुछ व्यक्ति अपनी आवश्यकताएँ सन्तुष्ट कर लेते हैं, और वे नहीं तो उन्हें कष्ट का अनुभव होता है। गाँधीय अर्थशास्त्र उस अंश तक अवास्तविक है जिस अंश तक इस वह बात को मान लेता है कि सभी व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को नियन्त्रित कर इच्छा विहीनता की स्थिति को प्राप्त कर सकते हैं।

गाँधीय अर्थशास्त्र की एक गम्भीर आलोचना यह है कि यह कार्य के लिए आवश्यक प्रेरणा प्रदान नहीं करता जो संसाधनों के अनुकूलतम उपयोग तथा मनुष्य के सर्वाधिक सुख प्राप्ति के लिए आवश्यक होते हैं। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि इच्छा-विहीनता सभी व्यक्तियों को प्राप्त हो सकती है, तो कर्तव्य की भावना कार्य करने की प्रेरणा प्रदान कर सकती हैं। परन्तु इच्छाविहीनता के अभाव में, अपनी आवश्यक-

ताओं की पूर्ति की असामर्थ्य कार्य करने की प्रेरणा को नष्ट कर सकती है। गाँधीय अर्थशास्त्र में इस बात को स्वीकार किया जाता है कि मनुष्य को इच्छाविहीन तथा तृप्त बनाने के लिए भोजन, वस्त्र तथा इसी प्रकार की अन्य आवश्यकतायें सन्तुष्ट होनी चाहिए। कार्य करने की आवश्यक प्रेरणा के अभाव में यह भी सम्भव नहीं है। प्रेरणा की कमी गाँधीय अर्थशास्त्र की महान कमी है जिससे इसके उद्देश्य की पूर्ति यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाती है।

गाँधीय अर्थशास्त्र मशीनों के प्रयोग के विरुद्ध हैं। यह सत्य है कि मशीन के प्रयोग ने कुछ व्यक्तियों के लिए काफी कठिनाइयाँ उत्पन्न कर दी हैं तथा असाधारण सामाजिक समस्याओं को उत्पन्न किया है। परन्तु यह भी निर्धारित सत्य है कि आधुनिक मशीनों तथा तकनीकी का प्रयोग उत्पादन तथा उत्पादकता में तीव्र वृद्धि करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यदि मशीन का प्रयोग नहीं होता तब सभी आर्थिक शक्तियों का समुचित संयोग अवश्य ही रुक जायेगा जिससे आर्थिक विकास की प्रक्रिया अवरुद्ध हो जायेगी। इससे हमारे वांछित उद्देश्य—आत्मनिर्भर तथा स्वयं संचालक अर्थव्यवस्था की स्थापना—की पूर्ति होने में बाधा उत्पन्न हो जायेगी।

अन्तर्राष्ट्रीय तथा अन्तर्क्षेत्रीय श्रम विभाजन फलतः अन्तर्राष्ट्रीय, तथा अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार, आधुनिक अर्थव्यवस्था के आवश्यक तत्व हैं क्योंकि ये लागत तथा कीमतों को घटा देते हैं तथा उपलब्ध संसाधनों का सर्वोत्तम ढंग से प्रयोग सम्भव बनाते हैं। यदि गाँधीय अर्थशास्त्र द्वारा प्रतिपादित व्यक्ति तथा समाज की आत्मनिर्भरता का उद्देश्य पूरा हो जाता है तब ये लाभ समाप्त हो जायेंगे। इसका वास्तविक परिणाम यह होगा कि सबको उपभोग की जाने वाली पदार्थों के लिए अधिक मूल्य देना पड़ेगा। आत्मनिर्भरता अमितव्यापी तथा बुरी होती है।

इस समस्या का महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि विज्ञान स्थिर नहीं रहता। वैज्ञानिक प्रगति सदैव होती रहती है जिससे नई पदार्थों का उत्पादन, पदार्थों के स्वरूप में सुधार तथा उत्पादन लागत में कमी होती रहती है। मनुष्य के वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास की भावना को रोक सकना सम्भव नहीं है। विज्ञान में नवीन अन्वेषण तथा अनुसन्धान अवश्य होने चाहिये तथा मनुष्य के प्रयोग के लिए नवीन वस्तुओं एवं सेवाओं का सृजन होना चाहिए। यदि नई तथा अच्छे प्रकार की वस्तुयें सस्ती कीमतों पर उपलब्ध हो जाती हैं तब आवश्यकताओं में कमी करना और भी कठिन हो जाता है। यह आधारभूत तथ्य इच्छा-विहीनता की स्थिति प्राप्त करने को और भी असम्भव बना देता है। यह सुझाव प्रस्तुत किया जा सकता है कि वैज्ञानिक अनुसंधानों तथा अन्वेषणों को इस प्रकार का होना चाहिए जो वास्तव में मनुष्य की आवश्यकताओं को कम करने में सहायक हो तथा जो विभिन्न राष्ट्रों एवं समुदायों में संघर्ष दूर कर सकें।

परन्तु विज्ञान की प्रगति पर इस प्रकार का नियन्त्रण नहीं लगाया जा सकता। मनुष्य को अपनी भौतिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि करने तथा ऊँचे स्तर का भौतिक सन्तोष प्राप्त करने की नवीन बिधियों का अन्वेषण सतत करते जाना चाहिये। ऐसा प्रतीत होता है कि गाँधीय अर्थशास्त्र ने इस तथ्य को भुला दिया है अतः इस अंश तक यह अधिक अवास्तविक हो गया है।

इन कठिनाइयों के होते हुए भी यह सम्भव है कि गाँधीय अर्थशास्त्र ने मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं को कम करने तथा तृप्ति और सुख प्राप्त करने में सहायता की होती यदि विश्व के सभी व्यक्ति गाँधी जी के सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करते। परन्तु यदि एक देश के लोग तो गाँधी के सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करते हैं तथा अन्य देशों के लोग वैसा नही करते, तब गाँधीय सिद्धान्तों के अनुकरण करने वाले लोगों को उस सिद्धान्त पर डटे रहने में कठिनाई होती है। अपनी आवश्यकताओं पर नियन्त्रण रख तृप्त तथा सुखी होने के लिए उस समय बहुत बड़ी आध्यात्मिक शक्ति की आवश्यकता होती है जबकि अन्य व्यक्ति भौतिक सुख का उपभोग करते हैं तथा अच्छे प्रकार की वस्तुएँ कम मूल्य पर प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी परिस्थितियों के अन्तर्गत, मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति को न केवल अपनी भौतिक प्रेरणाओं पर नियन्त्रण करना होता है वरन् इस बात की इच्छा को भी रोकना रहता है कि मनुष्य में दूसरे व्यक्तियों के अनुकरण करने तथा उनसे बढ़ने की भावना उत्पन्न न हो जाय। सादा जीवन और उच्च विचार का सिद्धान्त अधिक सफल हुआ होता यदि सभी व्यक्ति इसका अनुसरण करते। चूँकि ऐसा सम्भव नहीं है इसलिए गाँधीय अर्थशास्त्र वास्तविक सुख को प्राप्त करने के लिए उचित मार्ग प्रदर्शित करने में विफल है।

यदि हम गाँधीय सिद्धान्तों में विश्वास करने लगें तथा सभी भारतीय इच्छा-विहीन एवं परितृप्त हो जायें तब इसका परिणाम यह होगा कि भारत निर्धन एवं निर्बल देश रह जायेगा। जब कि विश्व के अन्य देश अधिकाधिक समृद्ध तथा शक्तिशाली होते जायेंगे। ऐसा इसलिए होगा क्योंकि परितृप्ति से आत्म समर्पण उत्पन्न हो जायेगा तथा देश की आर्थिक एवं सैनिक शक्ति को बनाने की प्रेरणा का ह्रास हो जायेगा। अन्य देशों के लोगों को, जो गाँधीय सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखते, ऐसी कठिनाई नहीं उठानी पड़ेगी और वे अधिक शक्तिशाली तथा सम्पन्न हो जायेंगे।

ऐसी परिस्थिति में अन्य देश भारत पर आक्रमण कर उस पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए अवश्य लालायित होगे। अतःअपनी स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिए (जो उतनी ही महत्वपूर्ण हैं जितनी परितृप्ति तथा सुख की प्राप्ति अथवा भौतिक समृद्धि की प्राप्ति) हमें उतना ही सम्पन्न तथा सुदृढ़ होना चाहिए जितना कि विश्व के

अन्य देश हैं। यह गाँधीय दर्शन के बिल्कुल प्रतिकूल है जिसमें आर्थिक विकास के सम्बोध का अभाव है तथा जो अवास्तविक प्रतीत होता है।

गाँधी जी ने एक बार यह कहा कि "ग्रामीण आधार पर सुसंगठित भारत को विदेशी आक्रमणों का खतरा नगर के आधार पर संगठित, हवाई तथा सामुद्रिक सैन्य शक्ति से सुदृढ़ भारत की अपेक्षा कम रहेगा" और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यदि लोग इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य करते हैं तब विदेशी आक्रमणों का भय नहीं रहेगा। ऐसा विश्वास रखने का कोई कारण नहीं है। एक सम्भावना यह है कि आध्यात्मिक दृष्टि से सुदृढ़ भारत के पास एक प्रकार की अदृश्य शक्ति हो सकती है जो विदेशियों को आक्रमण करने से रोक सकती है। यदि सभी भारतियों को उतनी ही आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त हो जाय जितनी गाँधी जी की थी तब यह सम्भव है कि किसी की हिम्मत भारत पर आक्रमण करने की न पड़े। परन्तु गाँधी जी ने इसका अनुभव तो अवश्य किया था कि भारत या विश्व के अन्य देशों के सभी व्यक्ति सम्भवतः उतनी आध्यात्मिक शक्ति नहीं प्राप्त कर सकते जितनी उनमें थी। यदि इसे स्वीकार किया जाय, तब गाँधीय दर्शन का अनुकरण बिदेशी आक्रमणों के विरुद्ध सुरक्षा नहीं प्रदान कर सकता। यदि गांधीय दर्शन के अनुसरण करने के परिणाम स्वरूप भारत एक निर्धन तथा निर्बल देश हो जाता है तब निस्संदेह ही विदेशी शक्तिशाली देशों के आक्रमण का शिकार बनेगा।

यह सम्भव है कि गाँधीय दर्शन के समर्थक यह सोच रहे हों कि यदि भारतीय राष्ट्र अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन द्वारा, जो गांधीय दर्शन का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है, अंग्रेजों को बाहर निकाल सके, तब वह विदेशी आक्रमणों को रोक कर शत्रु को देश के बाहर भगाने में समर्थ हो सकता है। परन्तु ऐसा निष्कर्ष सारहीन है। यह एक बार और इस बात को प्रदर्शित करता है कि गाँधीय अर्थशास्त्र अवास्तविक है और अधिक व्यवहारिक महत्व नहीं रखता।

अध्याय २४

आर्थिक नियोजन

(Economic Planning)

आर्थिक नियोजन आधुनिक युग के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों में से एक है। यह मुख्यतया दो प्रमुख विचारधाराओं पर आधारित है। अनियोजित अर्थव्यवस्था की कार्य विधि उतनी सुगम तथा स्वचालित नहीं होती जितनी कि आर्थिक सिद्धान्त हम लोगों को बतलाते हैं। मुक्त प्रतियोगी अर्थव्यवस्था में बहुधा कुछ वस्तुओं का अत्यधिक उत्पादन तथा कभी वस्तुओं की कमी, सर्वव्यापी बेरोजगारी, अधिकांश वर्ग के व्यक्तियों की न्यून स्तरीय आय, तथा धन की भीषण असमानता रहती है। कुछ व्यक्ति बहुत धनी तथा कुछ अत्यन्त निर्धन रहते हैं, तथा सामाजिक कल्याण उतना अधिक नहीं रहता जितनी उपलब्ध संसाधनों से आशा की जाती है। इसके विपरीत, आर्थिक नियोजन सबके लिए बहुलता का आश्वासन प्रदान करता है। यह लोगों को अधिक ऊँचे स्तर की भौतिक सुविधाओं को प्रदान करने, तदनुसार उनकी क्षमता में वृद्धिकर प्रत्येक व्यक्ति के लिए आर्थिक कल्याण तथा सुख सुनिश्चित करने के लिए, संसाधनों के समुचित प्रयोग करने का मार्ग प्रदर्शन करता है। अन्य विचारों से अधिक इन विचारों से आधुनिक युग में नियोजित अर्थ प्रणाली अधिक प्रसिद्ध हो गयी है।

परिभाषा. आर्थिक नियोजन की अनेक प्रकार से परिभाषा की गयी है। श्रीमती बाबरा वूटन ने आर्थिक नियोजन को उस प्रणाली के रूप में परिभाषित किया है जिसमें 'बाजार प्रक्रिया'[१] को जानबूझकर दक्षता से नियन्त्रित इस उद्देश्य से किया जाता है कि इससे एक प्रणाली उत्पन्न हो जो अपनी स्वतः की क्रियाओं से उत्पन्न हुई प्रणाली से भिन्न होती। प्रोफेसर हरमन लेवी के अनुसार आर्थिक नियोजन का अर्थ होता है उत्पादन अथवा वितरण या दोनों पर सबोध एवं विचारपूर्ण नियन्त्रण

---

१. 'बाजार प्रक्रिया' अथवा 'मूल्य प्रक्रिया' का अर्थ होता है पूर्ति, माँग तथा मूल्य में कार्यात्मक सम्बन्ध। यदि पूर्ति स्थिर हो और माँग में वृद्धि हो जाय तब मूल्य में भी वृद्धि हो जायेगी तथा इसके विपरीत यदि माँग में कमी हो जाय तो मूल्य घट जायगा। यदि माँग स्थिर हो और पूर्ति में वृद्धि हो जाय तब मूल्य में कमी हो जायेगी। यदि मूल्य में वृद्धि हो जाती है तब माँग घट जायेगी तथा पूर्ति में भी वृद्धि हो जायेगी और जब मूल्य घट जाता है तब माँग बढ़ जायेगी तथा पूर्ति में कमी हो जायेगी। माँग, पूर्ति और मूल्य में जिस प्रकार से परिवर्तन होते हैं उन्हें 'मूल्य प्रक्रिया' कहते हैं।

के द्वारा माँग और पूर्ति में श्रेष्ठतर सन्तुलन, तथा इस सन्तुलन का स्वत: संचालित, अदृश्य, एवं अनियन्त्रित शक्तियों द्वारा प्रभावित न होने दिये जाना। डाल्टन के अनुसार आर्थिक नियोजन विशाल आर्थिक के संसाधनों जिम्मेदार व्यक्तियों द्वारा आर्थिक क्रियाओं का एक निर्धारित उद्देश्य की ओर आयोजित नियन्त्रण है।

आर्थिक नियोजन अनियन्त्रित अर्थव्यवस्था की अपेक्षा अधिक उच्चतर समूहीकृत राष्ट्रीय प्रदा (राष्ट्रीय आय), वैयक्तिक तथा सामाजिक न्याय, एवं मानवीय सुख को प्राप्त करने के लिए आयोजित प्रयास है। सभी स्थितियों में, अधिक या कम अंश तक, नियोजन के स्वरूप पर आधारित उपभोक्ता की सार्वभौमता तथा 'मूल्य प्रक्रिया' की कार्यशीलता का त्याग आर्थिक नियोजन में निहित है। प्रारम्भ में, पाश्चात्य देशों में आर्थिक नियोजन ने बेरोजगारी को दूर करने तथा अर्थव्यवस्था को पूर्ण रोजगार की स्थिति में लाकर उसे बनाये रखने का रूप ग्रहण किया था। बाद में, इन देशों में आर्थिक नियोजन का विस्तार व्यापक हुआ तथा इसकी सीमा के भीतर आर्थिक विकास भी सम्मिलित हुआ जिसका आशय "विश्व के आर्थिक सन्तुलन के विवर्तन के अनुकूल समायोजन से था"।

यह समस्या दो प्रमुख बातों पर आधारित है: आन्तरिक उत्पादकता में नियोजित सुधार तथा अन्तर्राष्ट्रीय एकीकरण। बृटिश श्रम सरकार द्वारा उठाये गये अधिकॉश योजना सम्बन्धी पग तथा फ्रान्स का मोनेट प्लान और नार्वे का नेशनल बजट प्रथम उद्देश्य की पूर्ति के लिए थे। द्वितीय प्रवृत्ति को निर्देशित करने वाले बेनेलक्स (Benelux), यूरोपीय भुगतान संघ (European Payments Union), शूमैन प्लान, तथा मार्शल प्लान के उपरान्त यूरोपीय आर्थिक एकीकरण सम्बन्धित अनेक परियोजनायें हैं।

भारत सदृश आर्थिक दृष्टि से अविकसित देश में आर्थिक विकास के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को दूर करने, उद्योग, कृषि, वाणिज्य और व्यापार का अधिक संतुलित विकास, अधिक रोजगार, उच्चतर प्रतिव्यक्ति आय, तथा लोगों का और अधिक आर्थिक कल्याण सुनिश्चित करने के लिए आर्थिक नियोजन किया जाता है। सोवियत संघ सदृश समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में आर्थिक नियोजन का उद्देश्य अधिक कृषि तथा औद्योगिक प्रदा, अधिक राष्ट्रीय कल्याण तथा पूँजीवादी देशों से सुरक्षा के हेतु अधिक राष्ट्रीय शक्ति के रूप में राष्ट्रीय संसाधनों का पूर्ण प्रयोग करना है।

प्रमुख विशेषताएँ. आर्थिक नियोजन की मौलिक विशेषता है अर्थव्यवस्था का केन्द्रीय नियन्त्रण। केन्द्रीय सत्ता समाज के सदस्यों की आर्थिक क्रियाओं को अधिक अथवा कम विवेक प्रदान कर सकती है तथा इसी के अनुसार आर्थिक प्रक्रिया के अधिक

माँग के विषय में ठीक-ठीक पूर्व ज्ञान प्राप्त कर लेना सदा सम्भव नहीं है तथा आर्थिक विकास के सम्बन्ध में योजना बनाते समय कुछ त्रुटियों का हो जाना आवश्यक ही है। परन्तु योजना की सफलता के लिए यह आवश्यक है, कि विभिन्न वस्तुओं एवं पदार्थों की माँग और पूर्ति में समुचित समायोजन होना चाहिए। इस समस्या का दूसरा पक्ष है कुल संसाधनों एवं अर्थव्यवस्था की कुल आवश्यकताओं में समायोजन। योजना प्राधिकारी को कुल संसाधनों—वास्तविक तथा वैत्तिक रूप में—का परिकलन करना होता है जिनकी आवश्यकता योजना के लक्ष्यों की पूर्ति के लिए होगी तथा निर्धारित समय के भीतर संसाधनों की वाँछित राशि को प्राप्त करने का प्रयास लोगों को अत्यधिक कष्ट दिये बिना तथा अर्थव्यवस्था को अत्यधिक अस्त-व्यस्त किए बिना करना होता है। यदि वाँछित संसाधन उपलब्ध नहीं हैं तब योजना प्राधिकारी को उसी के अनुसार योजना के लक्ष्यों में उचित समय पर कटौती कर देनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया जाता तब आर्थिक नियोजन अत्यधिक कष्ट उत्पन्न कर सकता है और वाँछित उद्देश्य उत्पन्न नहीं कर सकता। कुछ लोगों के मत में, भारत की तृतीय पंचवर्षीय योजना में कुल विनियोग की राशि अत्यधिक है तथा अतिरिक्त करों द्वारा योजना के संसाधनों को उपलब्ध करने में लोगों पर त्याग का अत्यधिक भार पड़ेगा। यह अच्छा हुआ होता यदि योजना के आकार में कटौती कर दी गई होती जिससे कुल आवश्यकताओं एवं कुल संसाधनों में समुचित सन्तुलन सम्भव हुआ होता।

समस्या का एक दूसरा पक्ष है अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में समुचित समायोजन। सोवियत संघ में समाजवादी अर्थव्यवस्था के दो क्षेत्र हैं, एक राष्ट्रीयकृत अथवा राज्यक्षेत्र और दूसरा सहकारी क्षेत्र। राष्ट्रीयकृत क्षेत्र में उत्पादन के साधन राज्य की सम्पत्ति हैं। सहकारी क्षेत्र में उत्पादन के साधन विभिन्न सहकारी संघों के होते हैं; इसके अतिरिक्त, सहकारी संघ कुछ ऐसे भी उत्पादन के साधनों का प्रयोग कर सकते हैं जो राज्य की सम्पत्ति होते हैं। दो प्रकार के समाजवादी स्वामित्व का रूप सोवियत संघ के सामाजिक ढाँचे तथा सोवियत अर्थव्यवस्था की कार्यविधि प्रणाली का निर्धारण करता है। सोवियत संघ की प्रथम दो पंचवर्षीय योजनाओं में इन दो क्षेत्रों में समुचित समायोजन का अभाव था। भारत में अर्थव्यवस्था के सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र हैं तथा सरकार की राजकोषीय, मौद्रिक, औद्योगिक एवं व्यापार सम्बन्धित योजना की नीति ने कुछ अंश तक निजी क्षेत्र को अस्त व्यस्त कर दिया है। ऐसा इस कारण है क्योंकि योजना प्राधिकारी अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों की नीति तथा परियोजनाओं में समुचित समायोजन और संतुलन द्वारा होने वाले लाभ का अनुभव करने में विफल रहे।

नियोजन की आवश्यकता. क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि 'मूल्य प्रक्रिया' की स्वतन्त्र कार्य विधि से पूर्ण रोजगार की दशायें स्वतः प्राप्त हो जायेंगी तथा राष्ट्रीय संसाधनों का अनुकूलतम प्रयोग हो सकेगा। उनके मतानुसार यदि श्रमिकों में बेरोजगारी है तो श्रमिकों की मजदूरी कम हो जायेगी तथा कम मौद्रिक मजदूरी पर सभी बेरोजगार श्रमिक कार्य पर लगा दिये जायेंगे। यदि पूँजी (लोगों की बचत) की पूर्ति माँग से अधिक है तब ब्याज की दर उस समय तक घटती जायगी जब तक कि उपलब्ध पूँजी का पूर्ण प्रयोग नहीं हो जाता। इस प्रकार, संस्थिति में, श्रम, पूँजी तथा अन्य संसाधनों का पूर्ण रोजगार सदा रहेगा। इसके अतिरिक्त, चूँकि क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों ने पूर्ण प्रतियोगिता को माना था, इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि पूर्ण रोजगार के स्तर पर राष्ट्रीय संसाधनों का उपयोग अनुकूलतम ढंग से होगा क्योंकि जो लोग अकुशल हैं, वे कुशल उत्पादकों की प्रतियोगी शक्ति द्वारा समाप्त कर दिये जायेंगे।

मुक्त प्रतियोगात्मक अर्थव्यवस्था में मूल्य प्रक्रिया का सबसे बड़ा महत्व यह है कि यह उत्पादकों के लिए इस बात को इंगित कर देता है कि उपभोक्ता किस प्रकार की वस्तुएँ चाहते हैं तथा वे उसके लिए कितना मूल्य दे सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि उपभोक्ता ब, स और द वस्तुओं की अपेक्षा अ वस्तु को अधिक चाहते हैं तब अ वस्तु के मूल्य में वृद्धि हो जायेगी जिससे उत्पादक इस वस्तु की अधिक मात्रा तथा अन्य वस्तुओं की कम मात्रा का उत्पादन करने लगेंगें। इस प्रकार श्रम, पूँजी तथा कच्चे माल के रूप में राष्ट्रीय संसाधनों का प्रवाह उत्पादन की उन दिशाओं में स्वतः होगा जो उपभोक्ता द्वारा पसन्द की जाती हैं। इसी आशय में "उपभोक्ता की सार्वभौमता" मूल्य प्रक्रिया के रूप में अपने को व्यक्त करती है तथा इसके परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में स्वतः समायोजन हो जाता है। परिणाम यह होता है कि उपभोक्ता न केवल जो चाहता है उसी को प्राप्त करता है तथा अपने संतोष को सर्वाधिक कर पाता है वरन् उपलब्ध संसाधनों का अनुकूलतम प्रयोग भी हो जाता है तथा लोगों का सामाजिक कल्याण सर्वाधिक हो जाता है।

'मूल्य प्रक्रिया' की स्वतः कार्य करने वाली शक्तियाँ सर्वाधिक सामाजिक कल्याण उसी समय सुनिश्चित करेंगी यदि (१) उत्पादकों, उपभोक्ताओं तथा अन्य व्यक्तियों के आचरण विवेकपूर्ण हों, (२) पूर्ण प्रतियोगिता की दशायें हों; तथा (३) वैयक्तिक एवं सामाजिक हित एक ही हों और दोनों में कोई संघर्ष न हो।

परन्तु दुर्भाग्यवश क्लैसिकल अर्थशास्त्रियों की परिकल्पनायें वास्तविक नहीं हैं। वास्तविक व्यवहार में, पूर्ण प्रतियोगिता नहीं वरन् अपूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार पाये जाते हैं। ऐसा बिलकुल आवश्यक नहीं है कि जिन वस्तुओं का उत्पादन हो

वे स्वतः बिक जायँ जैसा कि 'से' के बाजार नियम में होता है जिसे रोजगार के क्लैसिकल सिद्धान्त में मान लिया गया है। यह भी आवश्यक नहीं है कि मौद्रिक मजदूरी तथा ब्याजदर में कमी हो जाने के कारण अधिक श्रम तथा अधिक पूँजी का स्वतः नियोजन होने लगेगा। इनको नियोजित करते समय केवल इन उत्पादन के साधनों की कीमतों पर ही ध्यान नहीं दिया जाता वरन् उत्पादक उत्पादित पदार्थों के विक्रय तथा अपने स्वयं के लाभ को भी दृष्टि में रखता है। इस प्रकार मुक्त प्रतियोगात्मक अर्थव्यवस्था में, 'मूल्य प्रक्रिया' से कुछ वस्तुओं का कभी अल्प-उत्पादन तथा कभी अधि-उत्पादन होने लगता है। आर्थिक नियोजन उन विधियों में से एक विधि है जिससे अनियोजित अर्थव्यवस्था के दोष तथा इसकी कमियाँ दूर की जा सकती हैं।

अर्थव्यवस्था के समिष्टि चित्र के अतिरिक्त यदि हम विस्तार में जायँ तो हम देखेंगे कि अनियोजित अर्थव्यवस्था की वास्तविक कार्यविधि अत्यन्त दोषपूर्ण है। वास्तविक व्यवहार में, सदा यह सम्भव नहीं है कि उत्पादन को केवल उन्हीं फैक्टरियों में केन्द्रित किया जाय जिनकी प्रति इकाई औसत उत्पादन लागत सबसे कम है। इससे स्वभावतः आर्थिक अपव्यय होता है। ऊँची लागत के संयम और मशीनें तो बनी रह सकती हैं क्योंकि उपभोक्ता की माँग अविवेकपूर्ण होती है। बहुधा उपभोक्ताओं को पूर्ति के वैकल्पिक श्रोतों का ज्ञान नहीं रहता। वस्तु विशेष, मान लीजिए एक सिगरेट विशेष, के प्रति उनका भावात्मक लगाव रहता है, और वे उस विशेष प्रकार की सिगरेट के लिए अधिक मूल्य देने के लिए भी तैयार रहते हैं परन्तु अन्य उतनी ही अच्छी वैकल्पिक सिगरेट को लेना नहीं पसन्द करते। इसके अतिरिक्त, आदतें कुछ समय के बाद स्थायी हो जाती हैं तथा आदत छोड़ने की इच्छा के होते हुए भी कभी-कभी उन्हें नहीं छोड़ा जा सकता। कुछ उपभोक्ताओं का गलत दृष्टिकोण रहता है; उनका यह विचार रहता है कि अच्छी कीमत वाली वस्तुएँ सदा उच्चकोटि की रहती हैं। यह माँग के नियम की कार्यशीलता को खण्डित कर देती है। कुछ दशाओं में, उपभोक्ताओं की रुचि अनिश्चित रहती है, उदाहरणार्थ महिलाओं के हैट को बनानेवाला इस कमजोरी का लाभ उठाकर अनावश्यक ही अनेक प्रकार के हैट बनाता है जिसमें छोटे पैमाने का उत्पादन होता है। इन सब का परिणाम यह होता है कि वास्तविक व्यवहार में, ऊँची उत्पादन लागत वाला एक अकुशल उत्पादक, जिसकी वस्तुएँ ऊँची कीमतों पर भी बिक जाती हैं, अपना उत्पादन चलाये रखने में सफल हो जाता है।

केन्द्रित नियोजन इन कठिनाइयों को दूर करने तथा लागत को कम करने में तीन प्रकार से साहयक हो सकता है। (१) उपभोग पदार्थों का प्रमापीकरण होता है। उपभोक्ताओं की रुचि के प्रयोग के लिए पर्याप्त प्र ार की वस्तुओं का उत्पादन किया

जाता है परन्तु किसी एक उत्पादक के लिए यह सम्भव नहीं है कि वस्तुओं के प्रकार में सतत वृद्धि करता जाय। केन्द्रीय प्राधिकारी इस बात को ध्यान में रखता है। इससे बड़े पैमाने की प्रदा को प्रोत्साहन मिलता है जिससे उत्पादन लागत में कमी हो जाती है। परन्तु यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के प्रमापीकरण को निश्चित करना एक निजी उत्पादक के अधिकार में नहीं है। केन्द्रीय सत्ता ही ऐसा कर सकती है। (२) केन्द्रित नियोजन से फुटकर वितरण के अपव्यय में कमी हो जाती है। ऐसा अनुमान किया गया है कि संयुक्त राज्य अमेरिका में लगभग ३८%तथा इंगलैण्ड में इससे कुछ कम अनुपात प्रत्येक वर्ष फुटकर तथा थोक वितरण पर व्यय किया जाता है। यह एक विशाल अपव्यय है। भारत में कोई विश्वसनीय आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं परन्तु यहाँ पर अपव्यय बहुत है तथा इस प्रकार की लागतों को कम करने का प्रयास करना चाहिए। आर्थिक नियोजन इस प्रकार के अपव्यय को कम करने में समर्थ है। (३) सबसे आवश्यक तो यह है कि प्रत्येक उद्योग में अन्वेषण कार्य होना चाहिए। अधिकांश भारतीय उद्योगों ने इस महत्वपूर्ण समस्या की अवहेलना की है। आर्थिक नियोजन उद्योग में अन्वेषण को उचित महत्व प्रदान करता है जिससे लागत कम होती है, राष्ट्रीय संसाधनों की मितव्ययिता में सहायता मिलती है तथा मानवीय कठि-नाइयों में कमी हो जाती है।

केन्द्रीय नियोजन के अभाव में अधि-उत्पादन अवश्य ही होगा। बाजार की माँग के विषय में सभी उत्पादकों को जानकारी नहीं रहती। यदि वे सतर्क भी रहते हैं तब भी माँग की दशाओं के बारे में विश्वसनीय आँकड़े नहीं प्राप्त हो पाते। बाजार की प्रवृत्तियों को ठीक समझने में हमेशा कुछ प्राविधिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं तथा बाजार की माँग के अध्ययन और उसको सन्तुष्ट करने के लिए वस्तुओं की पूर्ति में समय विलम्ब अवश्य रहता है। इसी बीच में लोगों का स्वभाव बदल सकता है जिससे वस्तुएँ बेकार हो सकती हैं। इन कठिनाइयों के अतिरिक्त, वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक उत्पादक अपनी अज्ञानतावश बाजार मांग के अधिक से अधिक अंश को स्वयं सन्तुष्ट करना चाहता है। परिणाम स्वरूप अधि-उत्पादन हो जाता है। अनियोजित अर्थव्यवस्था में, यदि व्यक्तिगत उत्पादकों को अधिक उत्पादन के खतरों को बतलाया भी जाता है तब भी वे उसकी परवाह नहीं करते। एक न एक समय भारत के सूतीवस्त्र, जूट, चीनी, सीमेन्ट तथा अन्य उद्योग इस प्रकार की अधि-उत्पादन की स्थिति से अवश्य ही गुजरे हैं।

निर्धनता के साथ-साथ बहुलता भी है। प्रतियोगात्मक प्रणाली की कार्य विधि का यह एक दुख पूर्ण विवेचन है कि जब संयुक्त राज्य अमेरिका में गेहूँ फेंका या जलाया जा रहा था उस समय अन्य देशों में लाखों व्यक्ति क्षुधा से पीड़ित थे। इस

विश्व में धन का असमान वितरण है। अपने ही देश में, सम्पन्नता एवं निर्धनता की चरम स्थितियाँ हैं। यह उस समय और भी असह्य हो जाता है जब आर्थिक संगठन में परिवर्तन करके इन्हें दूर किया जा सकता है।

केन्द्रित आर्थिक नियोजन इन कठिनाइयों को दो प्रकार से दूर करता है। नियोजक प्राधिकारी के लिए यह सम्भव है कि वह बाजार की मांग तथा उपलब्ध संसाधनों में समन्वय स्थापित कर सकें। कुछ सीमा तक यह भी सम्भव है कि स्वयं बाजार की माँग को भी नियन्त्रित किया जा सके। उद्देश्य है प्रति इकाई औसत उत्पादन लागत पर उत्पादन करना। प्रत्येक उत्पादक को उतनी ही मात्रा प्रदान करने की अनुमति रहती है जितना समूहीकृत पूर्ति और समूहीकृत मांग में सन्तुलन के परिणाम स्वरूप उसके अंश में पड़ता है। यद्यपि निर्देशक सिद्धान्त तो सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय की समानता है, फिर भी कल्याणकारी विचारों की अवहेलना नहीं की जाती तथा केन्द्रित आर्थिक नियोजन में इस बात को भली भाँति स्वीकार किया जाता है कि मनुष्य स्वयं ही राष्ट्रीय आदेय होता है।। आदर्श प्रणाली के अन्तर्गत जिसे वास्तविक व्यवहार में नहीं प्राप्त किया जा सकता, प्रत्येक व्यक्ति को वही कार्य मिलेगा जिसे वह सर्वोत्तम प्रकार से कर सकता है तथा सभी की न्यायोचित आवश्यकतायें सन्तुष्ट हो जाती हैं। दीर्घ काल में आगे चलकर किसी भी प्रकार की (चाहे शिक्षित अथवा अशिक्षित) बेरोजगारी नहीं रहेगी। कोई भोजन बिना नहीं रहेगा।

केन्द्रित नियोजन के अभाव में आर्थिक संसाधनों का अपव्यय बहुधा होता रहेगा। अनियोजित अर्थव्यवस्था में तीन प्रकार के अपव्यय होते हैं। (१) व्यक्तिगत उत्पादक केवल लाभ से ही सम्बन्धित रहता है तथा इस बात की परवाह नहीं करता कि उसकी क्रियाओं से राष्ट्रीय संसाधनों का अपव्यय होता है अथवा नहीं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण अतीत में अंग्रेजों द्वारा कोयले का अन्धाधुन्ध प्रयोग है। (२) एक दूसरे प्रकार का भी अपव्यय होता है जब संसाधन इस कारण अप्रयुक्त रह जाते हैं क्योंकि उनके विषय में जानकारी नहीं थी। अनुचित विदेशी प्रतियोगिता उनके प्रयोग को असम्भव बना देती है, पूँजी तथा कुशल श्रम उपलब्ध नहीं होते क्योंकि भविष्य में पूर्ति की योजना किसी ने नहीं बनाई थी। इस दूसरे प्रकार के अपव्यय का सबसे अच्छा उदाहरण भारत है। अभी हाल ही में इस बात का अनुभव किया गया है कि हम लोग अपने रसायन, मशीन, यंत्र, इन्जिनियरिंग तथा अन्य उद्योगों का लाभप्रद ढंग से विकास कर सकते हैं। (३) अन्त में, एक अनियोजित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत स्वास्थ्य, सुख एवं शारीरिक कार्य करने वाले श्रमिकों के कल्याण पर ध्यान नहीं दिया जाता। सामाजिक बीमा तथा कल्याण की परियोजनायें अपर्याप्त होती हैं तथा सामाजिक सेवायें तो केवल मालिकों पर भार स्वरूप ही होती हैं। धीरे-धीरे श्रमिक अपने को

उपेक्षित समझने लगते हैं। आर्थिक नियोजन इन सभी अपव्ययों को दूर करने में समर्थ होता हैं।

कुछ आवश्यक बातें. कुछ लोग आर्थिक नियोजन, समाजवाद तथा साम्यवाद को या तो पर्यायवाची समझते हैं अथवा इन्हें एक दूसरे से निकट रूप से मिला हुआ समझते हैं। हर एक प्रकार के राजनीतिक संगठन में आर्थिक नियोजन हो सकता है। वास्तव में नियोजन हो अथवा न हो, इसमें चुनाव की समस्या नहीं है। केवल हम इतना ही कर सकते हैं कि अन्य योजनाओं की अपेक्षा किसी एक योजना को चुनें क्योंकि प्रत्येक अर्थव्यवस्था में, चाहे वह कितनी ही दोषपूर्ण क्यों न हो, कुछ योजना अवश्य ही होती है। गत वर्षों में आर्थिक नियोजन के प्रयोग संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, इटली, जर्मनी, रूस तथा स्वेडन में किए गए हैं। इन तीन श्रेणियों के देशों का राजनीतिक दर्शन भिन्न है; अतीत के कुछ वर्षों में सभी ने आर्थिक नियोजन किया है; अन्तर केवल इतना ही है कि योजना के उद्देश्य, विधि तथा उपलब्धि भिन्न हैं। परन्तु सभी में एक न एक प्रकार का पूर्व-विमर्शित केन्द्रित प्रयास निहित है जो आर्थिक नियोजन की प्रमुख विशेषता होती है। यहाँ इस बात को बतलाया जा सकता है कि अतीत में योजनाओं का स्वरूप अधिकांशतः राष्ट्रीय था, परन्तु इधर कुछ वर्षों से आर्थिक नियोजन को अन्तर्राष्ट्रीय बनाने का प्रयास किया जा रहा है।

कोई एक ऐसी योजना नहीं है जिसे सभी देश आवश्यक रूप में स्वीकार करें। प्रत्येक देश को और इसी प्रकार भारत को भी, आर्थिक नियोजन की परि-योजना तैयार करते समय प्रवर्तमान स्थितियों को ध्यान में रखना होता है। यह निःस्सन्देह भारत के लिए हानिकर होगा यदि हम रूस अथवा अन्य किसी देश के आर्थिक नियोजन की परियोजनाओं की आँख मूँद कर नकल करते हैं। हमें अपनी स्वयं आर्थिक नियोजन की प्रणाली बनानी चाहिए।

आंशिक नियोजन अत्यन्त व्यर्थ होता है। नियोजन को सफल होने के लिए यह आवश्यक है कि यह सम्पूर्ण तथा सर्वव्यापी हो। आंशिक योजना में दो प्रकार का खतरा होता है। हम अपने अल्प प्रयास से ही आत्म-सन्तुष्ट हो सकते हैं जिससे हमसे समस्या की वास्तविक गम्भीरता छिप सकती है; सपूर्ण अर्थव्यवस्था घनिष्ठ रूप में एक दूसरे से सम्बन्धित रहती है, तथा एक क्षेत्र में हस्तक्षेप करने से दूसरी जगह नवीन कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं जिससे अन्याय तथा सभ्रम उत्पन्न हो सकता है। ऐसा कभी सम्भव नहीं हो सकता कि प्रारम्भ से हीनि योजन की एक सम्पूर्ण परियोजना रखी जाय, परन्तु नियोजन चाहे किसी भी प्रकार का हो, इसे सभी बातों को ध्यान में रखना चाहिये। केवल उसी समय यह आशा की जा सकती है कि आर्थिक नियोजन अच्छे परिणाम उत्पन्न करेगा।

आर्थिक नियोजन आवश्यक रूप में आय की असमानता तथा निजी सम्पत्ति के साथ असंगत नहीं है। मनुष्य के गुण तथा विशेषताएँ भिन्न रहती हैं जो केवल प्रवर्तमान सामाजिक संस्थाओं के कारण नहीं होतीं और इसलिए विभिन्न व्यक्तियों को अलग-अलग आय प्राप्त होना आवश्यक है। फिर भी, नियोजित अर्थव्यवस्था में अवसर की समानता होगी, तथा सम्पत्ति एवं निर्धनता की चरम स्थितियाँ नहीं रहेंगी।

आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए कुछ आवश्यक बातों का होना जरूरी है। (१) उपलब्ध कच्चे पदार्थों, शक्ति के श्रोतों, तथा बाजार की मांग के विषय में विश्वसनीय आंकड़े प्राप्त होने चाहिए। भारत में दो योजनाओं के पूर्ण हो जाने के बाद भी प्रवर्तमान खनिज एवं शक्ति के श्रोतों, कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन, तथा विभिन्न वस्तुओं की बाजार मांग के विषय में हमारा ज्ञान अपूर्ण एवं असन्तोषजनक है। आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए विस्त्रित तथा सही सांख्यकीय सूचना अत्यन्त आवश्यक है। (२) इसके अतिरिक्त आर्थिक नियोजन में आवश्यकताओं का कुछ प्रमापीकरण भी निहित है जो बड़ी मात्रा में उत्पादन तथा योजना की सम्भावनाओं का मूल है। यह उसी समय किया जा सकता है जब बाजार मांग के बारे में विस्तृत सूचना उपलब्ध हो। इस सूचना के अभाव में, किसी उचित नीति के निर्धारण करने में योजना प्राधिकारी को कठिनाई होती है। केन्द्रित नियोजन में इससे बढ़कर हानिकर वस्तु कोई नहीं हो सकती कि प्राप्त होने योग्य किसी निश्चित उद्देश्य के बिना ही अस्पष्ट सामान्यीकरण किए जाँय। (३) अन्त में, यह बहुत आवश्यक है कि जो योजना को संचालित करने के उत्तरदायी हैं तथा जिनका हित महत्वपूर्ण ढंग से योजना द्वारा प्रभावित होता रहता है, उनका विश्वास योजना की उपादेयता में अवश्य होना चाहिए। संयुक्त राज्य अमेरिका में, राष्ट्रपति रूजवेल्ट के केन्द्रीय योजना सम्बन्धी प्रयास में गम्भीर रुकावटें आईं क्योंकि व्यवसायिक व्यक्तियों ने उसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया।

आलोचना. आर्थिक नियोजन की अनेक आलोचनायें की गईं हैं। कुछ विद्वानों का यह मत है कि ऐसे आर्थिक नियोजन में जहाँ मुक्त व्यापार का वहिष्कार कर दिया गया है, वहाँ केन्द्रीय प्राधिकारी के पास अपनी क्रियाओं को संचालित करने के लिए कोई कसौटी नहीं रहती। हम यह जानते हैं कि मुक्त बाजार के साथ प्रतियोगात्मक अर्थव्यवस्था में प्रत्येक वस्तु और सेवा की एक बाजार कीमत होती है जो 'मूल्य प्रक्रिया' द्वारा निर्धारित रहती है। प्रत्येक उत्पादक विभिन्न वस्तुओं की उत्पादन लागत को प्रवर्तमान कीमतों के साथ समायोजित करना चाहता है। यही एक कसौटी है जो उसे बाजार के लिए उत्पादन की जाने वाली विशेष वस्तुओं की मात्रा

तथा उनकी लागत को बतलाती है। जब सभी उत्पादक ऐसा करने लगते हैं तब राष्ट्रीय संसाधनों का अनुकूलतम ढंग से प्रयोग प्रवर्तमान बाजार मांग पर होने लगता है। 'बाजार प्रक्रिया' की अनुपस्थिति में 'लागत-कीमत' की कसौटी हमें उपलब्ध नहीं होती इसलिए कुछ वस्तुओं के अधिक तथा कुछ वस्तुओं के कम उत्पादन हो जाने की सम्भावना है। इससे आर्थिक संसाधनों का अपव्यय हो जाता है।

इस तर्क में त्रुटि यह है कि यह इस बात को मान लेता है कि 'बाजार-प्रक्रिया' एक निरपेक्ष आदर्श है। अन्य शब्दों में, यह इस बात को भुला देता है कि वास्तविक व्यवहार में, प्रतियोगात्मक अर्थव्यवस्था में 'मूल्य-प्रक्रिया' की क्रियाविधि दोषपूर्ण होती है। हमें नियोजित अर्थव्यवस्था की तुलना एक काल्पनिक आदर्श से नहीं करनी चाहिए वरन् उन दशाओं से करनी चाहिए जिनकी सम्भावना नियोजन के अभाव में है। यदि हम ऐसा करते हैं तब हम स्पष्टतया यह घोषित नहीं कर सकते कि नियोजित अर्थव्यवस्था अनियोजित प्रतियोगात्मक व्यवस्था की कार्यविधि से खराब होती है।

यद्यपि आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत केन्द्रीय प्राधिकारी को लागत एवं कीमत की कसौटी उपलब्ध नहीं रहती, फिर भी यहाँ दो अन्य प्रकार की कसौटियाँ होती हैं। (१) केन्द्रीय प्राधिकारी एक वांछित कुशलता तथा भौतिक सुविधाओं के स्तर पर जनसंख्या की निरपेक्ष आवश्यकताओं का परिकलन करेगी तथा उसी अनुपात में इन वस्तुओं का उत्पादन करेगी जिस अनुपात में इस प्रकार का परिकलन इंगित करता है। इसे स्वीकार किया जाता है कि इस प्रकार की आवश्यकताओं का अध्ययन अपूर्ण होता है, परन्तु कम से कम प्रारम्भ में इस प्रकार का स्थल ही पर्याप्त होगा और ज्यों-ज्यों अधिक अनुभव प्राप्त होता जायेगा त्यों-त्यों सही अनुमान भी सम्भव होते जायेंगे। परन्तु इस प्रकार के परिकलन में निस्सन्देह ही स्वच्छन्दता का अंश विद्यमान है, यद्यपि इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो इस बात को सिद्ध कर दे कि इस प्रकार की स्वच्छन्दता हमें कम सुखी या कम समृद्धिशाली बनायेगी क्योंकि अनियोजित अर्थव्यवस्था में भी उत्पादकों एवं विक्रेताओं के निर्णय कुछ सीमा तक स्वच्छन्द रहते हैं। (२) उपलब्ध राष्ट्रीय संसाधनों का एक विस्तृत तथा व्यापक सर्वेक्षण किया जाय। यह विभिन्न वस्तुओं की अन्तिम प्रदा को इंगित कर देगा जो अर्थव्यवस्था में सम्भव हो सकती हैं।

इन दो प्रयोगों के सम्मिश्रण से कार्यात्मक गुण प्राप्त हो सकता है। यदि किसी विशेष दिशा में संसाधन हमारी आवश्यकताओं से अधिक हैं तब केन्द्रीय प्राधिकारी अतिरेक का हस्तान्तरण वैकल्पिक प्रयोगों में कर सकती है; यदि सभी समायोजनों के बाद भी आवश्यकतायें संसाधनों से अधिक हैं तब केन्द्रीय प्राधिकारी कम से कम

कुछ अथवा सभी व्यक्तियों के जीवन स्तर में कमी उसी सीमा तक ला सकती है जिस सीमा तक उपलब्ध संसाधन इंगित करते हैं। इस प्रकार की क्रियायें राजनीतिक दबाव पर आधारित रहती हैं।

राष्ट्रीय लाभांश में से निजी व्यक्तियों के अंश का वितरण केन्द्रीय प्राधिकारी द्वारा निर्धारित विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों की आवश्यकताओं के आधार पर किया जा सकता है। यह कार्य कठिन है पर असम्भव नहीं तथा यह प्रणाली अनियोजित अर्थ-व्यवस्था की प्रणाली से अधिक न्यायोचित है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्य-कता के लिए पर्याप्त मिल जायेगा।

पूर्ण रूप से केन्द्रित आर्थिक नियोजन के विरुद्ध एक तथ्यपूर्ण आलोचना यह की जाती है कि इसमें उत्पादकों की प्रेरणा तथा साहस में काफी शिथिलता आ जाती है (यदि अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र रहता है), और यदि सार्वजनिक क्षेत्र होता है तब केन्द्रीय प्राधिकारी के प्रशासक एवं मातहत कर्मचारियों में काफी हद तक सुस्ती आ जाती है। ये लोग बहुधा अपने सर्वोत्तम प्रयास को नहीं लगाते, परिणामतः राष्ट्रीय हित को क्षति पहुँचती है। अनियोजित अर्थव्यवस्था में लाभ भावना प्रेरक शक्ति का कार्य करती है। एक व्यक्ति अपना सर्वोत्तम प्रयास इसलिए करता है क्योंकि अपने कार्य की उपेक्षा करने से उसकी आय घट जाती है। यह प्रेरणा उत्पादकों को अधिक सक्रिय एवं कुशल बनाती है। केन्द्रित आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत लाभ भावना कार्य करना समाप्त कर देती है क्योंकि इसमें कल्याण सम्बन्धी विचार अधिक महत्व-पूर्ण होते हैं तथा उत्पादक प्रयास के अनुपात में लोगों को पारिश्रमिक नहीं दिया जाता।

अतः नियोजित अर्थव्यवस्था में यह आवश्यक है कि यदि आलस्य एवं अकर्मण्यता की हानियों को रोकना है तो लाभ भावना के स्थान पर कोई समान शक्तिशाली विकल्प होना चाहिए। निम्नलिखित तीन में से एक अथवा अधिक केन्द्रित नियोजन के अन्तर्गत लाभ भावना को हटा सकते हैं: (१) कर्त्तव्य के प्रति:निष्ठा; (२) हिंसा का भय; तथा (३) किसी राजनीतिक सिद्धान्त से लगाव। बहुत ही अच्छा होता यदि श्रमिक में कर्त्तव्य-भावना प्रोत्साहित हो जाती, परन्तु इसकी प्राप्ति सदैव सरल नहीं होती, अतः अस्थायी रूप से भी इसे प्राप्त करना कठिन रहता है। तीसरा—किसी राजनैतिक सिद्धान्त से लगाव—ऐच्छिक तथा अधिक स्थायी हो सकता है परन्तु इसमें सबसे बड़ा खतरा यह है कि राजनीतिक हस्तक्षेप के द्वारा आर्थिक सिद्धान्त ही परिवर्तित हो जाय जैसे जर्मनी और इटली में फासिस्ट आर्थिक नियोजन में हुआ था तथा आधुनिक युग में सोवियत संघ, चीन तथा इनके अनुयायी अन्य देशों के समाजवादी आर्थिक नियोजन में हो रहा है। इन विकल्पों की सबसे अधिक बुराई है हिंसा का भय जिसका सृजन लोगों में हो सकता है। यदि लोग अपने कर्त्तव्य का पालन करने में

असमर्थ होते हैं तब उन्हें कठिन दण्ड दिया जा सकता है। हम लोगों का यह अनुभव रहा है कि भय तथा इससे उत्पन्न चिन्ता श्रमिकों के सर्वोत्तम गुणों का नाश कर देती है; सुरक्षा के अभाव में श्रमिक अपने सर्वोत्तम प्रयास कभी भी नहीं कर सकते; तथा इसके अतिरिक्त भय पूर्णरूपेण अनैतिक प्रभाव उत्पन्न करता है।

यह स्वीकार करना ही होगा कि इस अपूर्ण विश्व में लाभ प्रेरणा का कोई समुचित प्रतिस्थापन उपलब्ध नहीं है। कुछ देशों में जहाँ समाजवाद की पृष्ठभूमि में केन्द्रीय नियोजन प्रारम्भ किया गया है वहाँ अब यह प्रयास किया जा रहा है कि (१) कुछ सीमा तक सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो; तथा (२) कार्य के लिए भुगतान को अंशतः श्रमिक द्वारा किए गए योगदान से सम्बद्ध कर दिया जाय। ऐसा श्रमिकों की रुचि में कमी तथा सर्वोत्तम प्रयास न करने की प्रवृत्ति को रोकने के लिए किया जाता है।

अन्त में, केन्द्रित नियोजन सभी के लिए बाहुल्य का सृजन करने, सामाजिक आर्थिक कल्याण सर्वाधिक करने, तथा प्रत्येक व्यक्ति को अधिकतम आय प्राप्त कराने का आश्वासन देता है। परन्तु इसमें खतरा यह है कि यदि उत्तरदायी व्यक्ति बहक कर मूर्ख तथा जिद्दी हो जाते हैं, जैसा कि दुर्भाग्यवश हमेशा होता है, तब उनके द्वारा की गई त्रुटियाँ संचयी हो जाती हैं और वास्तविक परिणाम उसके बिलकुल भिन्न हो जाता है जिसकी आशा केन्द्रित नियोजन से की जाती है। धनी भूमिपति अथवा उद्योगपति वर्ग—जैसा कि अनियोजित पूँजीवाद के अन्तर्गत होता है—के स्थान पर केन्द्रित आर्थिक नियोजन के अन्तर्गत धनी राजनीतिज्ञों, प्राविधिकों इत्यादि के वर्ग उत्पन्न हो सकते हैं; तथा साधारण मनुष्य जिसके लिए यह सब कार्य करने का उपक्रम किया जाता है वह उसी शोचनीय आर्थिक स्थिति में पड़ा रहे जिसमें कि वह आर्थिक नियोजन के पूर्व था। जिस सीमा तक ऐसा होता है, उस सीमा तक केन्द्रित आर्थिक नियोजन वितरण की समस्या का समाधान नहीं कर सकती तथा इस बात को सुनिश्चित नहीं कर सकती कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार आय प्राप्त हो, तथा सबको समान अवसर मिले।

यहाँ पर इस बात की चर्चा कर देनी चाहिए कि वास्तव में दोष केन्द्रित आर्थिक नियोजन का नहीं है वरन् लोगों का है जो कार्य संचालन के उत्तरदायी हैं। अतः हम इस सुखमय निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि केन्द्रित आर्थिक नियोजन लोगों का भला कर सकती है यदि उत्तरदायी व्यक्ति चरित्रवान तथा दूरदर्शी हों और उनकी कर्त्तव्य के प्रति स्वार्थहीन निष्ठा हो तथा वे सच्चे राष्ट्रीय हित में कार्य करने में समर्थ हो पाते हैं।